॥ श्री हरि ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

• दशम व एकादश पुष्प •

सात्विक प्रमेय व साधन अवान्तर प्रकरण

श्रीमद्भागवत दशम [redacted] स्कंध अध्याय ६४-७७

श्रीमद्वल्लभाचार्य (महाप्रभु)

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०) जोधपुर (राज०)

॥ श्री सुबोधिनी ॥

॥ श्री वृन्दावनेश्वर ॥

वृन्दावनेश्वर मुकुन्द मनोज्ञवेष, वंशीविभूषित कराम्बुज पद्मनेत्र ।
विश्वेश केशव व्रजोत्सव भक्तिवश्य, देवेश पाण्डवपते मम देहि दास्यम् ॥

श्री **मद्वल्लभाचार्य**

प्रकाशक—श्री **सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल, जोधपुर ।**

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

दशम पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

श्रीमद्भागवतानुसार उत्तरार्ध अध्याय—६४ से ७०

श्री सुबोधिन्यानुसार अध्याय—६१ से ६७

उत्तरार्ध अध्याय—१५ से २१

सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण अध्याय—१ से ७

माया।वादि करीन्द्रदर्प दलने नास्येन्दु राजोद्गत, श्रीमद्भागवताख्य दुर्लभ सुधावर्षेण वेदोक्तिभिः।
राधावल्लभसेवया तदुचितप्रेम्णोपदेशैरपि. श्रीमद्वल्लभ नामधेय सदृशोभावी न भूतोऽस्त्यपि ।।

'श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण'

सहायक ग्रन्थ—

टिप्पणी— **श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण**
लेख— **गो० श्री वल्लभजी महाराज**
प्रकाश— **गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज**
योजना— **प० भ० श्री लालूभट्टजी**
कारिकार्थ— **प० भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट**

अनुवादक—

गो. वा. प. भ. पं० श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्याभूषण
जोधपुर (राजस्थान)

प्रथम आवृत्ति—१०००
जन्माष्टमी महोत्सव
भाद्रपद कृष्णा ८, वि.सं. २०३०
दिनाङ्क २१ अगस्त, १९७३

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक
श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल
मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,
जोधपुर (राजस्थान)

न्यौछावर
सादर भेंट
संस्था
सदस्यों
को

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल

जोधपुर (राजस्थान)

उद्देश्य : के

जगद् गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा प्रतिपादित शुद्धादैत दर्शन एवं पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों एवं अन्य ग्रन्थों का का राष्ट्र भाषा एवं अन्य भाषाओं में अनुवाद कराकर जन साधारण निमित्त प्रकाशन कराना।

सदस्यता :

विशिष्ट आजीवन सदस्य—रु. १०००)०० व इससे अधिक चल व अचल सम्पत्ति भेंट करके बन सकते हैं।

आजीवन सदस्य—रु. १५०)०० से ९९९)०० तक की चल व अचल सम्पत्ति भेंट करके बन सकते हैं।

संस्था के प्रकाशन :

श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध तथा उसकी श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित संस्कृत टीका सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद सहित सदस्यों को भेंट।

सम्पूर्ण दशम स्कन्ध के ९० अध्यायों की सुबोधिनी का हिन्दी अनुवाद तैयार है, जिसमें से प्रथम ७० अध्यायों का राष्ट्र भाषा हिन्दी में सरल सुबोध अनुवाद दस पुष्पों में छप गया है, जिसमें से दसवाँ पुष्प प्रस्तुत ग्रन्थ है, आगे का खण्ड भी छप रहा है, जो संलग्न है। सब ही पुष्प सचित्र एवं अष्ट छाप के पटों से सुशोभित एवं मन मोहक हैं।

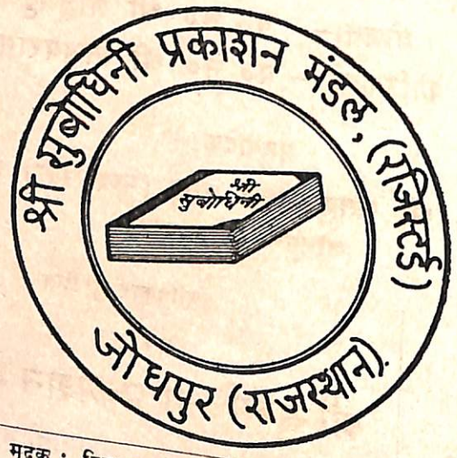

मुद्रक : हिमालय प्रिंटर्स, खाण्डाफलसा—जोधपुर

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला का नवम् पुष्प

सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण

* सामग्री *

दो शब्द	··· गो० श्री वृजभूषणलालजी महाराज–संस्थाध्यक्ष	१
विनम्र निवेदन	··· श्री नन्ददास (रामचन्द्र वर्मा)–प्रधान मन्त्री	२
श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका में से सौरभ पूर्ण चुनी हुई कुछ कलियाँ—सुबोध-रत्नाकर		४
श्री भागवतार्थ प्रकरण में से सात्विक प्रमेय उप-प्रकरण	··· अनुवादक–गो.वा. श्री फतहचन्दजी शास्त्री	५
श्री सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण की भूमिका	···लेखक ,, ,,	१५

श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय	श्रीमद्भागवतानुसार अध्याय	शीर्षक	पृष्ठ
६१	६४	नृग राजा की कथा	१
६२	६५	श्री बलरामजी का व्रज-गमन	४१
६३	६६	पौण्ड्रक और काशीराज का उद्धार	७१
६४	६७	द्विविद का उद्धार	१०७
६५	६८	कौरवों पर बलरामजी का कोप और साम्ब-विवाह	१२९
६६	६९	देवर्षि नारदजी का भगवान् की गृहचर्या देखना	१७५
६७	७०	भगवान् श्रीकृष्ण की नित्यचर्या और जरासन्ध के कैदी राजाओं के दूत का आना	२१४
		··· ···	२६१
अनुक्रमणिका ···		··· ···	२६५
शुद्धि पत्र ···			

चित्र सूची

१– श्री वृन्दावनेश्वर ···	··· ···	मुख पृष्ठ १
२– श्रीमद्वल्लभाचार्य ···	··· ···	१२५
३– द्विविद उद्धार ···	··· ···	१९८
४– भगवान् का ऐश्वर्य ···	··· ···	
भगवान्-रुक्मिणी द्वार सेवित	भगवान् चौपड़ पासा खेलते हुए	
भगवान् होम करते हुए	भगवान् भोजन करते हुए	

मुख्य संरक्षक

तिलकायत गोस्वामी श्री गोविन्दलालजी महाराज, नाथद्वारा (राज०)
गोस्वामी श्री व्रजरत्नलालजी महाराज, सूरत (गुज०)
" " दीक्षितजी महाराज, बम्बई (महाराष्ट्र)
" " पुरुषोत्तमलालजी महाराज, कोटा (राज०)
" " गोविन्दरायजी महाराज, पोरबन्दर (गुज०)
" " रणछोड़ाचार्यजी महाराज, जतीपुरा (उ०प्र०)
" " व्रजरायजी महाराज, राजनगर (अहमदाबाद–गुज०)
" " घनश्यामलालजी महाराज, कामवन (कामा–राज०)
" " व्रजभूषणलालजी महाराज,
चौपासनी–जोधपुर (राज०), जामनगर (गुज०)

विशिष्ट आजीवन सदस्यों की ओर से सादर भगवत्स्मरण

परम भगवदीय गो. वा. श्री नन्दलालजी मानधना	जोधपुर	रु. ५०००)००
परम भगवदीया गो. वा. श्रीमती सौभाग्यवतीजी मानधना	जोधपुर	रु. ५०००)००
श्री हरिलाल हरिवल्लभदास धर्मादा ट्रस्ट	अहमदाबाद	रु. ५०००)००
परम भगवदीय गो.वा. श्री जमुनादासजी मून्धड़ा द्वारा उनके सुपुत्र श्री जीवनदासजी प्रभृति	बीकानेर	रु. ३५००)००
परम भगवदीय श्री गिरधरदासजी मून्धड़ा तथा उनके सुपुत्र गोविन्ददासजी प्रभृति	बीकानेर	रु. ३५००)००
श्री बाला भाई दामोदरदास ट्रस्ट द्वारा प. भ. सेठ श्री साकरलाल बाला भाई	अहमदाबाद	रु. १५००)००
प. भ. श्री भगवानदासजी अग्रवाल	कलकत्ता	रु. १००१)००
प. भ. गो. वा. श्री ईश्वरलालजी चिमनलालजी	बड़ौदा	रु. १००१)००
प. भ. श्री वल्लभदासजी राठी	अमरावती	रु. १००१)००
प. भ. श्री व्रजमोहनदासजी विजय	शुजालपुर मण्डी	रु. १००१)००
प. भ. श्रीमती बेला बहन चत्रभुजदासजी	बम्बई	रु. १००१)००
प. भ. श्रीमती काशी बाई	बम्बई	रु. १००१)००
प. भ. श्रीमती रम्भाबाई विठ्ठलदासजी मोहता	बीकानेर	रु. १००१)००
प. भ. श्रीमती रामीबाई अग्रवाल	लश्कर[ग्वालियर]	रु. १००१)००
प. भ. श्री रामनारायणजी द्वारा उनके सुपुत्र श्री नन्ददासजी (रामचन्द्रजी) एवं उङ्कारलालजी वर्मा प्रभृति	जोधपुर	रु. १००१)००
प. भ. श्री दादूभाई अमीन	बड़ौदा	रु. १००१)००
प. भ. श्रीमती गङ्गाबेन मजीठिया	बम्बई	रु. १००१)००
श्री सीराज चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा प.भ. श्री गुलाबचन्दजी सीराज	बम्बई	रु. १००१)००
प. भ. श्री प्रेमाबाई किसनचन्दजी भाटिया	कानपुर	रु. १००१)००
प. भ. श्री विठ्ठलदासजी रुक्मणी बहन	बम्बई	रु. १००१)००
प. भ. श्री व्रजदासजी विजया बहन	इचलकरंजी	रु. १००१)००
गो. वा. श्री हरगोविन्ददासजी अगरचन्दजी भगत वसाई डाबला वालों की स्मृति में द्वारा उनके सुपुत्र एवं श्रीमती चुन्नी बहन हं० अ० चेरिटेबल ट्रस्ट	बम्बई	रु. १००१)००
प. भ. श्री हरिदासजी देवीदासजी माधोजी	बम्बई	रु. १००१)००

॥ श्री हरि. ॥

दो शब्द

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला के इस दशम पुष्प में श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध के ६४ से ७० अध्यायों की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी टीका का सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण हिन्दी अनुवाद सहित है।

तामस व राजस प्रकरणों में चार-२ अवान्तर प्रकरण थे, परन्तु इस सात्विक प्रकरण में 'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण क्यों नहीं है? पाठक के हृदय में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है। सात्विक भक्तों को भगवान् के स्वरूप व शक्ति का सहज ज्ञान होता है, अतः उनको प्रमाणों द्वारा इनके बताने की आवश्यकता नहीं होती है, इसीलिए इस प्रकरण में प्रमाण उप-प्रकरण न होकर प्रमेय, साधन और फल सात-२ अध्यायों के कुल २१ अध्याय हैं। इस प्रमेय उप-प्रकरण की कथाओं से स्पष्ट है कि सात्विक भक्तों को भगवान् का प्रेम व आसक्ति सिद्ध हो चुकी थी तथापि रजोगुण के संस्कार से उनका मन कभी-२ विक्षिप्त हो जाया करता था, उस दोष को मिटाकर भगवान् ने विविध लीलाओं द्वारा उनको व्यसनावस्था तक पहुँचाया। राजा नृग भगवान् का भक्त था, परन्तु उसकी रुचि दान देने में अधिक थी, इसलिए उससे गौ-दान में ही अपराध पड़ा, जिससे ब्राह्मण के शाप से उसको कृकलास (गिरगट) की योनि मिली, जो सतयुग से द्वापर के अन्त तक उसने भोगी। भगवान् के दर्शन प्राप्त करने में राजा नृग का कोई साधन नहीं था, परन्तु फिर भी भगवान् ने अपने प्रमेय बल से उस पर कृपा की। यह उप-प्रकरण 'सात्विक-प्रमेय' इसलिए है कि इसमें भगवान् ने अपने प्रमेय बल से जिन सात्विक भक्तों का उद्धार किया है, उनका इसमें वर्णन है।

एक गौ-दान का महान् फल शास्त्र बताते हैं। राजा नृग ने तो अगणित गौओं का दान किया, जिससे उसका व्यसन ही गौ-दान का हो गया था, परन्तु तो भी उसका फल उसको कृकलास (गिरगट) की योनि प्राप्त हुई। श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण इस सम्बन्ध में आज्ञा करते हैं कि राजा नृग को इस प्रकार के दान करने की न भगवान् की आज्ञा थी और न उनकी इच्छा ही थी तथापि राजा नृग का इस कार्य में आग्रह के साथ-२ विचार का अभाव था, इसलिए उसे इतना दुःख भोगना पड़ा। इस वृत्तान्त से यह शिक्षा मिलती है कि जिनका भगवान् के सिवाय आग्रह धर्म, कर्म में होता है, उनको अन्त में दुःखी होना पड़ता है, इसलिए जो अपना आत्म-कल्याण चाहें, उनको भगवान् में दृढ़ निष्ठा रख कर उनका ही व्यसनी बनना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण तो परम दयालु हैं कि भक्तों के दोषों को मिटाकर अपने प्रमेय बल से उनका उद्धार ही करते हैं। अन्य साधारण जीव की तो चर्चा ही क्या है! जब देव ऋषि नारद मुनि जैसे भगवान् के भक्त को प्रभु की लीला में सन्देह हो गया कि भगवान् एक हैं, इतनी रानियों का समाधान किस प्रकार करते होंगे? तब दयार्णव प्रभु ने प्रत्येक रानी के साथ विविध कार्य-कलापों सहित नारदजी को दर्शन देकर उनका भ्रम निवारण किया। इसी प्रकार जो भी व्यक्ति प्रभु का किसी रूप में भी अन्य प्रपञ्चों को त्याग कर भजन करता है, प्रभु उसके सन्निकट ही हैं। आशा है इस महान् तत्व को पाठक ग्रहण कर लाभान्वित होंगे। सुज्ञेषु किं बहुना!

गो० व्रजभूषणलाल

रथ यात्रा वि०सं० २०२३
सोमवार—आषाढ़ शुक्ला २

॥ श्री हरिः ॥

विनम्र निवेदन

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला के प्रस्तुत दसवें पुष्प सहित दशम स्कन्ध की १० पुस्तकें सदस्य महानुभावों को भेंट रूप में प्राप्त होगी। प्रकाशन कार्य के प्रारम्भ के समय हमारा अनुमान था कि सदस्य महानुभावों से प्राप्त सदस्यता शुल्क रु. १२५)०० में हम सम्पूर्ण दशम स्कन्ध भेंट कर सकेंगे, परन्तु गत १२ वर्षों में प्रकाशन-सामग्री के बढ़ते हुए मूल्य ने हमारे अनुमान को नष्ट कर दिया और आगे के ३ पुष्पों के प्रकाशन हेतु हमें कम से कम रु. २५)०० प्रति सदस्य से सहायता माँगने पर विवश होना पड़ा। अब लगभग ४०० पृष्ठ के एक पुष्प के प्रकाशन पर रु. ११)०० का मूल्य हमें देना पड़ता है, वही हम सदस्यों से लेते हैं तथापि बाजार में इस प्रकार की सचित्र सजिल्द बढ़िया कागज व छपाई की पुस्तक इस मूल्य में नहीं मिल सकती है, सो कोई भी महानुभाव इसकी जाँच कर सकते हैं। कारण स्पष्ट है कि हम एक पैसे का भी लाभ नहीं लेते हैं, यहाँ तक कि हमारे कार्यालय का खर्च एवं रेल पार्सल खर्च तक हमारे सम्पादक महोदय पुस्तक के लागत मूल्य में नहीं जोड़ने देते हैं। इसके अतिरिक्त कार्यालय का किराया जो रु. ५०)०० मासिक से कम नहीं है, गत १२ वर्षों से नहीं दिया जा रहा है, आपका यह दास जो स्थान-२ पर जाकर सदस्य बनाता है, प्रकाशन व कार्यालय का कार्य करता है, वह एक अवैतनिक सेवक है। कार्यालय के दो कार्यकर्त्ताओं को नाम मात्र वेतन केवल रु. २५०)०० मासिक देते हैं। अतः हम विश्वास दिलाते हैं कि इस अनमोल विषय सामग्री की पुस्तक इस मूल्य में सदस्य कहीं भी इस समय में प्राप्त नहीं कर सकते हैं। तथापि यदि सदस्यों से समय पर हमें सहायता न मिली तो हमें विवश होकर प्रकाशन का अन्य प्रबन्ध करना पड़ेगा और उस अवस्था में सदस्यों को आगे के पुष्पों का अधिक मूल्य देकर ही अपना गुच्छ (सेट) पूरा करना पड़ेगा। निस्सन्देह तीन पुष्पों का प्रकाशन व्यय हमको रुपये २५)०० से कहीं अधिक होगा आज रु. ३३)०० से कम नहीं और इसलिए उनका मूल्य कदाचित् रु. ४५)०० तक भी देना पड़े; क्योंकि इस कार्य में जितनी देरी अधिक होगी, उतना ही मूल्य अधिक होगा कारण कि महँगाई की सीमा दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। अतः सदस्य महानुभावों से निवेदन है कि वे शीघ्रातिशीघ्र कम से कम रु. २५)०० और भेजकर इस कार्य-पूर्ति में हमें सहयोग देवें।

कुछ सदस्य महानुभावों से श्री सुबोधिनीजी के अध्ययन के विषय में प्रश्न करने पर यह भी सूचना मिली कि ग्रन्थ का पठन कुछ समय तक चलता रहा पर फिर बन्द हो गया, उन सबसे मेरी सदैन्य प्रार्थना है कि चाहे लौकिक या अलौकिक कैसा भी कार्य क्यों न हो, उनमें सफलता प्राप्त तभी होती है, जब हमारा विश्वास, दृढ़ सङ्कल्प एवं धैर्य उस कार्य के करने में हो। हमें प्रभु का विश्वास रखना चाहिए कि हमारे कार्य को वे अवश्य पूर्ण करेंगे। हमको दृढ़तापूर्वक कार्य-सञ्चालन करना चाहिए; क्योंकि शुभ कार्यों में इस कठिन कराल काल में बहुत बाधाएँ उपस्थित होती हैं, परन्तु उनका हमको धैर्यपूर्वक सामना करना चाहिए, तभी कार्य सिद्धि होती है। लौकिक कार्यों में हमें सफलता मिल भी जाए तो वह हर्ष का विषय नहीं समझना चाहिए; क्योंकि उसका फल अधिक से अधिक इस देह धारण तक ही सीमित है, परन्तु उस (देह छूटने) के पश्चात जो फल स्थिर रहे, उसके लिए सत्प्रयास करना हमारा कर्त्तव्य है। वह फल भगवत्सेवा, स्मरण, कीर्तन, कथा, वार्ता, पठन-पाठन और उनमें दिए गए उपदेशों का यथाशक्य अनुसरण, उनको अपने दैनिक

जीवन में उतारने से प्राप्त होता है। यह निर्विवाद है, इस प्रकार के शुभ एवं पवित्र कार्यों में कुसंस्कारों के कारण चित्त नहीं लगता है, परन्तु हमें महत्पुरुषों के कथन को ध्यान में रखना चाहिए :-

करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।
ज्यों रसरी के आन जान ते सिल पर परत निशान॥

अर्थात् किसी वस्तु का अभ्यास नित्य प्रति करने से एक जड़बुद्धि भी चतुर बन जाता है। जैसे कुए में से रस्सी द्वारा जल निकालते समय वह (रस्सी) किनारे के पत्थरों को रगड़ मारते-२ उन पत्थरों को काट कर उन पर निशान बना देती है। इसी प्रकार दृढ़ सङ्कल्प होकर हमें कार्य में लग जाना चाहिए, देरी करने में हानि ही हानि है। रसिक शिरोमणि श्री गोपीजन वल्लभ वृन्दावन विहारी की रसपूर्ण लीलाओं का निरन्तर पठन कर आत्म कल्याण के मार्ग में अग्रसर होकर चलना ही श्रेयस्कर है।

गो० श्री हरिराय महाप्रभु शिक्षा-पत्र में आज्ञा करते हैं कि "तदीयजन को संग या काल में मिलवो अति कठिन है याते श्री महाप्रभुजी, श्रीमद् प्रभु चरण (गुसांईजी) प्रभृतिन के ग्रन्थन को अवलोकन एवं मनन करनो चहिए" आप श्री के जन्म वैफल्य ग्रन्थ का निम्न श्लोक मननीय है :-

नाश्रितो वल्लभाधीशो, न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधिराधिकानाथो, वृथा तज्जन्म भूतले॥

अर्थात् जिसने श्रीवल्लभाधीश का आश्रय ग्रहण नहीं किया, न सुबोधिनी का अध्ययन किया और न श्री राधिकानाथ की सेवा की, उसका जन्म लेना ही वृथा है। इस श्लोक की आज्ञानुसार सुबोधिनी का अध्ययन हो सके, इसीलिए इस महान् ग्रन्थ की निरोध लीला के हिन्दी अनुवाद प्रकाशन की सेवा ने हम लोगों को पवित्र किया है, अतः सदस्य महानुभावों से हमारी सदैन्य प्रार्थना है कि इस कथामृत का वे बार-बार पान करें और अन्यों को भी पान करावें तो वे स्वयं अनुभव करेंगे कि हर बार उनको नवीन अलौकिक अर्थ एवं अभिप्राय की स्फूर्ति होगी।

प०भ० पुरुषोत्तम भाई पटेल इस संस्था के उस समय सदस्य बने हैं जबकि प्रथम पुष्प का ही प्रकाशन हुआ था, इतना ही नहीं अपने परिचित व्यक्तियों को प्रेरणा द्वारा बम्बई तथा जहाँ भी आपने चाहे थोड़े समय के लिए ही निवास किया हो, यथा हैदराबाद, बड़ौदा आदि में सदस्य बनाने में सहयोग दिया है और देते ही जा रहे हैं तथा प्रकाशित ग्रन्थों को गम्भीरतापूर्वक मनन कर हमको यथा शक्य मार्ग-दर्शन देने में रुचि रखते हैं, जिसके लिए संस्था आपका आभार स्वीकार करते हुए आपको धन्यवाद देती है।

भगवद्-वदनावतार वाक्पति वैश्वानर श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण एवं प्रभुचरण (गुसांईजी) एवं अन्य महानुभाव जिन्होंने जन-कल्याणार्थ इन ग्रन्थों की रचना की है, सदैन्य प्रार्थना करता हूँ कि हम पाठकों के हृदय कमल में वे विराज कर अपनी इस गम्भीर सरस रहस्यपूर्ण वाणी को समझाने की कृपा करें, जिससे यह ग्रन्थ प्रकाशन कार्य सफल हो।

तदीयजन चरणरजाकांक्षी
नन्ददास (रामचन्द्र)

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी पुष्प वाटिका में से चुनी हुई कुछ सौरभपूर्ण कलियाँ

सात्विक "प्रमेय" प्रकरण

विधिरत्र प्रमेये न नियामक इति न भगवतो विहितं निषिद्धं वा किञ्चिदस्ति ॥१०-६१-७॥

यहाँ प्रमेय (भगवान्) में विधि, नियामक (नियम में रखने वाली) नहीं होती है, जिससे भगवान् जो करते हैं, उसमें विधि आदि निषेध नहीं कर सकती है।

प्रमेय बले वेदापेक्षया भगवदाज्ञा कर्तव्या। ॥१०-६१-२२॥

प्रमेय बल होने से वेद की अपेक्षा भगवान् की आज्ञा पालनी चाहिए।

मदीयानां ही मत्कृतं कर्तव्यम् किं लोकेन वेदेन वा ॥१०-६१-४२॥

मेरे सेवकों को मेरा किया हुआ करना चाहिए, लोक और वेद से (उनको) क्या (प्रयोजन) है?

मदीया उर्ध्वंगतिमेव यास्यन्ति ॥१०-६१-४३॥

मेरे सेवक उर्ध्व (उच्च) गति ही पावेंगे।

लौकिकैरपि वाक्यैर्यः कामादौ प्रविशेत्पुमान्। तं कृष्णं मोचयेत्सत्यं सर्वथा ॥१०-६३-१॥

लौकिक वाक्यों से भी जो पुरुष (भगवान् में), काम आदि में प्रवेश करते हैं, उनको श्रीकृष्ण सर्वथा मोक्ष देते हैं, (ये) सत्य (है)।

नीतिमार्गानुसारिणी साधनशक्तिः, पुष्टिमार्गानुसारिणी फलशक्तिरिति सिद्धान्तः।१०-६५-१४।

साधन शक्ति (बलभद्र) नीति मार्ग का अनुसरण करने वाली है, (और) फल शक्ति (श्रीकृष्ण) पुष्टि मार्ग का अनुसरण करने वाली है, ऐसा सिद्धान्त है।

आत्मानमेव बहुमन्यमाना उन्मत्ता भवन्ति। ते सर्व दैव न माननीयाः ॥१०-६५-३६॥

अपने को बड़ा मानने वाले उन्मत्त होते हैं। उनको सदा मान देना योग्य नहीं है।

कालरूपश्च त्वमेव। अतस्तव स्त्वच्छरणागमनेनैव भयनिवृत्तिः, नान्यथा ॥१०-६७-२६॥

कालरूप भी आप (भगवान्) ही हैं, जिससे आपके शरण आने से ही भय निवृत्त होता है। दूसरे प्रकार से (निवृत्त होता) नहीं।

(श्री सुबोध रत्नाकर)

॥ श्री हरिः ॥

तत्वार्थ दीप निबन्ध का भागवतार्थ प्रकरण

"सात्विक प्रमेय उप-प्रकरण"

'राजस प्रकरण' सम्पूर्ण करने के अनन्तर 'सात्विक प्रकरण' सात-सात अध्यायों वाले तीन अवान्तर प्रकरणों से प्रारम्भ करते हैं, जिसमें ११३ कारिकाएँ (श्लोक) हैं।

श्लोक—**अतः परं सात्त्विकानां प्रक्रिया विनिरूप्यते।**
नृगमोक्षादियज्ञान्ता वसुदेवस्य धीमतः ॥३०५॥
प्रमाणानां बलं त्वत्र सात्त्विकानां न मृग्यते।
प्रक्रियात्रितयं त्वत्र प्रमेयादि निरूप्यते ॥३०६॥

श्लोकार्थ—राजस प्रकरण पूर्ण कर, यहाँ (नृग की मुक्ति) से लेकर बुद्धिमान् वसुदेवजी के यज्ञ होने तक सात्विक भक्तों का प्रकरण कहलाता है ॥३०५॥

सात्विकों को प्रमाण बल की आवश्यकता नहीं होती है, इसलिए ही (यहाँ) प्रमेयादि तीन अवान्तर प्रकरण कहे जाते हैं ॥३०६॥

व्याख्या—यह सात्विक प्रकरण २१ अध्यायों का है; क्योंकि इसमें प्रमेय, साधन और फल ये तीन सात-सात अध्याय के अवान्तर प्रकरण हैं। इस सात्विक प्रकरण में प्रमाण क्यों नहीं है? जिसके उत्तर में कहते हैं कि सात्विक जनों का स्वतः सहज ज्ञान होता है, जिससे उनको प्रमाण द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है, अतः प्रमाण बल ढूँढ़ा नहीं जाता है, वे तो सात्विक होने से जानते ही हैं कि वासुदेव एवं नन्दनन्दन यह श्रीकृष्ण ही भगवान् परब्रह्म है ॥३०५-३०६॥

श्लोक—**स्नेहस्तेषां पूर्वसिद्ध आसक्तिश्चापि वै दृढा।**
व्यसनेनाऽभवन् शुद्धा राजसाः किन्तु दोषतः ॥३०७॥
संस्कारमात्रात्पुष्ट्या च सम्पत्त्या चोद्धृताः।
अतो दोषनिवृत्तिर्हि सर्वेषामत्र वर्ण्यते ॥३०८॥

श्लोकार्थ—उनका भगवान् में स्नेह पहले ही सिद्ध हो चुका था, वैसे आसक्ति भी

दृढ़ हो गई थी। व्यसन से शुद्ध हुए, किन्तु केवल संस्कार मात्र से दोष रह गए थे तथा भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त सम्पत्ति के कारण गर्विष्ठ हो गए थे, अत इस प्रकरण में सबके रहे हुए दोष मिटाते हैं, यों यहाँ वर्णन किया जाता है ॥३०७-३०८॥

व्याख्या—यह कहना भले यों ही हो अर्थात् प्रमाण की आवश्यकता नहीं, किन्तु सात्विक प्रकरण में (भी) राजस-तामसों का विषय (चरित्र) फिर क्यों है? वे सङ्कीर्णता प्रतिपादक हैं। इस शङ्का को मिटाते हैं कि इनमें भगवान् के लिए स्नेह पहले ही सिद्ध हो चुका था तथा आसक्ति भी दृढ़ हो गई थी, केवल रजोगुण के संस्कार से उनके मन में विक्षेप मात्र कभी-२ होता था, यह ही दोष रहा हुआ था, उस दोष को मिटाने के लिए ही इस प्रसङ्ग में उनका निरूपण है न कि उस राजस एवं तामस रूप से उनका निरूपण है, अतः जब दोष निवृत्त हो गए, तब वे सात्विक हो गए, इसी तरह तामसों का भी, इसलिए राजस-तामसों के निरूपण से प्रसङ्ग में सङ्करता दोष नहीं है ॥३०७-३०८॥

श्लोक—**नृगः पूर्वतनो भक्तः सात्त्विको धार्मिकस्तथा।**
अतिदादेन दुखं स प्राप्य कृष्णेन मोचितः ॥३०९॥

श्लोकार्थ—नृग पहले से ही भक्त था तथा सतोगुणी एवं धर्मात्मा था। वह अतिदान से दुःखी हुआ, जिस दुःख से उसको श्रीकृष्ण ने छुड़ाया ॥३०९॥

व्याख्या—वैवस्वत मनु के पुत्र इक्ष्वाकु का पुत्र नृग पहले से भक्त था तथा सतोगुण वाला एवं धर्म में ही आसक्त मन वाला था, जिससे अति (अगणित मात्रा में) दान करने लगा, उस कारण से कृकलास की योनि को प्राप्त कर दुःखी होने लगा, श्रीकृष्ण ने प्रमेय बल से नृग को इस दुःख (कृकलास की योनि) से छुड़ाया, इस प्रकरण में दोष के निवारण का प्रमेय बल साधन था, इससे इसका नाम प्रमेय उप-प्रकरण है ॥३०९॥

श्लोक—**आगेच्छाऽभावतो दोषमभिमानात्तु केचन।**
अत्यन्तमाग्रहो धर्मे विचारादेर भावतः ॥३१०॥
दुःख भोगाय भवति कृष्णादन्यत्र सर्वथा।
भक्तियोगे तु भगवांस्तादृशमपि मोचयेत् ॥३११॥
तथा यथा न कुरुते तदर्थं तादृशं हरिः।
कृकलासं सर्वबध्यं सर्वक्षोभान्वकार ह ॥३१२॥

श्लोकार्थ—आज्ञा तथा इच्छा के अभाव से, वा कितने ही कहते हैं कि अभिमान

के कारण नृग को दोष लगा अथवा धर्म (कर्म) करने में असीम आग्रह, फिर विचार आदि का अभाव तथा श्रीकृष्ण के सिवाय अन्य (धर्मादि) में अत्यन्त आग्रह सर्वथा दुःख के भोगार्थ होता है, यदि ऐसे मनुष्य में भक्ति होवे तो वैसे को भी भगवान् दुःख से छुड़ाते हैं।

जैसा करना चाहिए, वैसा न कर मनमानी करने वाले नृग को भगवान् ने सब को क्रोध उत्पन्न करने वाले सर्व वध्य कृकलास की योनि दी ॥३१०-३१२॥

व्याख्या—ऐसे धर्मात्मा में ऐसा दोष कैसे उत्पन्न होने लगा? जिससे मन्वन्तर के पहले युग में उत्पन्न हुए को २८ (अट्ठावींस) द्वापर के अन्त तक दुःख भोगना पड़ा। इसके उत्तर में कहते हैं कि नृग को इस प्रकार दान करने में आग्रही बनने की न भगवान् की आज्ञा थी और न उनकी इच्छा ही थी। इस कारण से नृग दोषवान हुआ। इच्छा एवं आज्ञा जब नहीं है, तब मुझे यों करना चाहिए वा नहीं, ऐसे विचार के अभाव से धर्म (दान) में अत्यन्त आग्रह सर्वथा दुःख भोग के लिए होता है, ऐसा अत्यन्त आग्रह श्रीकृष्ण में ही होना चाहिए, वहाँ (श्रीकृष्ण में) न कर अन्यत्र दूसरे किसी में करना अनुचित होने से दुःख भोग का कारण बनता है, भक्तजन भगवान् के सिवाय किसी भी धर्मादि कार्य में अत्यन्त आग्रह नहीं करते हैं। नृग को जो कृकलास की योनि मिली, वह निकृष्ट थी; क्योंकि सबको क्षोभ करने वाली होने से सबसे वध करने योग्य होती है। बृहदारण्यक के सप्तान्न ब्राह्मण में कहा है कि 'प्राणभृत प्राणं न छिन्द्यादपि कृकलासस्य' अर्थात् अमावस्या की रात्रि में किसी भी प्राणी के प्राणों का नाश नहीं करना चाहिए, विशेष क्या कहा जाय? कृकलास के प्राण भी नष्ट न किए जावे, वह (कृकलास) पापात्मा है, इसको देखना भी अमङ्गल कारक है, इसलिए ही स्वभाव से सकल प्राणी उनको मारते हैं, यों वहाँ इस श्रुति का भावार्थ है, ऐसी योनि नृग को मिली ॥३१०-३१२॥

श्लोक—**यथैको ब्राह्मणः क्रुद्धस्तथैवैकत्र कर्मणि।**
यावन्तो योगमापन्नास्तावतां क्लेशदं तु तत् ॥३१३॥
अतोऽन्यत्र व्यसनिनो धर्मादिषु यथायथम्।
दुःखभाजो भवन्त्येव तस्मात्कृष्णे तदाचरेत् ॥३१४॥

श्लोकार्थ—जैसे एक कर्म में एक ब्राह्मण को क्रोध उत्पन्न हो गया अर्थात् एक कर्म ने एक ही ब्राह्मण में क्रोध उत्पन्न कर उसको दुःखी किया, वैसे ही जितने भी व्यक्ति इस (कृकलास) के सम्बन्ध में आते हैं, उन सबको यह दुःखद है, अतः जो कृष्ण के सिवाय अन्य किसी भी कर्मादि में व्यसनी होते हैं, वे दुःखी होते है, इस कारण से मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण का ही व्यसनी बने ॥३१३-३१४॥

व्याख्या—जब यहाँ सर्व को क्षोभ न हुआ तो फिर नृग को कृकलास योनि क्यों प्राप्त हुई ? इस शङ्का के निवारणार्थ 'यथैको' कारिका कही है, जिसमें ब्राह्मण के क्रोध का कारण एक ब्राह्मण की गौ नृग ने दूसरे को देदी ऐसा बताया है,कृकलास को जो भी देखते हैं,वे सर्वदुःखी होते हैं, इसी तरह श्रीकृष्ण के सिवाय अन्य धर्म-कर्मादि में जो व्यसन करते हैं, वे दुःखी होते हैं। सारांश यह है कि श्रीकृष्ण के सिवाय अन्य कर्म में आसक्ति व व्यसन करने से ही नृग को कृकलास योनि प्राप्त हुई ॥३१३-३१४॥

श्लोक—**असंख्यातत्वकथने दृष्टान्तत्रयमीरितम्।**
तामसादिविभेदेन गुणाश्चापि त्रिधा मताः ॥३१५॥

श्लोकार्थ—नृग ने असंख्य गायों का दान किया था, यह दिखाने के लिए तामसादि भेद से तीन दृष्टान्त दिए है, गुण भी तीन प्रकार के माने गए हैं ॥३१५॥

व्याख्या—नृग को यदि दान करने का अभिमान नहीं था तो पृथ्वी पर जितने रजः कण है, आकाश में जितने तारे है, वृष्टि की जितनी धाराएँ हैं, इसी प्रकार के तीन दृष्टान्त किस लिए दिए ? ये तीन दृष्टान्त क्रमशः तामस, सात्विक तथा राजस हैं, इस पर आचार्य श्री कहते हैं कि ये दृष्टान्त अभिमान प्रदर्शित करने के लिए नहीं दिए हैं, किन्तु दान अगणितता दिखाने के लिए दिए हैं। 'ब्राह्मणस्य, वदान्यस्य, तव दासस्यं' इस श्लोक से इस दान की त्रिगुणता कही है, इससे स्पष्ट है कि उस (नृग) में अभिमान रूप दोष नहीं था, किन्तु जो व्यसन कृष्ण में होना चाहिए, वह व्यसन दान में होना यह ही दोष था ॥३१५॥

श्लोक—**अतस्तामसधर्मेषु भ्रमस्तस्य फलिष्यति।**
अतोऽत्र धर्मनिर्धारे दोषाभावो गुणः स्मृतः ॥३१६॥
गुणस्तु दोष एवं स्यादिति दानं तथोदितम्।

श्लोकार्थ—इसी कारण से तामस धर्मों में उसको भ्रम ही फलेगा (होगा), इसी-लिए धर्म निर्णय में दोषाभाव (आग्रह का अभाव) गुण है, इसी प्रकार का गुण दोष रूप ही है, इसलिए यह दान दोष रूप कहा है ॥३१६½॥

व्याख्या—यदि उसको उसमें भ्रम न होता तो एक ही दास्य रूप गुण कहते न कि तीन। इससे जो फलितार्थ है, वह 'अतोऽत्र' कारिका से कहा है, दोष (आग्रह) न होना ही धर्म के निर्धार करने में गुण है, किन्तु यहाँ वह दान रूप गुण, दोष कहा है अर्थात् बताया गया है, इस प्रकरण में ऐश्वर्य का कार्य स्पष्ट है, यों प्रथमाध्याय का विचार किया है ॥३१६½॥

श्लोक—**धर्ममार्गे ब्राह्मणानां क्षोभं नैव समाचरेत् ॥३१७॥**

मुख्ये तु सर्वभूतानां न किञ्चित्तस्य नश्यति।
तथाऽर्थे बान्धवानां च कामे स्वात्मनि तत्तथा ॥३१८॥
मोक्षे त्वीशस्य सततं चतुर्भिस्तन्निरूप्यते।
यथानृगस्य धर्मो न यमुनायास्तथा निजः ॥३१९॥
स्वार्थः सिद्धस्तथा कामः पौण्ड्रकस्य तथा गतिः।
द्विविदस्यापि नो सिद्धस्तत्तन्मूल विरोधतः ॥३२०॥
अनिरुद्धे द्वयोः कार्यं तेन कृष्णो बलस्तथा।
अन्तरान्तरभावेन भिन्नार्थविनिवारकौ ॥३२१॥
यमुनाकर्षणं कार्यं पश्चाज्जाताश्च गोपिकाः।
श्रुतपूर्वा बलं दृष्ट्वा रेमिरे लौकिकास्तु ताः ॥३२२॥

श्लोकार्थ—'धर्म' (कर्म) मार्ग में ऐसा कृत्य नहीं करना चाहिए, जिससे ब्राह्मणों को दुःख (क्षोभ) हो, मुख्य (भक्ति) मार्ग में भी इसी तरह का आचरण नहीं करना चाहिए, जिससे सकल भूतों को सन्ताप हो, उसको किसी प्रकार की हानि नहीं होती है।

उसी तरह 'अर्थ' विषय में बान्धव अप्रसन्न हो, यों नहीं करना चाहिए और 'काम' में अपने अन्दर रहे हुए को दुःखी नहीं करना, 'मोक्ष' में तो ईश (प्रभु) को श्रमादि हो, ऐसा कर्म नहीं करना, इस विषय का चार अध्यायों में वर्णन किया गया है।

जैसे नृग ने जो धर्म (गौ दान) किया, वह सफल न हुआ, यमुनाजी का मनो-रथ पूर्ण न हुआ, पौण्ड्रक का काम सिद्ध न हुआ, द्विविद वानर की मुक्ति सिद्ध न हुई, कारण यह है कि कर्म करने वालों के पुरुषार्थ का जो मूल है, उससे उनका विरोध था।

अनिरुद्ध में दोनों का कार्य है, जिससे श्रीकृष्ण तथा कृष्ण के आवेश वाले बल-राम को पृथक्-पृथक् कार्य के लिए निवारक कहे गए हैं।

बलरामजी ने श्री यमुनाजी का आकर्षण किया, अनन्तर जिन्होंने भगवान् की रास लीला श्रवण की है, पश्चात उत्पन्न हुई उन गोपियों ने राम को देखकर उनसे रमण किया, वे गोपियाँ तो लौकिक थीं ॥३१७–३२२॥

व्याख्या—द्वितीय अध्याय का विचार करते हुए चार अध्यायों से सिद्ध निषेध्य अर्थ को कहते हैं—'धर्म मार्ग' कारिका में ब्राह्मणों को दुःख न देना, भक्ति मार्ग में किसी को भी सन्ताप न देना, 'अर्थ' प्रसङ्ग में बान्धवों को कष्ट न देना, 'काम' में भीतर स्थित आत्मा को दुःखी न करना, 'मोक्ष' में ईश को श्रमादि हो; वैसे नहीं करना।

इस विषय को उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि ब्राह्मण के क्षोभ होने के कारण नृग के धर्म की सिद्धि न हुई, यमी ने अपने भ्राता यम को स्वार्थ सिद्धि के लिए क्षुभित किया, जिससे श्री यमुनाजी का अपना स्वार्थ (भगवान् की प्राप्ति) सिद्ध न हुआ।

पौण्ड्रक ने अपनी आत्मा को मात्सर्य से क्षोभित किया, जिससे उसकी काम लोक में प्रतिष्ठा हो, वह सिद्ध न हुआ, श्री बलरामजी को क्षुभित करने से द्विविद वानर को मोक्ष प्राप्ति न हुई, इन चारों के निवारण के लिए ये चार अध्याय कहे गए हैं।

भगवान् की लीला में बलदेव चरित्र क्यों कहा गया है? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अनिरुद्धे द्वयोः कार्यं' कारिका कही है।

अनिरुद्ध व्यूह में सङ्कर्षण तथा अनिरुद्ध दोनों व्यूह हैं, जिससे यह दोनों का मिश्रित कार्य है, कारण धर्म रक्षा का कार्य प्रतिपक्षी (विरुद्ध पक्ष वाले अर्थात् शत्रु) के निग्रह किए बिना सिद्ध नहीं होता है, इसलिए धर्म-रक्षा कार्य करने वाले अनिरुद्ध व्यूह में इस समय प्रतिपक्षियों के निग्रहार्थ सङ्कर्षण व्यूह की आवश्यकता थी, इसलिए जैसे अनिरुद्ध में सङ्कर्षण व्यूह भी प्रविष्ट थे। इसी तरह कृष्ण व बलराम भी परस्पर मिले हुए थे, यहाँ दोनों व्यूहों का कार्य सङ्कीर्णता समझाने के लिए कहा है। अध्यायार्थ 'यमुनाकर्षणं' कारिका से कहा है—यह कार्य 'वीर्यकार्य' है, ये गोपियाँ लौकिकी हैं, जिसका भावार्थ है कि ये गोपिकाएँ ब्रह्मा से शापित वाणी के रूप हैं अथवा उनके समान हैं, यों भासता है ।।३१७-३२२।।

श्लोक—**सात्त्विकास्तु परं सङ्गाद्दोषस्तासां च नाश्यते।**
गोपीगां कृष्णदेवस्य शिष्टानां सात्त्विकत्वतः ।।३२३।।
सत्सङ्गात्सुखमुत्पन्नं नित्यं कृष्णकथा यतः।
देवादीनां तु सम्मत्यै दैत्यानां देवरूपिणाम् ।।३२४।।
मधुधारादिकं प्रोक्तं वस्त्रदानादिकं तथा ।।

श्लोकार्थ—वे गोपियाँ सङ्ग के कारण सात्विक बन गईं तथा जो दोष श्रीकृष्ण पर कृतघ्न आदि कह कर उन्होंने लगाया था, वह दोष भी उनका नाश हो गया, शेष जो नन्दादि थे, वे सात्विक होने से सत्सङ्ग द्वारा सुखी हुए; क्योंकि वे नित्य श्रीकृष्ण की कथा करते थे।

देवताओं की इस लीला में सम्मति है, यों दिखाने के लिए कहा है कि जैसे देव रूपी दैत्यों ने मधु धारा आदि दी, वैसे देवों ने वस्त्र आदि दिए ।।३२३-३२४।।½

व्याख्या—गोपियों को यहाँ क्या प्राप्त हुआ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि श्री बलदेवजी के सङ्ग एवं उनके वाक्यों से भगवत्ज्ञान होने से सात्विकी बनी तथा उन्होंने जो दोष श्रीकृष्ण को कृतघ्न आदि कह कर किया था, वह दोष भी उनका निवृत्त हो गया, इसी तरह नन्दादि भी बलराम के सङ्ग से सात्विक बन कृष्ण-गान करते रहने से सुखी हुए।

समुद्र-मंथन के समय जो वारुणी निकली, वह वृक्षों की अधिष्ठात्री देवता होने से वृक्षों में रहती है। उसने मधु धारा स्रवित कर वन को सुगन्धित किया, वह मधु धारा इस प्रकार बलराम को प्राप्त हुई तथा भगवान् की चतुर्थ शक्ति ने बलराम को वस्त्रादि दिए। इस कार्य से जाना जाता है कि इस कार्य में देवताओं की भी सम्मति थी, इसी तरह दूसरे अध्याय का विचार किया ।।३२३-३२४½।।

श्लोक—**कामो लोके हि सन्मानं कृष्णत्वे तद्भवेद्ध्रुवम् ।।३२५।।**
पौण्ड्रकस्तु ततो जातो मात्सर्यात्कृष्णरूपधृक्।
मूले कृत्वा विरोधं हि लोके नष्टस्तथाऽनुगः ।।३२६।।
प्रमेयबलमासाद्य मुक्तः पूर्वो न चापरः ।।

श्लोकार्थ—लोक में सन्मान का होना ही काम है, यदि कृष्ण बन जावे तो वह निश्चित सन्मान है, इससे पौण्ड्रक ने मत्सरता के कारण श्रीकृष्ण का रूप धारण किया, मूल रूप से विरोध करने के कारण स्वयं तो नाश हो गया, किन्तु उसके पीछे चलने वाला (काशिराज) उसकी तरह कृष्ण विरोधी होने से नाश हुआ। किन्तु पहले (पौण्ड्रक) को प्रमेय बल द्वारा भगवान् ने मुक्त किया, परन्तु अनुयायी की मुक्ति न हुई ।।३२५-३२६½।।

व्याख्या—अब तीसरे अध्याय का 'काम' इत्यादि कारिका से विचार करते हैं। 'ततः' अर्थात् पौण्ड्रक बालकों के बहकाने पर अपने को कृष्ण मानकर कृष्ण से मत्सरता से विरोध करने लगा तथा उसका अनुयायी काशिराज भी श्रीकृष्ण का विरोधी बना, जिससे दोनों का लोक में सर्व प्रकार नाश हो गया, किन्तु पौण्ड्रक की भगवान् ने अपने प्रमेय बल से मुक्ति कर दी; क्योंकि सिद्धान्त है कि किसी भी रीति से यदि भगवान् में जिसका सदैव चित्त लगा रहता है, उसकी मुक्ति होती है, पौण्ड्रक की इस प्रकार की स्थिति थी, अतः उसकी प्रमेय बल द्वारा मुक्ति हुई, काशिराज वैसा नहीं था, अतः उसका केवल नाश हुआ—मुक्ति नहीं हुई ।।३२५-३२६½।।

श्लोक—**वाक्येनैव तु कर्तव्यमविरोधेन वा क्वचित् ।।३२७।।**
न त्वन्यथा तीर्थदेवक्षेत्रैर्भक्त्याऽपि कुत्राचित् ।।

श्लोकार्थ—भगवान् का जो विरोधी हो, उसको (सहायता) तब करनी चाहिए, जब भगवान् की वैसी आज्ञा हो अथवा यदि कहीं यों भी किसी की सहायता की जाय तो उसमें भगवान् का विरोध नहीं होना चाहिए। भक्त हो तो भी तीर्थों के देव तथा तीर्थों को भी उनकी सहायता तब ही करनी चाहिए, जब उस सहायता से भगवान् का विरोध उत्पन्न न होवे ॥३२७½॥

व्याख्या—काशी नगरी तीर्थ है, उसका भी दाह हुआ, उससे जो उपदेश लेना चाहिए, वह इस कारिका द्वारा समझाते हैं, साधारण मनुष्यों की तो बात ही नहीं, किन्तु तीर्थों के देव और तीर्थ आदि भी, अपने भक्तों की भी तब सहायता आदि करें, जब भगवान् की वैसी आज्ञा प्राप्त हुई हो अथवा उस कार्य में भगवान् से विरोध न हो जाय; अन्यथा नहीं। भगवान् के विरोधी का पक्ष भगवदाज्ञा के बिना लिया जाय अथवा जिसमें उन (भगवान्) का विरोध हो तो ऐसे का सम्पूर्ण नाश ही होता है, अमृत-मंथन के समय देवों ने भगवद्विरोधी दैत्यों से मिलाप भगवदाज्ञा से किया तो उनका नाश न होकर लाभ हुआ।

इस लीला से यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए कि भगवदाज्ञा के बिना उसके शत्रु से मिलाप व उसको सहायता नहीं देनी चाहिए। यह यश कार्य है, यों फल कथन से जाना जाता है ॥३२७½॥

श्लोक—**अतः काश्यपि निर्दग्धा महादेवोऽपि वारितः ॥३२८॥**
तथाऽन्यान्यपि रूपाणि प्रकटे मुरवैरिणि ॥

श्लोकार्थ—जब भगवान् मुरारी प्रकट थे, काशी का दहन हुआ, महादेव का पराभव हो गया, वैसे अन्य रूप भी पराजित हो गए ॥३२८½॥

व्याख्या—भगवान् के प्रकट रूप से विराजते उनकी आज्ञा हुए भी न लेकर एवं विरोध का सम्भव होते हुए भी काशी तीर्थ ने काशी के राजपुत्र सुदर्शन का पक्ष लिया, जिससे ही काशी का दाह हो गया तथा अग्नि रूप महादेव को भी पराजित होना पड़ा और दूसरे देवों का भी पराभव हुआ। इस प्रकार इस प्रकरण में की गई कथा श्रवण करने से मालूम होता है कि यह यश गुण का कार्य है ॥३२८½॥

श्लोक—**दोषोत्पत्त्यैव ते त्याज्यास्तेन नात्रोक्तदूषणम् ॥३२९॥**
पाण्डवादिसमस्तानां दोषोऽप्यत्र निवार्यते ॥

श्लोकार्थ—कौरवों में अभिमान रूप दोष की उत्पत्ति हुई, जिससे वे त्याज्य हुए, इससे इस विषय में पहले कहा गया दोष इनमें नहीं है। इस प्रकरण में पाण्डव आदि सबके दोष दूर किए जाते हैं ॥३२९½॥

व्याख्या—तृतीयाध्याय के अनन्तर चतुर्थाध्याय का विचार करना उचित था, किन्तु उस चतुर्थाध्याय में केवल द्विविद वानर के मारने के सिवाय अन्य कुछ वृतान्त नहीं है, उस (वानर) की केवल प्रमेय बल से दोष निवृत्ति की गई है। इस अध्याय में बलदेव की क्रीड़ा 'श्री' गुण का कार्य स्पष्ट ही है, इसलिए विशेष कुछ न होने से उसका विचार नहीं किया गया है।

अब पञ्चमाध्याय का 'दोषोत्पत्त्या' कारिका से विचार करते हैं। यहाँ इस प्रकरण में गत दोषों की, प्रसाद (कृपा) द्वारा निवृत्ति की, अतः वे दोष अब कौरवादि में न रहे हैं, किन्तु अभिमान रूप दोष की उत्पत्ति हुई है, जिससे वे त्यागने योग्य थे, बलराम ने कौरवों के उस दोष को मिटाने के लिए हस्तिनापुर को गङ्गा में खेंचा, जिससे भयभीत कौरव अभिमान त्याग बलराम की शरण गए, तब प्रसन्न होकर उनको अभयदान दिया, पाण्डवादि जो भी इसमें मिले हुए थे, उन समस्तों पर कृपा कर दोष निवृत्त किए।

कौरव निरोध्य नहीं हैं, इसलिए इनके दोषों को मिटाना आवश्यक नहीं है, द्विविद भी वैसा ही था, इसलिए उसका दोष भी मिटाना अनावश्यक था, यों नहीं कहना चाहिए; क्योंकि वह जगत् के व्यापार से पृथक् प्रकार का था, पूर्व भक्त था, अतः उसके दोष की निवृत्ति आवश्यक थी, किन्तु यहाँ तो बलराम ने इन्द्र पाण्डवादि जो भी कौरवों से मिश्रित थे, उन सभी के दोष कृपाकर प्रमेय बल के कारण निवृत्त किए हैं, यह ज्ञान कार्य है; क्योंकि इससे ज्ञान उत्पन्न हुआ है ॥३२९½॥

श्लोक—**तथा वैष्णवमुख्यस्य नारदस्य विरक्तये ॥३३०॥**

श्लोकार्थ—इसी तरह वैष्णवों में मुख्य नारदजी को वैराग्य हो, इसलिए उनका दोष भी मिटाया है ॥३३०॥

व्याख्या—नारद में यह दोष था कि उसमें वैराग्य का अभाव था, उस अभाव को मिटाने के लिए भगवान् ने अपने वैराग्य का नारद को बोध कराकर उसका वह दोष मिटाया। मैं गृहस्थाश्रम करते हुए भी अनासक्त होने से वैराग्य गुणवान हूँ, यह 'ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताऽहं' इस प्रकरण में स्पष्ट होगा ॥३३०॥

श्लोक—**धर्मस्य करणात्स्त्रीणां नीत्या यादव भू भुजाम्।**
एवं प्रमेयरूपो हि हरिर्दोषं न्यवारयत् ॥३३१॥

श्लोकार्थ—धर्माचरण से स्त्रियों का, नीति से यादव राजाओं का, प्रमेय रूप हरि ने इस प्रकार समस्तों के दोष दूर किए ॥३३१॥

व्याख्या—स्त्रियों में यह दोष था कि भगवान् जब अरुणोदय वेला में जगते थे, उस समय कुक्कुट ध्वनि होती थी, स्त्रियाँ समझती थी कि कुक्कुट ध्वनि कर हमारे प्रिय को जगाकर हमको विरह दुःख देते हैं, इसलिए वे कुक्कुटों को शाप देती थी। स्त्रियों के इस दोष को धर्माचरण कर आपने मिटाया तथा यादव क्षत्रियों का यह दोष था कि भगवान् को राजसूय यज्ञ में सहायता न कर पहले जरासन्ध को जीत उसके यहाँ बन्धन में पड़े हुए राजाओं को छुड़ाना चाहिए था, ऐसा उनका मत इसलिए था कि वे नीतिज्ञ नहीं थे, ऐसे अनीति के विचार दोष वाले यादवों को उद्धव द्वारा नीति ज्ञान कराकर उनका दोष दूर किया। यहाँ श्लोक में 'भूभ्रजाम्' पद राजाओं का वाचक नहीं है, किन्तु 'क्षत्रिय' वाचक है, इसी तरह प्रमेय बल से इस सात्विक प्रमेय प्रकरण में प्रभु ने सर्व के दोष नष्ट किए हैं। इसी कारण से यह प्रकरण 'प्रमेय' कहा गया है ॥३३१॥

श्लोक—**साधन प्रक्रियां वक्तुं साधनान्तरमुक्तये।**
राज्याद्भ्रंशस्तथा दुःखं राज्ञामत्र निरूप्यते ॥३३२॥
साधने नारदो मुख्यस्तस्यापि प्रार्थनोच्यते ॥

श्लोकार्थ—अन्य साधनों से मुक्त होने के लिए साधन की प्रक्रिया यहाँ कही है। वह प्रक्रिया यह है—यहाँ राजाओं का राज्य से भ्रष्ट होना तथा दुःखी होना भी साधन है, साधन करने में नारद मुख्य है, अतः इस प्रकरण में उसकी प्रार्थना भी कही जाती है ॥३३२½॥

व्याख्या—सप्ताध्यायी के फल कथन से सुबोधिनी में जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्रतिपादन के लिए जो चतुःप्रकरणी पक्ष कहा है, वह त्रिप्रकरणी पक्ष से विरुद्ध नहीं है, केवल प्रकार तथा प्रयोजन भेद से यों समझाया है।

दोषों के अभाव वर्णन के प्रसङ्ग में राजाओं के दुःख का वर्णन क्यों? इसका समाधान करते हैं कि साधनों की प्रक्रिया बतानी है, उसके उपोद्घात रूप से यह प्रसङ्ग कहा है एवं नारद की प्रार्थना भी उपोद्घात रूप है, इसलिए यह कहना प्रकरण से बाहर नहीं है। यों २८½ श्लोकों से प्रमेय प्रकरण विचारा है ॥३३२½॥

—॥ सात्विक प्रमेय प्रकरण सम्पूर्ण ॥—

॥ श्री हरिः ॥

❀ भूमिका ❀

सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण

आचार्य श्री ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में की हुई भगवल्लीलाओं को पूर्ण रूप से समझाने के लिए उनके (१)जन्म प्रकरण, (२)तामस प्रकरण, (३)राजस प्रकरण, (४)सात्विक प्रकरण और (५)गुण प्रकरण; इस प्रकार पाँच प्रकरण विभाग किए हैं।

तीन प्रकरणों की भूमिका उन प्रकरणों में दी गई है। अब इस चतुर्थ सात्विक प्रकरण के अवान्तर प्रमेय प्रकरण की संक्षिप्त भूमिका यहाँ दी जाती है। सात्विक प्रकरण में प्रमेय, साधन और फल; ये तीन अवान्तर प्रकरण हैं, प्रमाण प्रकरण नहीं है कारण कि सात्विकों की सात्विक प्रकृति होती है, जिससे उनमें श्रद्धाधिक्य होती है; क्योंकि उनका अन्तःकरण सात्विक होने से शुद्ध होता है, जिससे उनको प्रमेय आदि में किसी प्रकार शङ्का नहीं होती है, इसलिए वे प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते हैं। प्रमाण प्रकरण न होने से इसमें २८ अध्याय नहीं है, किन्तु २१ अध्याय हैं, प्रत्येक प्रकरण में सात-२ अध्याय पूर्व के समान ही हैं। इस सात्विक प्रकरण में प्रमेय, साधन और फल इनसे ही निरोध की सिद्धि हुई है।

सात्विक प्रमेय प्रकरण के पहले अध्याय से सात्विक भक्तों को तीन शिक्षाएँ लेनी चाहिए—(१)जो कोई कुछ कर्त्तव्य करता है, वह भगवदाज्ञा जिस कार्य के लिए हो, वह कार्य करना और भगवदिच्छा जानकर कार्य करना है। (२)आज्ञा और इच्छा का विचार न कर, धर्मादिक कार्यों में अत्यन्त आग्रह न करना चाहिए। (३)धर्म आदि कार्य करने के समय ब्राह्मणों को क्षोभित नहीं करना चाहिए। जो भक्त यों नहीं करता है, उसका धर्म भी अधर्म रूप हो जाता है, जिसका फल उसको भोगना पड़ता है, जैसे नृग राजा को भोगना पड़ा। वह तो अधर्म का फल भोग ही रहा था, कर्म क्षय भी नहीं हुआ था, तो भी भगवान् ने अपने ऐश्वर्य से प्रमेय बल द्वारा उसके दोषों को मिटाकर उसे देवगति दी। प्रमेय प्रकरण में इस लीला से पहले अध्याय में ऐश्वर्य धर्म प्रकट किया है।

दूसरे अध्याय में भगवदाविष्ट बलदेव ने भगवत्प्राप्ति प्रतिबन्धक दोष निवारणार्थ यमुनाजी का आकर्षण कर वीर्य धर्म प्रकट किया है, यमुना में सूर्य की पुत्री होने से भक्तपन और सात्विकपन है, यह यमुना लीलामध्यपाती नहीं है; क्योंकि उसमें दोष की सम्भावना भी नहीं है, किन्तु कालिन्दी

रूपा है, जिसको भगवत्प्राप्ति की महती इच्छा थी, किन्तु बान्धवों ने विष्णु को नहीं दी, जिससे उसने तपस्या कर अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहा, अतः बलदेवजी ने जलक्रीड़ा के समय उसका आकर्षण तथा मर्त्सन कर प्रमेय बल से उसके दोष निवारण किए, बलभद्र में भगवान् ने अपने गुणों को प्रविष्ट कर गोपियों से रमण किया, जिससे उनका निरोध सिद्ध हुआ, इस प्रकार की लीलाएँ कर द्वितीय अध्याय में 'वीर्य' गुण को प्रकट किया है।

तृतीय अध्याय में भगवान् ने मात्सर्य से अपने स्वरूप की नकल करने वाले पौण्ड्रक का भी प्रमेय बल से दोष निवारण कर उसे मुक्ति दान दिया है, यह लोला कर आपने 'यश' धर्म प्रकट किया है।

चतुर्थ अध्याय में द्विविद वानर रामावतार में सुग्रीव का सचिव था, जिससे उसमें भक्ति थी और देवांश होने से सात्विकता भी थी, मोक्ष की इच्छा वाला भी था तो भी विषयों में आसक्ति होने एवं वेद के क्षोभ करने आदि दोषों से मोक्ष न पा सका, किन्तु बलदेवजी ने प्रमेय बल द्वारा द्विविद की मुक्ति में प्रतिबन्धक दोषों का निवारण कर तथा ऋषियों की सर्व आपदाओं को दूर करते हुए इसका वध कर इसको 'मुक्ति' दी। इस लीला से 'श्री' धर्म प्रदर्शित किया है।

पाँचवें अध्याय में लक्ष्मणा हरण प्रसङ्ग के समय पाण्डव तथा कौरवों में, श्रीकृष्ण सहित यादवों के लिए जो हीनत्व बुद्धि रूप दोष प्रकट था, उसका निवारण कर बलदेव में आविष्ट भगवान् ने प्रमेय बल से उनको ज्ञान दिया, अतः यह अध्याय 'ज्ञान' धर्म प्रकाशक है।

छट्ठे अध्याय में वैष्णव श्रेष्ठ नारदजी में भगवच्चरित्र विषयक जो दोष उत्पन्न हुआ था, उस दोष को सर्व गृहों में एक रूप से ही दर्शन कराकर प्रमेय बल से दोष को नष्ट कर समझा दिया कि भगवान् लीलाओं को करते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं। लोक इस लीला से यह शिक्षा ग्रहण करें कि गृहस्थाश्रम करते हुए भी उसमें आसक्त न हों। इस लीला से अपना 'वैराग्य' धर्म दिखलाया है।

सातवें अध्याय में प्रातः उठकर स्नान, दान आदि सर्व कर्म पूर्ण कर अनन्तर राज सभा में जाना आदि कार्य अपने 'धर्मी' स्वरूप से किए हैं। इस लीला में स्वयं ने प्रातः उठ धर्माचरण कर स्त्रियों के दोषों का निवारण किया है।

चतुर्थ प्रकरण के इस अवान्तर प्रमेय प्रकरण की लीलाओं की इस भूमिका में सूक्ष्म सारांश दिया है, विशेष ज्ञानार्थ सम्पूर्ण ग्रन्थ-अध्ययन की प्रार्थना है।

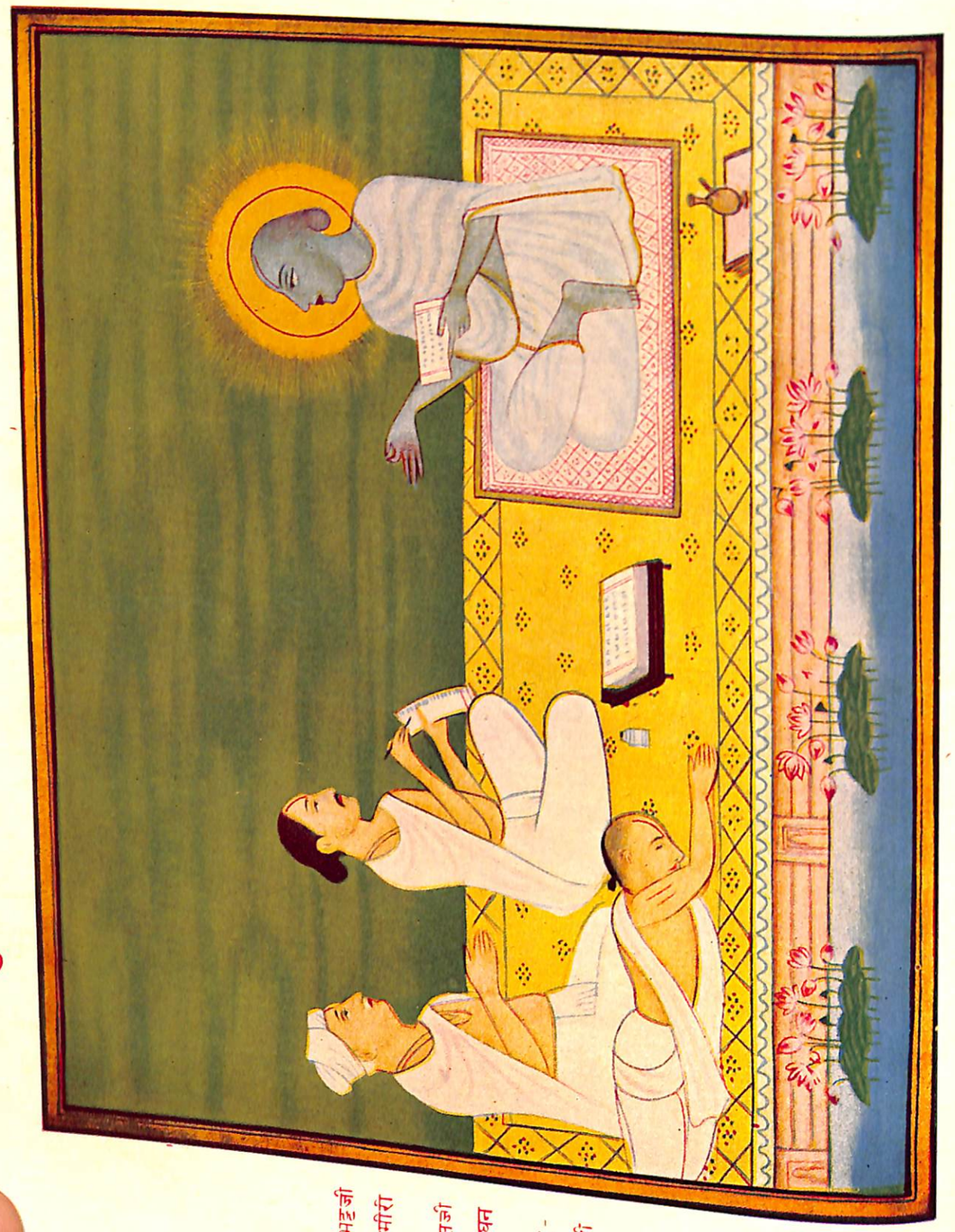

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण
(श्री महाप्रभुजी)

अखण्ड भूमण्डलाचार्य
चक्र चूडामणी

श्री मद्वल्लभाचार्य (महाप्रभुजी) प. म श्री माधवभट्टजी को सुबोधिनी लिखवा रहे हैं।

म० श्रीमाधवभट्टजी
काश्मीरी

म० श्रीकृष्णदासजी
मेघन

म० श्रीदामोदर-
दासजी हरसानी

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ६४वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ६१वां अध्याय
उत्तरार्ध का १५वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"१ला अध्याय"

नृग राजा की कथा

कारिका—राजसप्रक्रिया पूर्णा तत्त्वैरिन्द्रियशोधिका ।
निरूपिता नातियत्ना सात्त्विकी त्वधुनोच्यते ॥१॥
अध्यायैरेकविंशत्या वसुदेवमखावधि ।
चतुर्धा रूप्यते षड्भिः षड्भिः षड्भिस्त्रिभिस्तथा ॥२॥
अर्थो धर्मस्तथा कामः मोक्षश्च त्रिविधोऽन्ततः ।
प्रकीर्णकाख्यानवती प्रक्रियेयमिहोच्यते ॥३॥
नात्र क्रमविवक्षा हि नृगः पूर्वं निरूप्यते ।
गोप्यः पश्चात्ततो मिथ्यावासुदेवः प्रकीर्तितः ॥४॥
धर्मकामार्थयुक्ता हि प्रमाणेनैव पोषिताः ।
द्विविदो लक्ष्मणा चैव नारदश्च त्रयः स्मृताः ॥५॥

एतेषामर्थसिद्धिर्हि षड्विधा प्रोच्यते स्फुटैः ।
ततः साधारणो धर्मो विशिष्टः पञ्चभिस्ततः ॥६॥
यथा कामकथा षड्भिस्त्रिभिर्मोक्षस्तथोच्यते ।
अर्थोऽनर्थः सर्वथैव धर्मार्थमपि योजितः ॥७॥
तस्यापि भगवानर्थः स निरुद्धः फले परम् ।
अर्थो ब्राह्मणसम्बन्धरहितश्चेत् परः स्मृतः ॥८॥
दृष्टान्ततो निरूप्यादौ भगवानाह तत् स्फुटम् ।
उत्तरार्धे पञ्चदशे नृगमोक्षो निरूप्यते ॥९॥
शिक्षा च सात्त्विके भावे राजसा यादवा यतः ।

कारिकार्थ—तामस प्रकरण की लीलाओं के श्रवण से तामस अहंकार के कार्यभूत देह की शुद्धि होती है, इसी प्रकार राजस प्रकरण लीलाओं के श्रवण से राजस अहंकार के कार्यभूत इन्द्रियों की शुद्धि होती है, इन्द्रियों को शुद्ध करने वाली राजस लीलाएँ अठ्ठाईस अध्यायों में पूर्ण की गई है। इस राजस लीला से निरोध करने में तामसों के निरोध करने में जो विशेष प्रयत्न करना पड़ा, वह न हुआ; क्योंकि तामस दृढ़ आग्रही होते हैं, राजसों में वैसा आग्रह नहीं, इसलिए विशेष प्रयत्न करने की वहाँ आवश्यकता नहीं है। सात्त्विकी लीलाओं का वर्णन अब किया जाता है, जिन लीलाओं के श्रवण से सात्त्विक अहंकार के कार्यभूत मन की शुद्धि होती है।

सात्त्विक प्रकरण के तीन अवान्तर-प्रमेय, साधन और फल-प्रकरण ६, ६ और ६ (१८) अध्यायों से निरूपण किए हैं और तीन अध्याय धर्मी के निरूपण के हैं, इसी तरह इक्कीस अध्यायों से वसुदेव यज्ञ पर्यन्त चार प्रकारों से वर्णन है। प्रमेय, साधन और फल-प्रकरण में क्रमशः धर्म, अर्थ और काम का निरूपण है, अन्त में धर्मी प्रकरण के तीन अध्यायों में तीन प्रकार के मोक्ष का वर्णन है।

इस प्रकरण में प्रकीर्ण आख्यानोंवाली प्रक्रिया कही गई है, यहाँ पूर्वोक्त कारिका में अध्याय विभाजक क्रम, विवक्षित नहीं है, किन्तु धर्मयुक्त नृग का चरित्र प्रथम कहा गया है। बाद में कामयुक्त गोपियों का चरित्र है। इसके अनन्तर अर्थयुक्त मिथ्या वासुदेव का आख्यान है, पश्चात् मोक्षत्रय का वर्णन किया है।

इसी प्रकार धर्म, काम और अर्थ; ये तीन प्रमाण से ही पोषित हैं, जैसे कि नृग की शास्त्र प्रमाण में अधिक श्रद्धा थी, अतः वह प्रमाण से पोषित है। गोपियाँ वेद रूप बलदेव से रमण करने के कारण से, प्रमाण से पोषित हैं। मिथ्या वासुदेव पौंड्रक भी वेदात्मक महादेव के वर से पुष्ट होने से प्रमाण पोषित है। तीन प्रकार के मोक्ष के अधिकारियों को बताते है—(१) द्विविद वानर का 'ये च प्रलम्ब' इस श्लोक में मोक्ष कहा है, लक्ष्मणा का आवेश द्वारा भी हस्तिनापुर के खेंचने से भगवान् के महात्म्य का ज्ञान हुआ है, इसका यह ही मोक्ष है। बहुत नायिकायों से रमण करने में जो संशय हुआ था, उस संशय की निवृत्तिपूर्वक जो भगवद्धर्म का ज्ञान हुआ, वह ही मोक्ष है।

इनकी अर्थ सिद्धि छः प्रकार की कही है, यहाँ कारिका में कहा हुआ क्रम ही समझना चाहिए। छः अध्यायों से अर्थ, पश्चात् छः अध्यायों से धर्म, अनन्तर एक अध्याय से साधारण काम और पाँच अध्यायों से विशिष्ट काम कहा है। बाद में तीन अध्यायों से मोक्ष का वर्णन किया है।

अर्थ, धर्म के काम में लगाया जावें तो भी अनर्थकारी है, जैसे नृग के चरित्र से जाना जाता है। अनर्थपन को प्राप्त हुए का भी अर्थ भगवान् ही है, 'चक्षुषः चक्षुः' इस प्रमाणानुसार अर्थ का भी अर्थ रूप भगवान् हैं, परन्तु फल की कामना करने पर भगवान् निरुद्ध हो जाते हैं अर्थात् फल की कामना करने से भगवान् स्वयं प्रकट न होकर अनर्थ रूप पशु पुत्र आदि देते हैं, यदि अर्थ ब्राह्मण सम्बन्ध रहित हैं तो पर है। आदि में अर्थात् उत्तरार्द्ध के १५वें अध्याय में भगवान् ने यह विषय नृग का दृष्टान्त देकर समझाया है और आपने नृग की मुक्ति की है। यादव राजस थे, सात्त्विक धर्म में निपुण नहीं थे, इसलिए उनको शिक्षा दी गई है।

—: इति कारिका सम्पूर्ण :—

आभास—अतः परं स्कन्धसमाप्तिपर्यन्तं प्रकीर्णकाः कथाः निरोधोपयोगाय निरूप्यन्ते। तत्र प्रथमं नृगमोक्षो निरूप्यते। नृगो नाम कश्चिद्राजा अर्थवान् दानधर्मपरः ब्राह्मणार्थसंसर्गादनर्थं प्राप्तः, तस्यापि भगवान् उद्धारकः, अधमभावादुद्धृत्य स्वर्गं प्रापयिष्यति, ततः स सर्वतो निरुद्धः भगवन्माहात्म्यं दृष्ट्वा विस्मृतप्रपञ्चः भगवदेकपरो भविष्यति। तदत्र भगवाननिरुद्धरूपः तमुद्धृत्य धर्मं ग्राहयामास। कथाक्रमे तु देवान्तरभक्तः

यथानर्थं प्राप्तवान्, एवं धर्मपरोऽपि नृग इति वदन् अर्थविषये धर्मतत्त्वमुच्यते । तत्र प्रथमं नृगस्य कृकलासशरीरादपगमो निरूप्यते **एकदोपवनमिति षड्भिः** ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर स्कन्ध समाप्ति तक निरोध की आवश्यकता के लिये प्रकीर्ण कथाएँ निरूपण की गई हैं । उनमें प्रथम नृग के मोक्ष का निरूपण किया जाता है, नृग नाम वाला कोई राजा धनवान् होने से दान धर्म के परायण था, ब्राह्मणार्थ संसर्ग से अनर्थ को प्राप्त हुआ उसके भी भगवान् उद्धारक हुए, उसका अधम भाव से उद्धार कर स्वर्ग की प्राप्ति कराएंगे, इस कारण से वह सर्व से निरुद्ध हो कर, भगवन्माहात्म्य देख कर, प्रपञ्च को भूल कर, केवल भगवान् के परायण होगा । सात्विक प्रकरण में भगवान् अनिरुद्ध रूप हैं, उस स्वरूप से उसका उद्धार कर धर्म को ग्रहण कराया, कथा के क्रम में तो अन्य देवता भक्त जिस प्रकार अनर्थ को प्राप्त हुआ, वैसे धर्म परायण भी नृग यों कहता हुआ अर्थ के विषय में धर्म का तत्व कहा जाता हैं, इसमें प्रथम नृग की कृकलास योनि से छूटने का 'एकदोपवनं' श्लोक से छ श्लोकों में वर्णन श्री शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**एकदोपवनं राजन् जग्मुर्यदुकुमारकाः ।**
विहर्तुं साम्बप्रद्युम्नचारुभानुगदादयः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! किसी एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारु, भानु और गद आदि यादवों के कुमार खेलने के लिए उपवन में गए ॥१॥

सुबोधिनी—स्त्रियो हि भगवन्माहात्म्यं दृष्टवत्यः, बालकास्तु न जानन्तीति तेभ्य एवानर्थ उत्पत्स्यत इति ब्राह्मणातिक्रमो न कर्तव्य इति तान् बोधयितुं तद्द्वारैव नृगमोक्षो निरूप्यते । **एकदा** सर्व एव बालकाः क्रीडार्थं द्वारकाया उपवनं जग्मुः । दुर्गादुत्तीर्य पुराणद्वारका उपवनत्वेन स्थिता, 'क्रीडायां गुप्तस्थान'मिति रक्षकैर्निरुद्धमप्युपवनं यदुकुमारकाः रक्षकैरनिरोध्याः जग्मुः । तत्र भगवत्पुत्राणां विशेषतो नामान्याह **साम्बप्रद्युम्ने**ति । विहर्तुमेव गताः । साम्बोऽग्रेऽनर्थहेतुरिति स एव मुख्य उपदेष्टव्य इति प्रथमं निर्देशः । प्रद्युम्नः सर्वमान्यो महासमर्थः । तथापि नृगोद्धारे न समर्थ इति वक्तुं निरूपितः । चारुस्तेषामेव दशमः । भानुर्नाग्नजित्याः प्रथमः । गदादयो भ्रातरः ॥१॥

व्याख्यार्थ—स्त्रियों ने भगवान् का माहात्म्य देखा है, बालक उस माहात्म्य को नहीं जानते हैं, उनके लिये ही अनर्थ[1] उत्पन्न होगा, इसलिये ब्राह्मणों का अनादर नहीं करना चाहिये उनको बोध कराने के वास्ते उनके द्वारा ही नृग के मोक्ष का निरूपण किया जाता है, किसी दिन सब ही बालक खेलने के लिये द्वारका के उपवन में गये, कोट से उत्तर कर पुरानी द्वारका में उपवनपन से स्थित

१—मूशलरूप अनर्थ,

हुए, वह स्थान क्रीडा के लिये गुप्त रखा गया था इसलिये वहाँ कोई न जा सके तदर्थ रक्षक पहरे पर खड़े थे किन्तु यादवों के कुमारों को रक्षकों ने रोका नहीं अथवा उनसे रुके नहीं, वहाँ पहुँच गये, उन कुमारों में से भगवान् के पुत्रों के विशेष प्रकार से नाम कहते हैं, ये सब खेलने के लिय ही गये प्रथम साम्ब का नाम इसलिये दिया है कि, यह ही अनर्थ का कारण है, अतः यह ही मुख्यतः उपदेश देने योग्य है, प्रद्युम्न का नाम द्वितीय श्रेणी में इस कारण से दिया है कि वह सर्वमान्य और सर्व समर्थ है, तो भी नृग के उद्धार करने में असमर्थ हुआ, चारु उनमें ही दशम है, भानु नाग्नजितीका पहला है, गद आदि भ्राता हैं ॥१॥

आभास—क्रीडां प्रस्तावनार्थमुक्त्वा प्रासङ्गिकमाह **क्रीडित्वेति** ।

आभासार्थ—प्रारम्भ के लिये क्रीड़ा कह कर अब 'क्रीडित्वा' श्लोक से प्रासङ्गिक कहते हैं ।

श्लोक—**क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः पिपासिताः ।**
जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम् ॥२॥

श्लोकार्थ—वहाँ अच्छी तरह खूब खेलकर प्यासे हुए, जिससे प्यास मिटाने के लिए जल ढूँढ़ने लगे, ढूँढ़ते-२ दूर से एक कूप देखा, वहाँ जाकर देखा तो जल नहीं था, किन्तु उसमें एक अद्भुत सत्त्व[1] पड़ा था ॥२॥

सुबोधिनी—समुद्रतीरस्थाने मिष्टं जलं दुर्लभमिति जलान्वेषणार्थं प्रवृत्ताः, कूपास्तत्र सम्भवन्तीति । ते हि बालका अनभिज्ञाः अभिज्ञाश्च प्रवेशं न लभन्त इति जलं विचिन्वन्तः कूपे अद्भुतं विचित्रं सत्त्वं ददृशुः । सर्वलोकविलक्षणत्वादद्भुतं वर्णयति । **अनेन भगवदीयानां क्रीडास्थाने पूर्वकृतो धर्मः साधनतामापन्न** इति निरूपितम् । सर्वस्यापि धर्मस्यैतावन्मात्रे उपक्षयात् ॥२॥

व्याख्यार्थ—समुद्र के किनारे पर मीठा जल दुर्लभ है इसलिये जल ढूंढ़ने लगे किनारे पर कूप होते हैं, उन बालकों में जानकार और वे समझ भी थे, कहां जल है यह प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिये ढूंढ़ने लगे । एक कूप देखा जिसमें जल तो था नहीं, किन्तु एक अजीब प्राणी पड़ा था, वह प्राणी लोक में जो प्राणी होते हैं उनसे विलक्षण था इसलिये उसको अद्भुत कहा है, इससे यह जताया, कि भगवदीयों के क्रीड़ा स्थान में, पूर्व कृत धर्म साधनता को प्राप्त हुवा है, सर्व अधर्म का केवल इतने में ही नाश होने से ॥२॥

श्लोक—**कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः ।**
तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुस्ते कृपयान्विताः ॥३॥

१—जन्तु

श्लोकार्थ—उन यदु कुमारों ने कूप में पर्वत समान एक गिरगिट को देखा, जिससे वे अचम्भे में पड़ गए और उनको उस पर दया उत्पन्न हुई, अतः उसके निकालने का वे यत्न करने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—**कृकलासमिति** जातिविशेषः। स भवति प्रायेण सूक्ष्मः। गिरिनिभत्वं तस्याश्चर्यकरम्। ततस्तान् दृष्ट्वा समारोढुमियेष, न तु शक्तः, अर्धस्थाने समागत्य पुनः पुनः पतति। ततस्तददृष्टवशात् हन्तव्येऽपि शरीरे दयोत्पन्नेति तेषामुद्धारार्थं प्रयत्नमाह तस्य **चोद्धरणे यत्नं चक्रुरिति**। **चोऽपीत्यर्थे**। वस्तुतस्तु हन्तव्य एव। 'अपि कृकलास'मित्यत्र श्रुतौ तथा निरूपणात्। ततो हस्तात्पतितं तं बहव एव बाधस्तादुत्तीर्य कृपया पीडिताः ॥३॥

व्याख्यार्थ—गिरगिट बहुत करके सूक्ष्म होता है, वह यहां पर्वत सदृश होने से अचंभा उत्पन्न करने वाला हुआ, पश्चात् उसका बाहर निकालने के लिये ऊपर खीचने लगे किन्तु निकाल न सके, आधे में आकर फ़िर गिर पड़ता था, प्रारब्धवश मृत शरीर में दया उत्पन्न हो गई, इसलिये उसको बाहर निकालने का भी यत्न करने लगे 'च' शब्द का यह 'भी' अर्थ है, वास्तविक तो वह मारने योग्य ही है क्योंकि 'अपि कृकलासं' इस श्रुति में यह आज्ञा है, पश्चात् कितनेक दया युक्त हो उसको निकालने के लिये नीचे से ऊपर कर ॥३।

श्लोक—चर्मजैस्तान्तवैः पाशैर्बद्ध्वा पतितमर्भकाः।
नाशक्नुवन्समुद्धर्तुं कृष्णायाचख्युरुत्सुकाः ॥४॥

श्लोकार्थ—उन बालकों ने उस गिरे हुए को ऊपर कर, चर्म पर उसको लिटाकर और चारों ओर चर्म के तन्तुओं से बनी पाशों से बाँध के निकालने के लिए प्रयत्न किया, किन्तु निकाल न सके, तब उत्सुक हो श्रीकृष्ण को कहने लगे ॥४॥

सुबोधिनी—चर्मभिः चर्मोपरि तं पातयित्वा परितस्तान्तवपाशान् बद्ध्वा सर्वतः स्थिताः तदुद्धारे यत्नं कृतवन्तः। तथापि समुद्धर्तुं नाशक्नुवन्, अलौकिकत्वात्। **अलौकिके भगवानेव साधनमिति** मत्वा कृष्णायाचख्युः। यद्यपि विशेषसाधनैरुद्धर्तव्यो भवति, तथापि उत्सुकाः सन्तः कृष्णायैवाचख्युः। **औत्सुक्यं चित्तोल्लासो विवेकासहिष्णुः** ॥४॥

व्याख्यार्थ—चर्म पर उसको गिरा कर चारों तरफ चर्म के तन्तुओं से बनी हुई पाशों से उसको बान्ध कर चारों तरफ स्थित हो के उसको निकालने का प्रयत्न करने लगे, तो भी निकाल न सके, क्योंकि अलौकिक कार्य था, अलौकिक कर्म करने में भगवान् ही साधन हैं, यों समझ कर श्रीकृष्ण को प्रार्थना करने लगे, यद्यपि विशेष साधनों से निकल सकता था तो भी शीघ्र निकले ऐसी उत्सुकता के कारण श्रीकृष्ण को ही कहने लगे–उत्सुकता का तात्पर्य है, चित्त का उल्लास वह वस्तु है जिसमें विवेक सहा नहीं जाता है अर्थात् बिना विचार किए वह कार्य उसी समय कर लिया जाता है ॥४॥

आभास—तदा भगवान् योनित एव तदुद्धारं कृतवानित्याह **तत्र गत्वेति**।

आभासार्थ—तब भगवान् ने उसका उस योनि से ही उद्धार किया, यह 'तत्र गत्वा' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—तत्र गत्वारविन्दाक्षो भगवान्विश्वभावनः।
वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ॥५॥

श्लोकार्थ—कमल नयन, विश्व के उद्धारक भगवान् ने वहाँ जाकर, उसको देख, लीला से वाम हस्त से उसका उद्धार किया ॥५॥

सुबोधिनी—दृष्ट्यैव सर्वतापहारकः भगवान् सर्वसमर्थः विश्वमेवानुभावयतीति उद्धारकरूपमवलम्ब्यागत इति तदुद्धारोऽपि तस्य युक्त एव। उद्धारमाह **वीक्ष्योज्जहारेति**। ज्ञात्वास्य कर्मभोगक्षयो जात इति। **वामेन करेणेति**। लीलां सामर्थ्यातिशयं च ज्ञापयितुम्। **वामो हस्तः दैत्यहितकारी, दक्षिणो देवानामिति** देवपक्षपातिना तदुद्धाराभावः सूचितः। **लीलयेति**। स्वस्य कारणाभावादपि यथा अन्या लीला कदाचिद्धर्ममपि बाधते ॥५॥

व्याख्यार्थ—दृष्टि से ही सर्व के ताप हरने वाले, सर्व समर्थ भगवान् उद्धारक स्वरूप का अवलम्बन कर वहां पधारे, उसका उद्धार करना भी आपको उचित ही था, अब उद्धार का प्रकार कहते हैं, इसके कर्म भोग का क्षय हो गया है यह जान कर, लीला पद से सामर्थ्य की अधिकता जताई है, वाम हस्त दैत्यों का हितकारी है, दक्षिण हस्त देवों का कल्याण करने वाला है, इसलिये दक्षिण कर से इसका उद्धार नहीं किया है, वह लीला से अर्थात् अपनी अतिशय सामर्थ्य से किया है, अपने से उद्धार करने का कोई कारण नहीं था तो भी जैसे दूसरी लीलाएँ कभी धर्म का भी बाध करती हैं, वैसे इस लीला ने भी किया है।

आभास—ततो यज्जातं तदाह **स उत्तमश्लोकेति**।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह 'स उत्तम' श्लोक में कहते है।

श्लोक—स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो विहाय सद्यः कृकलासरूपम्।
संतप्तचामीकरचारुवर्णः स्वर्ग्यद्भुतालंकरणाम्बरस्रक् ॥६॥

श्लोकार्थ—उत्तम श्लोक भगवान् के हस्त के स्पर्श होते ही उसका शीघ्र ही गिरगिट का रूप निवृत्त हो गया और तपे हुए वर्ण के समान सुन्दर वर्ण वाला, अद्भुत अलङ्कार, वस्त्र तथा माला धारण किया हुआ देव स्वरूप हो गया ॥६॥

सुबोधिनी—करेणाभिमृष्टः भगवत्स्पर्शेन कारणदोषे निवृत्ते उपष्टम्भकाभावात् (तत्) शरीरे पतिते स्वर्गोपभोगयोग्यं शरीरं प्राप्तवानिति तद्वर्णयति संतप्तेति। आवर्त्यमानसुवर्णवर्णः। **स्वर्गि** स्वर्गसम्बन्धि स्वर्गोऽस्यास्तीति। स्वर्गिणामपि वा अद्भुतानि अलङ्करणान्यम्बराणि स्रजश्च यस्मिन्। तादृशो जात इत्यर्थात् बभूवेति। अस्तिभवत्योः सर्वत्र प्रयोगात् ॥६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के हस्त स्पर्श से गिरगिट योनि के जो कारण दोष थे वे निवृत्त हो गये और उस देह को रोक रखने वाला दूसरा कोई नही था, इसलिये वह शरीर निवृत्त हो गया और भगवान् के स्पर्श रूप कारण से स्वर्ग का उपभोग करने योग्य शरीर प्राप्त किया, जिसका वर्णन 'सन्तप्त' श्लोकार्द्ध से करते है, चमकते हुए सोने के समान वर्ण वाला स्वर्ग में रहने वालों को भी अद्भुत देखने में आवे वैसे अद्भुत अलङ्कार, वस्त्र और मालाओं से सुसज्जित शरीरधारी हो गया, अस्ति और भवति का सर्वत्र प्रयोग करने से ।६॥

आभास—ततो निर्धार्य स्वरूपं ज्ञापयित्वा प्रेषणीय इति स्वतः कथने विश्वासो न जायेतेति तद्द्वारैव वक्तुं तद्वृत्तान्तं पप्रच्छ ।

आभासार्थ—वह कौन है ? यह निर्धार कर और उसके स्वरूप का सबको ज्ञान कराके पश्चात् भेजना चाहिये, अपने कहने पर कदाचित् विश्वास न हो, इसलिये उसके द्वारा ही कहलाते हैं।

श्लोक—पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।
कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो देवोत्तम त्वां गणयामि नूनम् ॥७॥

श्लोकार्थ—मुक्तिदाता भगवान् उसका कारण जानते हुए भी मनुष्यों में प्रसिद्ध करने के लिए पूछने लगे—हे महाभाग ! ऐसे सुन्दर रूपवाले आप कौन हैं ? मैं निश्चय से आपको देवों में उत्तम देव गिनता हूँ ॥७॥

सुबोधिनी—ज्ञात्वा प्रश्नो न कर्तव्य इति सर्वेषां सामान्यनिरोधं कर्तुं अयुक्तमपि करोतीति विद्वानपीत्युक्तवान्। **विधिरत्र प्रमेये न नियामक इति न भगवतो विहितं निषिद्धं वा किञ्चिदस्ति।** वचनस्यापि प्रयोजनमाह **जनेषु विख्यापयितुमिति**। तस्य दानं लोके विख्यापनीयम्, अन्यथा 'धर्मः क्षरति कीर्तना'दिति तस्य धर्मक्षयो भवेत्। भगवता पृष्टेन तु वक्तव्यमेव। नन्वेतदपि किमर्थमिति चेत्, तत्राह **मुकुन्द** इति। अग्रे मोक्षो देयः, स च कीर्तिमत एव भवतीति कीर्तिख्यापनार्थं निरोधार्थं वा। अतिकृतिमानन्यत्र न प्रवर्तत इति निरोधानन्तरमेव मुक्तिलीलेति। प्रश्नमाह **कस्त्वं महाभागेति**। भाग्यं धर्मस्योत्तमं तेजः तदुपकरोति सर्वत्र, महद्भाग्यं यस्येति। **महाभागेति** सम्बोधनमकस्मादेवंभावे तव सुकृतमस्तीति ज्ञापितम्। **वरेण्यरूप** इति। सहजमेतन्न रूपम्, अत एवं ज्ञायते किञ्चिदुत्कृष्टं कर्मास्तीति, अन्यथा अपृष्टं स्वधर्मं कथं वदेत्, कथिते स्वर्गो न भविष्यतीति तच्छङ्कां निवारयितुमाह **देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनमिति**। देवेषु स्वर्गः प्रतिष्ठितः, तत्राप्युत्तमेषु, तत्राप्यहं गणयामि, नहि मद्गणितं कश्चिदन्यथा कुर्यात् ॥७॥

व्याख्यार्थ—'विद्वान्' जानकार पद भी कहा, जिसका आशय प्रकट करते हैं जिस विषय का ज्ञान हो उस विषय का प्रश्न नहीं करना चाहिये फिर भी भगवान् ने जानते हुए भी जो प्रश्न किया उसका कारण यह है कि भगवान् को इस लीला से सर्व का सामान्य निरोध करना था, अतः उचित न होने पर भी प्रश्न किया है और प्रमेय मार्ग में विधि नियामक नहीं होती है, इसलिये भगवान् जो करते हैं उसमें कोई विधि आदि निषेध नहीं कर सकता है इस प्रकार पूछने का प्रयोजन कहते हैं कि मनुष्यों में प्रसिद्ध करने के लिये यह प्रश्न है, उसने इतना विशेष दान किया है जिसकी लोक में प्रसिद्धि होनी चाहिये, भगवान् नहीं पूछते तो वह नहीं कहता क्योंकि 'धर्मः क्षरति कीर्त्तनात्' प्रसिद्ध करने से अर्थात् मैंने इतना धर्म किया है, यों कहने से किया हुआ धर्म नष्ट हो जाता है, किन्तु भगवान् ने पूछा है इसलिये उनकी आज्ञा पालनार्थ कहना ही चाहिये, यों भी क्यों कहना चाहिये ? इस पर कहते हैं कि आप ही तो मुक्ति देने वाले हैं, आगे मोक्ष देने योग्य हैं और वह कीर्त्तिमान् को ही होता है, इसलिये यश प्रकट करने के लिये अथवा निरोध के लिये पूछा है, अति कीर्त्तिवाला अन्यत्र प्रवृत्त नहीं होता है इसलिये निरोध के अनन्तर ही मुक्ति लीला होगी, यों अब प्रश्न कहते हैं, 'कस्त्वं महाभागः' धर्म का उत्तम तेज भाग्य है वह सर्वत्र उपकार करता है, जिस आपका बड़ा भाग्य है, महाभाग यह सम्बोधन इस प्रकार के भाव में अचानक तेरा सुकृत हुवा है यह जताने के लिये दिया है, आपका यह रूप वरण करने योग्य है अर्थात् सुन्दरतम है, ऐसा रूप सहज नहीं होता है इससे जाना जाता है कि आपने कोई विशेष उत्तम कर्म किया है ? बिना पूछे अपना किया हुआ धर्म कर्म कैसे कहे ? कहने पर धर्म के फलरूप स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिये भगवान् ने कहा है कि 'देवोत्तमं त्वं गणयामि' तुझे निश्चय से देवों में उत्तम गिनता हूँ, देवों के लिये स्वर्ग ही है, उनमें भी तुझे में उत्तम देवों में गिनता हूँ मेरे गिनने को कोई अन्यथा नहीं कर सकता है ॥७॥

आभास—दोषोऽपि वक्तव्य इत्याह **दशामिमां वेति**।

आभासार्थ—'दशामिमां वा' इस श्लोक से पूछते हैं कि इस दशा(गिरगट योनि)को प्राप्त कराने वाला दोष भी बताना।

श्लोक—दशामिमां वा कतमेन कर्मणा संप्रापितो ह्यतदर्हः सुभद्र ।
आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो यन्मन्यसे चेत् क्षममत्र वक्तुम् ॥८॥

श्लोकार्थ—हे सुभद्र ! तुम इस दशा के योग्य नहीं हो, फिर भी इस दशा को प्राप्त हुए, तो वैसा कौनसा कर्म तुमने किया ? यदि बता सकते हो, तो बताईये ।८।

सुबोधिनी—उत्तमस्य अपकृष्टं कर्म न सम्भवति। येन कृकलासरूपं भवेत्। अत उत्कृष्टमेव कर्म प्रकारविशेषापन्नं सत्कर्मैव किञ्चिद्भविष्यतीति तं प्रकारं श्रोतुं प्रश्नः कतमेनेति। सम्यक् प्रापणं बहुकालस्थानं तत्र सूचयति। ननु जायन्ते निकृष्टेष्वप्युत्कृष्टसुखजनकानि कर्माणि, उत्कृष्टेष्वपि निकृष्टभावजनकानि। तस्मात् प्रश्नो व्यर्थ इत्याशङ्क्याह **अतदर्हं** इति। देवगत्योत्कृष्टत्वमिति चेत्, तत्राह **सुभद्रेति**। सुभद्रस्य भद्रं स्वाभाविकम्, अभद्रमेव वशेषिकमिति। किञ्च।

आत्मानं पूर्वसिद्धमाख्याहि। **विवित्सतामिति**। त्वन्मुखतो वेदितुमिच्छास्माकम्, नतु स्वतः। लौकिकन्यायेन माहात्म्यज्ञानाभावे सङ्कोचान्न वदिष्यतीत्याह **यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुमिति**। नोऽस्माकं श्रोतुं क्षमं मन्यसे। क्षमत्वेऽपि अत्र वक्तुं चेन्मन्यसे, पश्चानाग्रे तदा वक्तव्यमिति भावः ॥८॥

व्याख्यार्थ—उत्तम पुरुष से ऐसा नीच कर्म नहीं होता है, जिससे गिरगिट योनि की प्राप्ति हो, अतः उत्तम कर्म ही विशेष प्रकार को प्राप्त होकर वैसे फल का दाता बना होगा, इसलिये उस प्रकार को सुनने के लिये प्रश्न किया है कि 'कतमेन' कौन से कर्म, कारण हुए हैं? जो बहुत समय तक इस योनि में आप रहे हैं, निश्चय से यों भी कदाचित् हो जाता है कि निकृष्टों से भी उत्कृष्ट सुख देने वाले कर्म हो जाते हैं और उत्कृष्टों से निकृष्ट भावों को उत्पन्न करने वाले कर्म बन जाते हैं यदि यों हो गया हो तो प्रश्न ही व्यर्थ है। इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि 'अतदर्हः' उत्तम से अपकृष्ट कर्म हो नहीं सकता है, यदि कहो कि दैव गति से उत्कृष्टत्व है तो इस शङ्का को मिटाने के लिए 'सुभद्रः' सम्बोधन दिया है, जो सुभद्र है उसके कर्म स्वभाविक भद्र ही होते हैं विशेष अवस्था में अभद्र हो जाता है, पूर्व सिद्ध अपना कर्म बताईये, हमको वह आपके मुख से सुनने की इच्छा है, न कि स्वतः जान लेने की इच्छा है, हम उस कर्म को सुनने के योग्य है यों मानते हो तो और सबके आगे सुना सकते हो तो कहिये, इस प्रकार भगवान् ने कहा जिसका आशय यह है कि यदि भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान न होगा तो लौकिक न्याय[1] से सङ्कोच कर कहेगा नहीं और जो माहात्म्य ज्ञान होने पर भगवान् के समीप दास को सङ्कोच नहीं होता है इसलिये कहना ही चाहिये अतः कहेगा ही ॥८॥

आभास—ज्ञात्वा भगवत्स्वरूपं पुण्यवशेन लोकभाषापि बुद्धेति भगवदाज्ञां कर्तुं स्ववृत्तान्तमुक्तवानित्याह **इतीति**।

आभासार्थ—पुण्यों के कारण भगवत्स्वरूप जाना और भगवान् ने जो लोक भाषा में प्रश्न किया वह भी समझ लिया, इसलिये भगवदाज्ञा पालने के लिये 'इति स्म' श्लोक से अपना जो वृत्तान्त कहा उसका वर्णन श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**इति स्म राजा संपृष्टः कृष्णेनानन्तमूर्तिना।**
माधवं प्रणिपत्याह किरीटेनार्कवर्चसा ॥९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि अनन्तमूर्ति श्रीकृष्ण ने इस प्रकार जब

१—आयुर्वित्तं गृह छिद्रं मन्त्र मैथुन भेषजम्, तपो दानापमानंच नव गोप्यःनि यत्नतः। लौकिक न्याय यह है कि ये नव १-आयु, २-धन, ३-गृह का छिद्र, ४-मन्त्र, ५-मैथुन, ६-औषध, ७-तपस्या, ८-दान और ९-अपमान ये नव किसी को भी बताने नहीं-यत्न पूर्वक छिपाने योग्य है।

प्रश्न किया, तब सूर्य सम चमकने वाले मुकुट से माधव (अनिरुद्ध मूर्ति) को प्रणाम कर उत्तर देने लगा ॥९॥

सुबोधिनी—**स्मेति** प्रसिद्धे। प्रश्नः क्लिष्टं कर्म भवतीति स्वदोषनिवृत्त्यर्थं प्रसिद्धिः प्रमाणत्वेनोक्ता। परीक्षितोऽपि शङ्कां व्यावर्तयितुं **राजेति**। कृष्णेन सदानन्देन सम्भाषणेनापि सुखं भवतीति। भक्तिहितेन वा। **अनन्तमूर्तिनेति**। अनन्ता मूर्तयो यस्येति। तस्य न सर्वात्मना स्वरूपं प्रकाशितम्। तस्य तावन्मात्रेणैवाभिव्यक्तः। अथवा। पूर्वप्रकरणयोरन्या मूर्तिः, अस्मिन्प्रकरणे चान्या मूर्तिरिति ज्ञापयितुमनन्तमूर्तित्वम्। ततो भगवन्तं दृष्ट्वा, श्रीनिकेतत्वात् भगवानेवेति विज्ञाय, माधवं प्रणिपत्य, अर्कवर्चसा किरीटेनोपलक्षितः भगवतोऽपि चरणारविन्दं प्रबोधयन्, भक्तांश्चोद्दीपयन् महानप्येवं जायत इति ब्राह्मणातिक्रमाभावाय ॥९॥

व्याख्यार्थ—'स्म' प्रसिद्धि अर्थ में दिया है, प्रश्न क्लिष्ट कर्म होता है इसलिये अपने दोष निवृत्ति के लिये प्रसिद्धि, प्रमाणपन से कही है, परीक्षा किये हुए की भी' शङ्का मिटाने के लिये 'राजा' कहा है, श्रीकृष्ण सदानन्द स्वरूप है, जिनके सम्भाषण से भी सुख प्राप्त होता है, अथवा 'कृष्णेन' नाम से यह भी बताया है कि भक्तों के हितकारी हैं, 'अनन्तमूर्त्तिना' विशेषण से बताया है कि आपकी अनन्त मूर्तियां हैं, उनका सर्वात्मभाव से स्वरूप प्रकाशित नहीं हुआ है, उसके आगे उतने ही प्रकट हुवे हैं, अथवा अनन्त मूर्त्ति कहने का यह आशय है कि पहले तामस और राजस प्रकरणों में दूसरी मूर्त्ति थी, अब इस प्रकारण में दूसरी मूर्ति है, पश्चात् भगवान् को देख कर, श्री के निवास स्थान होने से भगवान् ही है, यों जानकर सूर्य सम तेज वाले मुकुट से माधव को प्रणाम किया, ऐसे मुकुट से अपनी भी पहचान दी, तथा भगवान् के चरणारविन्द को भी जताया एवं भक्तों को प्रकाशित करने लगे, ब्राह्मणों के अतिक्रम के अभाव से महान् पुरुष भी इस प्रकार होते हैं ॥९॥

आभास—स्ववृत्तान्तमाह **नृगो नामेति** षोडशभिः।

आभासार्थ—'नृगो नाम' इस श्लोक से लेकर १६ श्लोको में अपना वृत्तान्त कहता है।

श्लोक—नृग उवाच—**नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो।**
दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु! इक्ष्वाकु का पुत्र नृग नाम राजा मैं हूँ, दान करने वालों के नाम सुनते समय मेरे नाम ने भी आपके कान का स्पर्श किया होगा? ॥१०॥

सुबोधिनी—नृगः पूर्वमपि प्रसिद्ध इक्ष्वाकोस्तनयः। शतमध्ये विकुक्षिनिमिदण्डकानन्तरमयमेव प्रसिद्धः। **प्रभो** इति सम्बोधनं प्रभुस्थाने मिथ्याभाषणाभावं ज्ञापयति। ननु का प्रसिद्धिः, येन त्वं ज्ञायस इत्याशङ्क्याह **दानिष्वाख्यायमानेष्विति**। **दानिनो दानकर्तारः, नतु दातारः उदाराः। दानी विध्यपेक्षः, दाता तु निरपेक्ष** इति। यदि ते कर्णमस्पृशम्, तदाह प्रसिद्धः। राजेति, नृग इति, दानीति च रन्तृन् कीर्तिद्वारा गच्छतीति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—इक्ष्वाकु का पुत्र नृग पहले भी प्रसिद्ध है, सौ के मध्य में, विकुक्षि, निमि और दण्डक के बाद यह ही प्रसिद्ध है, 'प्रभो' संबोधन इसलिये दिया है कि प्रभु के स्थान पर वा सामने मिथ्या भाषण नहीं किया जा सकता है, कौनसी प्रसिद्धि है ? जिससे तू जाना जा सका है, यदि यह शङ्का हो तो उसके मिटाने के लिये कहता है कि दान करने वालों के नामों में मेरे नाम ने यदि आपके कर्ण को स्पर्श किया हो तो मैं प्रसिद्ध हूँ, 'दानी' दान करने वाला भी होता है और 'दाता' उदार होता है, दोनों में भेद यह है कि 'दान' करने वाला शास्त्र की विधि की अपेक्षा रखता है अर्थात् शास्त्र की विधि के अनुसार देता है, और 'दाता' विधि की परवाह नहीं करता है, राजा नृग दानी हैं, जिस दान से कीर्त्ति द्वारा मनुष्य आदि में प्रसिद्धि वाला हुआ है ॥१०॥

आभास—श्रवणानन्तरं ज्ञानं प्रसिद्धिहेतुत्वेन साधारणं निरूप्य, असाधारणप्रकारेण ज्ञानमाह **किं नु तेऽविदितं नाथेति ।**

आसाभार्थ—प्रश्न श्रवण के अनन्तर विचारा कि उत्तर देने से प्रसिद्धि होगी, इसलिये साधारण ज्ञान का वर्णन कर, अब 'किं नु तेऽविदितं' श्लोक में असाधारण प्रकार से ज्ञान कहते हैं।

श्लोक—किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतात्मसाक्षिणः ।
कालेनाव्याहतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ॥११॥

श्लोकार्थ—हे नाथ ! सर्वभूतों के अन्तःकरण के साक्षी आपसे क्या गुप्त है ? अर्थात् आप सर्व जानते ही हो, कारण कि काल आपकी दृष्टि का प्रतिबन्ध नहीं कर सकता है, तो भी आपकी आज्ञा से उत्तर दूँगा ॥११॥

सुबोधिनी—हे नाथ, अनेनोद्धारः त्वावश्यक एवेत्युक्तम् । नु इति वितर्के । किं वा ते अविदितम्, किन्तु सर्वमेव विदितमिति । तत्र हेतुः, सर्वभूतानां अन्तःकरणसाक्षिणः । ननु कालव्यवधाने जीवोऽपि स्वानुभूतं विस्मरति, तथा भगवतोऽपीति कथं तत् ज्ञानमिति चेत्,तत्राह **कालेनाव्याहतदृश** इति । तस्मात् ज्ञानार्थं प्रतिज्ञापनप्रयोजनाभावात् न वक्तव्यम्, तथापि तवाज्ञया वक्ष्ये, अन्यथा आज्ञोल्लङ्घनं स्यादिति ॥११॥

व्याख्यार्थ—हे नाथ ! इस संबोधन से यह आशय प्रकट किया है कि, आप स्वामी हैं, इसलिये आपको मेरा उद्धार अवश्य करना है, 'नु' पद विशेष तर्क में है, क्या आपको विदित नहीं है ? अर्थात् आप सब जानते हैं,मैं सब कैसे जानता हूँ? जिसके उत्तर में कहता है कि आप सर्व जीवों के अन्तःकरण के साक्षी हैं काल बीच में प्रतिबन्धक होने से जीव भी अपने अनुभव को भूल जाता है वैसे भगवान् को भी, इसलिये उनको वह ज्ञान कैसे रहेगा, यदि यों कहते हो तो कहता है कि, आपकी दृष्टि को काल ने प्रतिबन्ध नहीं किया है, इसमें आपको सर्व ज्ञान है जिस कारण से आपको बताने का कोई प्रयोजन नहीं है, तो भी आपकी आज्ञा है इसलिये कहता हूँ, न कहने से आज्ञा का उल्लङ्घन होगा ।११।

आभास—आदौ स्वस्य दानित्वमाह **यावत्यः सिकता भूमेरिति ।**

आभासार्थ—आदि[1] में यावत्यः सिकताः' श्लोक से अपना दानीपन कहता है।

श्लोक—यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः ।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददं स्म गाः ॥१२॥

श्लोकार्थ—जितने पृथ्वी के रजः कण हैं तथा जितने आकाश में तारे हैं और जितनी वर्षा की धाराएँ हैं, मैंने उतनी गौ दान में दी हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—रेणवस्तामसाः, तारकाः सात्त्विकाः, वर्षधारा राजसाः दृष्टान्तीकृताः, असङ्ख्यातास्तिस्रोऽपि । त्रिविधा अपि गावः असङ्ख्याता दत्ता इति । अहमददम् । स्मेति प्रमाणम् । तुल्यसङ्ख्यात्वे विवक्षिते तामेव सङ्ख्यां वदेत्, परार्धातिरिक्ता सङ्ख्यापि नास्ति । तस्मादसङ्ख्यातदाने त्रिविधदाने च दृष्टान्ताः । त्रिविधदाने प्रयोजनं चोक्तम् । भूमिसिकता उपादानभूताः, तारकाः प्रकाशकाः, वर्षधाराः पोषिका इति । असङ्ख्यातपदे प्रयुज्यमाने अल्पप्रतीतिः स्यात्, तत एवमुक्तम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—रजः कण तामस हैं, तारे सात्विन्क हैं, वर्षा की धाराएँ राजस हैं, इन दृष्टान्तों से यह जताया हैं कि जैसे ये, तीन असङ्ख्य हैं, वैसे ही मैंने जो गौ दी हैं वे भी तीन प्रकार की और अगणित थी, यदि सङ्ख्या की समानता होवे तो उस सङ्ख्या को कहे परार्ध से अतिरिक्त कोई सङ्ख्या भी नहीं है, इस कारण से अगणित तथा तीन प्रकार के गौओं के दान करने में ये तीन दृष्टान्त दिये हैं और निबन्ध में त्रिविध दान का प्रयोजन भी कहा[2] है पृथ्वी के रजः कण उपादान भूत हैं, तारे प्रकाशक हैं, वर्षा की धाराएँ पोषिका हैं, असङ्ख्यात पद श्लोक में नहीं जोड़ा है,जिसका कारण यह है कि उस पद के जोड़ने से अल्प की प्रतीति हो जाती, इसलिये असङ्ख्यात आदि पद न देकर यों ही कह दिया है ॥१२॥

आभास—गवां गुणानाह **पयस्विनीरिति ।**

आभासार्थ—'पयस्विनी' श्लोक से गोओं के गुण कहते हैं।

श्लोक—पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूपगुणोपपन्नाः कपिला हेमशृङ्गीः ।
न्यायार्जिता रूप्यखुराः सवत्सा दुकूलमालाभरणा ददावहम् ॥१३॥

१—दोषों के कहने से प्रथम
२—सत्वादिगुण वाला दान दोष वाला है और निर्गुण दान दोष रहित कहा है ।

श्लोकार्थ—अधिक दूध वाली, प्रथम ही प्रसूत हुई, शान्त स्वभाव वाली, सुन्दर, गुणों वाली, कपिलाएँ, सुवर्ण के शृङ्गों वाली, न्याय से इकट्ठी की हुई, चाँदी के खुरों सहित, बछड़ों वाली, वस्त्र युक्त, माला युक्त और आभूषण युक्त, इस प्रकार १३ गुणों वाली गौ दान में दी हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—दुग्धाधिक्ययुक्ताः। तरुण्यः प्रथमप्रसूताः। **शीलम**मारणादिशान्तस्वभावः। रूपं सौन्दर्यम्। एतैर्गुणैरुपपन्नाः। अथवा। गुणाः सत्पुत्राः। दुग्धे घृताधिक्यमारोग्यजनकत्वं च गुणाः। प्रायेण बह्व्यः कपिलाः। **दाने कपिला विशिष्टेति। हेमशृङ्गीः** सुवर्णशृङ्गयुक्ताः। न्यायार्जिताः, नत्वतिक्रमेण प्राप्ताः। रूप्यखुराः **सवत्सा** इति विधिप्राशस्त्यार्थमुक्तम्। तेन विहिता एव दत्ताः, नत्वविहिताः, नाप्यविहितप्रकारेण। दुकूलानां माला यासु। दुकूले मालाः आभरणानि च वा। एवं त्रयोदशगुणाः कथिताः ॥१३॥

आभासार्थ- वे गौ दी, जिनमें अधिक दूध था, जिन्होंने पहले ही बच्चा जना था, किस को भी मारना नहीं इस प्रकार शान्त स्वभाव वाली जो गौ थी, जो रूप से सुन्दर थीं, इन गुणों से युक्त, अथवा 'गुण' का तात्पर्य 'सत्पुत्र' है, दूध भी वह था जिससे घृत विशेष निकलता था, यह आरोग्य उत्पन्न करने वाला गुण है, बहुत करके कपिला धेनु विशेष थी, क्योंकि दान में कपिला गौओं की विशेषता है, वे सब सोने के शृङ्ग और चांदी के खुर तथा वत्स सहित थीं, एवं न्याय से इकट्ठी की हुई थीं, न कि अन्याय से लाई गई थी, दुपट्टों, माला तथा आभरणों से सुसज्जित करके दी थीं, इस प्रकार तेरह गुण कह सुनाये ॥१३॥

आभास—पात्राभावे सर्वं व्यर्थमिति पात्रधर्मानाह **स्वलङ्कृतेभ्य** इति।

आभासार्थ—यदि जिनको दान दिया जावे वे सुपात्र नहीं हो तो दान व्यर्थ ही है, इसलिये 'स्वलङ्कृतेभ्यो' श्लोक में सुपात्रों के धर्म कहते हैं।

श्लोक—स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भ्यः सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः।
तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भ्यः प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥१४॥

श्लोकार्थ—जिन ब्राह्मणों को दान दिया, वे विधि के अनुसार अपने गुणों से सुशोभित थे, अच्छे गुण तथा शीलवाले थे, दीन एवं कुटुम्बी थे, निष्कपट, आचरणवाले, तपस्वी थे, यथा विधि वेद और वेदार्थ जानने वाले, निर्लोभी और परोपकारी तरुण ऐसे ब्राह्मणों में जो श्रेष्ठ थे, उनको दान दिया ॥१४॥

सुबोधिनी—विधिप्रकारोलङ्करणादि, गुणाः विद्या., शीलमाचारः सुस्वभावश्च। **सीदत्कुटुम्बेभ्य** इति। गृहीतस्य शीघ्रं सद्विनियोगः। ऋतं व्रतं येषामिति ब्राह्मणस्य सहजो धर्मो निरूपितः। **तपः** इन्द्रियनिग्रहः, **श्रुतं** यथाविधि, **ब्रह्म** वेदो वेदार्थश्च, **वदान्यत्वमलुब्धता, सत्त्वं** परोपकारत्वं च। तपः श्रुतं ब्रह्म च येषां ते तपःश्रुतब्रह्माणः, ते च ते वदान्याश्च सन्तश्च। **युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्य** इति द्वादशगुणा ब्राह्मणानामुक्ताः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—जो सद्गुण, विद्या, शील, आचार और सुन्दर स्वभाव से अलङ्कृत थे, कुटुम्बी और दीन थे जिससे दान किये हुए पदार्थ का शीघ्र ही विनियोग हो जावे, सत्य ही जिनका व्रत है, यह ब्राह्मणों का सहज धर्म कहा है, तपस्या अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह विधि अनुसार शास्त्र श्रवण, वेद तथा वेद का अर्थ सुन कर जान लेना, निर्लोभी और परोपकारत्व आदि गुण युक्त ऐसे तरुण ब्राह्मण श्रेष्ठों को दान दिया, इसी प्रकार ब्राह्मणों के १२ गुण कहे ॥१४॥

आभास—दानान्तराण्यप्याह **गोभूहिरण्येति।**

आभासार्थ—'गोभूहिरण्य' इस श्लोक से दूसरे पदार्थों का दान भी किया वह वर्णन करते हैं।

श्लोक—गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः।
वासांसि रत्नानि परिच्छदान्नथानिष्टं च यज्ञैश्चरितं च पूर्तैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—गौ, पृथ्वी, सुवर्ण, घर घोड़ा, हाथी, दासी सहित कन्या, तिल चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न और सर्व प्रकार का सामान, रथ; ये दान भी मैंने किए तथा यज्ञ तथा कूप आराम आदि के भी पदार्थ बनवाए ॥१५॥

सुबोधिनी—एकदा असङ्ख्यातगोदानं बहुभ्यः। ततः पृथगपि गावो दत्ताः। भूमिर्वृत्तिकरी। हिरण्यदानं स्वतन्त्रम्। आयतनदानं गृहदानम्। अश्वदानं हस्तिदानं च। कन्यादानं ब्राह्मणाय, पोषितानां कन्यानाम्। **औरस्याः क्षत्रियानां विवाहितायां जातायाः राजकन्यायाः स्वयंवर एव। सदासी**रिति पारिबर्हसहिताः। दासीदानं वा कन्यादानेन सहोच्यते। **तिलाः** तिलपर्वताः। **रूप्यं** रूप्यपर्वतः। **शय्याः** सुखशय्यादानम्। **वासांसि** नानाविधानि। तथैव नव रत्नानि। **परिच्छदान्** कञ्चुकितानादीन्। रथाश्च गजरथाश्वरथादिभेदाः। एवं पञ्चदशदानानि सर्वदा क्रियन्ते। ततः यज्ञैरिष्टमग्निष्टोमादयश्च कृताः। **पूर्तैश्च** चरितं कूपारामादयश्च धर्मार्थं कृताः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—किसी समय असङ्ख्यों धेनु बहुत ब्राह्मणों को दी, उस के पश्चात् पृथक् भी गायें दीं, जिससे आजीविका चले ऐसी पृथ्वी भी दी अर्थात् खेती के योग्य भूमि दी, सुवर्ण दान स्वतन्त्र किया, घर बना कर दान किये, घोड़े और हस्तियों का भी दान दिया, पाली हुई कन्याओं का दान दासियों के साथ तथा दहेज के साथ किया, विवाहित क्षत्राणी स्त्री से उत्पन्न और कन्याओं का तो स्वयंवर ही होता है, तिल के तथा चांदी के पर्वतसम ढ़ेर दिये, सुख पूर्वक नींद लेने के लिये शय्यादान किया, अनेक प्रकार के वस्त्र वैसे ही नव रत्न, अंगरखे चंदोबा आदि भी दान किये इस प्रकार १५ दान हमेशा किये जाते हैं इनके अतिरिक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञ किये, कूप, आराम आदि के भी पदार्थ बनवाये ॥१४॥

आभास—एवं धर्मपरायणे मयि कर्मवशादधर्मः कश्चनोत्पन्न इत्याह कस्यचिद्द्विज-मुख्यस्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म परायण मुझसे कर्म के वश से कुछ अधर्म हो गया, जिसका वर्णन 'कस्यचिद्विजमुख्यस्यः' श्लोक में श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।
संपृक्ताऽविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥१६॥

श्लोकार्थ—किसी उत्तम ब्राह्मण की गौ भूलकर मेरे गौओं के यूथ में मिल गई, इस बात को न जानकर वह गौ किसी अन्य ब्राह्मण को दान कर दी ॥१६॥

सुबोधिनी—अयं राजा दानाभिनिविष्टचित्तः स्वसेवकेभ्यः यथाकथञ्चिद्देयान् गृह्णाति, न तु जिज्ञासते । एवं बहुधा प्रमादे कदाचिद्भगवान् तत्पापं प्रकटितवान् । कश्चिद्ब्राह्मणः राजप्रतिग्रहरहितः स्वधर्मनिष्ठ आसीत् । तस्य गौः स्वस्थानादपगता राजगोषु प्रविष्टा । ततस्तामनवद्यलक्षणां तदधिकारिणो ज्ञात्वा दानार्थं नीतवन्तः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—इस राजा का चित्त तो दान करने में ही आसक्त था, अपने सेवकों को दानार्थ गौ लाने के लिये कह रखा था वे जो गौ लाते थे वह बिना परीक्षा किये अच्छी देख कर दान कर देता था, इस प्रकार कई बार दान कर दिया, अचानक अब भगवान् ने उसके पाप को किया कोई ऐसा स्व धर्म निष्ट ब्राह्मण था जो राजा का दान नहीं लेता था, उसकी गौ अपने स्थान को भूल कर राजा के गोधन् में मिल गई, पश्चात् अधिकारी उस गौ को सुन्दर लक्षण वाली जानके दान के लिये राजा के पास ले आये थे ॥१६॥

श्लोक—तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वोवाच ममेति तम् ।
ममेति प्रतिसंगृह्य नृगो मे दत्तवानिति ॥१७॥

श्लोकार्थ—उस गौ को ले जाते देखकर, गौ के स्वामी ने कहा कि यह गौ तो मेरी है, तब दान लेने वाले ब्राह्मण ने कहा कि यह गौ अभी मैं राजा नृग से दान में ले आया हूँ, अतः मेरी है ॥१७॥

सुबोधिनी—ततः प्रतिग्रहीतरि तां प्रतिगृह्य गच्छति सति तत्स्वामी मिलितो मध्ये ममेयं गौः कथं नीयत इति चाह । ततः प्रतिग्राही 'नृगो मे दत्तवा'निति ममेत्याह । **प्रतिसंगृह्य** । प्रतिग्रहं कृत्वा, प्रतिग्रहकथामप्युक्त्वा, नृगो दत्तवानिति ममेत्याह ॥१७॥

व्याख्यार्थ—नृग से गौ का दान लेकर जाने वाले ब्राह्मण को मार्ग में गौ का स्वामी ब्राह्मण मिल गया, उसने गौ को पहचान कर कहा,यह गौ तो मेरी है, आप कैसे ले जा रहे हो, तब दान लेने वाले ने उत्तर में कहा कि यह 'गौ' अब ही मुझे नृग ने दान कर दी है, इसलिये यह गौ मेरी है, इस प्रकार दान आदि की सारी कथा सुना कर कह दिया कि आपको नहीं है, मेरी है ॥१७॥

श्लोक—विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ ।
भवान्दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः ॥१८॥

श्लोकार्थ—अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाल दोनों ब्राह्मण इस प्रकार विवाद करते हुए मेरे पास आ गए, एक ने कहा—यह गौ मेरी है, दूसरे ने कहा—अब दान कर आपने मुझे दी है, अतः मेरी है । गौ के स्वामी ने कहा—आपने मेरी गौ का अपहरण किया है, यह सुनकर मुझे भ्रम हुआ कि कदाचित् इसकी गौ मेरे यूथ में आ गई हो । इस प्रकार मैं विपद में फँस गया ॥१८॥

सुबोधिनी—एवमुभौ विप्रौ विवदमानौ स्वार्थसाधकौ । प्रतिग्रहे सिद्धे ब्राह्मणस्य गौर्भवति, राज्ञश्च ब्राह्मणगवापहारदोषो भवति । दानप्रतिग्रहयोरभावे ब्राह्मणस्यैव गौः, नापहारदोषः, लोकदृष्ट्या धर्मे सिद्धे प्रतिग्रहस्य सिद्धत्वाद्दानस्य च प्रतिग्रहीतुरेव गौः, अपहारदोषप्रायश्चित्तं परं कर्तव्यम् । अलौकिकश्चेद्धर्मः देवाद्यधिष्ठितः, तदा अधर्मसिद्धं द्रव्यं धर्मविषयो न भवतीति न दानं सिध्यति । सुतरां प्रतिग्रहः । अतो विवादः । राजा चेदत्र दानमङ्गीकरिष्यति, तदा प्रतिग्रहः सेत्स्यति, अपहारश्च । अपहारदोषस्याधिक्यात् नाङ्गीकुर्याच्चेत्, तदा स्वामी गां नेष्यतीति स्वार्थसाधकौ विप्रौ अन्योन्यं विवदमानौ मां राजानमूचतुः । एकस्य वचनं **'भवान् दाते'**ति । तस्मिन्नङ्गीकृते द्वितीय आह **अपहर्ते**ति । हेतुपूर्वकं वृत्तान्तवचनं अर्थात् ज्ञायते । पश्चादपहारवचनं श्रुत्वा मे भ्रमः अभवत् यदेको न प्रार्थितः । एकस्मिन् दोषे अङ्गीकृतं तत्प्रायश्चित्तं स्वेच्छया कृतं स्यात् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार विवाद करने वाले दोनों ब्राह्मण अपना २ अर्थ सिद्ध करना चाहते थे, यदि सिद्ध है कि यह गौ, दान की गई हैं तो वह गौ, दान लेने वाले की होती है तो राजा पर गौ के अपहरण का दोष होता है, दान और प्रतिग्रह के अभाव में, अर्थात् राजा ने दान न की है और न ब्राह्मण ने दान में ली है तो गौ, मालिक की होती है, और राजा से अपहरण दोष मिट जायगा, लोक दृष्टि से धर्म सिद्ध हो जाने पर दान लेने और देने दोनों के सिद्ध हो जाने से दान लेने वाले की ही गौ होती है, किन्तु राजा पर अपहरण का दोष होने से उसका राजा को प्रायश्चित करना चाहिये, यदि धर्म अलौकिक, तथा देव आदि से अधिष्ठित है, अर्थात् अलौकिक आध्यात्मिक विचार से देखा जाय तो अधर्म से जो द्रव्य अपने पास आ गया है वह धर्म का विषय नही हो सकता है, सारांश यह है,यदि वास्तव में यह गौ दूसरे की है,राजा के यूथ में शामिल हो गई है, दूसरे का पदार्थ होने से दान नहीं किया जा सकता है अर्थात् वह दान नहीं है, अतः विवाद है, यदि राजा स्वीकार करता है कि यह मैंने दान की है तो, प्रतिग्रह और अपहरण दोनों सिद्ध होंगे, यदि राजा अपहरण दोष दान से

विशेष है यों समझ राजा इसको दान न माने तो गौ का स्वामी गौ ले जायेगा, इस प्रकार विवाद करते हुवे दोनों ब्राह्मण मुझ को कहने लगे, एक ने कहा आप 'दाता' हो दातापन के अङ्गीकार करने पर दूसरे ने कहा कि तुम अपहरण करने वाले हो, दोनों वृत्तान्त हेतु पूर्वक समझे जाते हैं, अपहरण के वचन सुनकर मुझे भ्रम हुआ, एक ने प्रार्थना नहीं की है एक दोष में तो उसका अङ्गीकृत प्रायश्चित अपनी इच्छा से किया होता ।।१८।।

श्लोक—**अनुनीतावुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रं गतेन मे ।**
गवां लक्ष प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम् ।।१९।।

श्लोकार्थ—यों होने पर मैं धर्म संकट में फँस गया, अतः दोनों को मैंने प्रार्थना की कि जो गौ को दे देगा, उसको मैं बहुत उत्तम लाख धेनु दूँगा ।।१९।।

सुबोधिनी - भ्रमादेकमकृत्वा स्वतस्तत्त्वापरिज्ञानात् अन्यस्यापृष्टत्वात् द्वयमपि सन्देहे स्थापयित्वा उभावनुनीतौ । गौः त्यक्तव्येत्यस्मिन्नर्थे यथा द्वितीयोऽप्यपहारः सिध्यति । ननूभयोरनुनये को हेतुः, तत्राह **धर्मकृच्छ्रं गतेन मे** इति । तस्य हृदये धर्मे निश्चयाभावात् कृच्छ्रं सङ्कटमेव प्राप्तवान् । अनुनयमाह । गवां लक्षं एतन्निष्कृतित्वेन दास्यामि । एषा प्रदीयतामिति ।।१९।।

व्याख्यार्थ—मैं तो स्वतः इस बात के तत्व को नहीं जानता था, भ्रम से एक का कहा न मान सका और दूसरे से न पूछने पर दोनों के वचनों ने सन्देह में डाल दिया, अतः दोनों को प्रार्थना की है, गौ छोड़ देनी चाहिये यों कहने पर छोड़ने वाले को हानि होती है, दोनों को प्रार्थना करने का क्या कारण था ? इस पर कहता है कि मैं धर्म संकट में फँस गया था उसके हृदय में अब क्या धर्म है ? ऐसा निश्चय न हो सकने से सङ्कट को ही प्राप्त किया, प्रार्थना करता है, इस एक गौ के छोड़ देने के बदले में लाख गौ दूँगा यह गौ दे दो ।।१९।।

आभास—ननु निष्कृतिग्रहणे दोषः स्यात्, कथं ग्राह्य इति चेत्, तत्राह **भवन्तावनुगृह्णीतामिति** ।

आभासार्थ—यदि कहो बदला लेने में दोष होगा, अतः वह कैसे लिया जाय ? 'भगन्तावनुगृह्णीता' इस श्लोक में इस शङ्का के परिहार का उपाय कहता है ।

श्लोक—**भवन्तावनुगृह्णीतां किङ्करस्याविजानतः ।**
समुद्धरत मां कृच्छ्रात्पतन्तं निरयेऽशुचौ ।।२०।।

श्लोकार्थ—भ्रम में पड़े हुए इस अज्ञ किङ्कर पर कृपा कीजिए, सङ्कट से अपवित्र नरक में गिरते हुए मुझे उद्धारिये ।।२०।।

सुबोधिनी—मदुपर्यनुग्रहेण निषिद्धमपि कर्तव्यमिति भावः । अनुग्रहे हेतुमाह **किङ्करस्येति** । तथापि सापराधो दण्ड्य एवेति चेत्, तत्राह **अविजानत** इति । विशेषेणायमर्थो न ज्ञात इति । अज्ञाते त्वल्पमेव प्रायश्चित्तमित्यनुग्रहेणापि सिध्यति । तस्य भाव्यर्थः स्वत एव स्फुरितः तन्निराकरणार्थं प्रार्थयति **समुद्धरतेति** । **कृच्छ्रात्** सङ्कटात् निर्णयज्ञानाभावात् अशुचौ निरये पतन्तमिति । **हीनभावः निरयो भवति**,ततश्च गोत्वमश्वत्वं वा चेद्भवेत्, तदा निरयत्वेऽपि नाशुचित्वम् । श्वयोनौ शूकरयोनौ वा पाते तथात्वमिति। तामिस्रादौ तु न पातः, नरकभोग एव परम् । योनिसम्बन्धे तु अभिमान उत्पद्यत इति पातः । **अशुचाविति** । लोकप्रसिद्धमलादिप्रदर्शनेन दया वा उत्पाद्यते ।।२०।।

व्याख्यार्थ—मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये, जो निषिद्ध है वह भी आपको करना चाहिये, कहने का यह तात्पर्य है, यदि कहो कि अनुग्रह करने का क्या कारण है ? अनुग्रह क्यों करें ? इस पर कहता है कि मैं आपका किङ्कर हूँ, किङ्कर भी यदि अपराधी हो उसको दण्ड देना चाहिये इसके उत्तर में कहता है कि यह कार्य मैंने जान कर नहीं किया है अज्ञान से हो गया है, बेसमझी से अपराध हो भी जावे तो उसका प्रायश्चित अल्प ही होता है, वह प्रायश्चित अनुग्रह से ही सिद्ध हो जाता है. उसका भावी अर्थ स्वतः ही स्फुरित हो गया है जिसके निराकरण के लिये प्रार्थना करता हैं कि 'समुद्धरत' उद्धार करो अब मैं इसका क्या निर्णय करूं ? यह न जानने से धर्म संकट में फँसा हूँ जिससे अपवित्र हीन भाव को प्राप्त होता हूँ जिससे निकालो, इससे यदि गोत्व, अश्वत्व प्राप्त हो तो वहाँ हीन भाव होते हुए भी अशुचिपन नहीं है, कुत्ते की वा शूकर की योनि में जाने से अशुचिपन है, तामिस्र आदि में पात नहीं है नरक भोग ही है, योनि के सम्बन्ध होने पर उसका अभिमान होता है, यह ही पात है, अपवित्र में, लोक में प्रसिद्ध मल आदि के प्रदर्शन से दया उत्पन्न कराता है ।।२०।।

श्लोक—**नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् ।**
नान्यद्गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ ।।२१।।

श्लोकार्थ—जिसकी गौ थी, वह ब्राह्मण कहने लगा कि इस गौ के बदले में कितना भी धन मैं नहीं लूँगा, यों कहकर वह चला गया; अनन्तर दूसरा जिसको गौ दान में मिली थी, वह भी कहने लगा कि मैं भी अयुतधन लेना नहीं चाहता हूँ, मुझे तो यह गौ ही चाहिए, यों कहकर वह भी गया ।।२१।।

सुबोधिनी - तत्र मुख्यः स्वामी, गोविक्रयस्य निषिद्धत्वात्, अन्यलक्षायुतादिसङ्ख्यापरिमितं गोसमूहं अहं न प्रतीच्छ इत्युक्त्वा, राजप्रार्थनां त्यागांशे अङ्गीकृत्य, स्वाम्यपाक्रमत्, प्रतिग्रहस्य राज्ञा स्थापितत्वात् पूर्वप्रतिग्रहस्यैव सिद्धत्वात् । विक्रयपक्षे प्रतिग्रहपक्षे वा दोषश्रवणात् । 'एका गौर्न प्रतिग्राह्या द्वितीया न कदाचन । सा चेद्विक्रयमापन्ना रौरवं नरकं व्रजे'दिति वाक्यादगवामयुतमपि एतन्निष्कृतित्वेन नाहं प्रतीच्छ इति द्वितीयोऽपि ययौ । **राजन्निति** संबोधनात् अनिष्कृतित्वेऽपि प्रतिग्रहोऽपि निषिद्ध इति सूचितम् । राजा सर्वेषामनुरोध्यः, अतिक्रमोऽपि सोढव्य इति सूचितम् । लक्षं गावः राज्ञा दातुं शक्याः, न तु ब्राह्मणेन, अयुतमेव परमा काष्ठा ब्राह्मण-

स्य । कोऽर्हति सहस्रं पशून् प्राप्तुमिति सहस्रस्यैव महत्त्वात् । दशपुत्रविभागे सहस्रशो दानेऽपि अयुतस्यैव पर्याप्तत्वात् । प्राप्तमयुतं निषेधति **गवामप्ययुतमिति** । यद्यपि तावता पूर्णः कामो भवेत्, तथाप्यव्यवस्थितत्वात् एकस्यामपि गवि यत्रायं सन्देहः, तत्र किमन्यद्वक्तव्यमिति भावः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—दोनों में जो गौ का स्वामी था, उसने कहा कि आप इस गौ के बदले में लक्षयुत आदि मूल्य दोगे तो भी वह मैं नहीं लूंगा, यों कह कर, राजा की प्रार्थना को ठुकरा कर चला गया, दूसरा जिसने गौ दान में ली थी वह भी कहने लगा कि दूसरी दस सहस्त्र गौ भी इसके बदले में न लूंगा, और यह गौ लौटा कर भी न दूंगा, क्योंकि यह गौ राजा ने दान कर मुझे दी है पहले मिले हुए दान ही सिद्ध हैं. यदि वह बेची जाय वा उसका बदला लेकर लौटा दी जावे तो दोनों में दोष है, अतः ली हुई लौटा कर, दूसरी गौ उसके बदले में न लेनी चाहिये, ली हुई गौ किसी प्रकार भी विक्रय की जावे तो वह बेचने वाला रौरव नाम वाले नरक में पड़ता है, इन वचनों के अनुसार इस गौ के बदले में दश हजार गौ भी लेना नहीं चाहता हूँ, यों कह दूसरा भी गया 'राजन्' संबोधन से यह सूचन किया है, मूल्य न होने की हालत में अशक्त को दान भी नहीं लेना चाहिये, लाख गौ राजा दे सकता है, न कि ब्राह्मण, ब्राह्मण के लिये दश सहस्र देना ही सीमा है, कौन है जो सहस्र पशु प्राप्त कर सकता है ? इसलिये हजार का ही महत्व है, दश पुत्रों के विभाग में और हजार के दान में भी दश हजार की ही पर्याप्तता है, दश हजार लेने का भी निषेध करता है, यद्यपि उनसे सर्व काम की सिद्धि हो जाती है तो भी निषेध करता है, कारण कि तो भी अव्यवस्थिति हो जाती है, जब एक ही गौ में जहां यह सन्देह वहाँ दूसरा क्या करना चाहिये ? यह भाव है ॥२१॥

आभास—एवं ब्राह्मणद्वयक्षोभे दण्डार्थं यमः प्रवृत्तः, गोश्रापहारे आयुः क्षीणमिति तदैव यमदूतैः समागतमित्याह **एतस्मिन्नन्तरे** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार दो ब्राह्मणों के अप्रसन्न होने पर राजा को दण्ड देने के लिये यम तैय्यार हुआ गौ के चुराने से आयु क्षय होती है. इससे उसी समय यम दूत आये यह 'एतस्मिनन्तरे' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नीतो यमक्षयम् ।**
यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते ॥२२॥
पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे उताहो नृपते शुभम् ।

श्लोकार्थ—हे देवदेव ! जगत्पते ! इतने में यमदूत मुझे यमपुरी ले चले, वहाँ मुझ से यम ने पूछा कि हे राजन् ! तूँ पहले पाप का फल भोगना चाहता है वा पुण्य का फल ? ॥२२½॥

सुबोधिनी—यावदयं प्रतिविधानं कुर्यात्, तन्मध्य एव याम्यैर्यमक्षयं नीतः । अनेन बलान्नयनं निरूपितम् । बलाद्गौर्हृतेति । तेनापि ब्राह्मणाः सम्बोधिता इति स्वेच्छयैव तैस्त्यक्त इत्यस्यापि स्वेच्छयैव नरकभोगो निरूप्यते । अत एव इच्छार्थं यमेन पृष्टः । अस्मिन्नर्थे सत्यतां निरूपयितुं **देवदेवेति** सम्बोधनम् । **जगत्पत इति च** । धर्मकर्तुः कथं यमदण्ड इति शङ्कां वा दूरीकर्तुम् । **प्रमेयबले वेदापेक्षया भगवदाज्ञा कर्तव्येति** निरूपयन् देवस्यापि त्वं देव इति त्वदाज्ञा यमेन कर्तव्या । जगत्पतित्वात् मयापि । अतस्त्वदिच्छयैवं जातमिति नात्र किञ्चित्प्रतिकर्तव्यमस्तीति सूचितम् । हे नृपते, पूर्वं त्वमशुभ भुङ्क्षे । लण्मध्यमपुरुषैकवचनम्, प्रश्नार्थे लट् । अशुभस्याल्पत्वात् नान्तरीयकमिवाशुभं गमिष्यतीति प्रथममशुभभोगप्रश्नः । अथवा । **दुःखान्तता निषिद्धेति** । अथवा । को वा दुःखानुभवं मन्येत । अतः प्रथममेव हे नृपते अशुभ भुङ्क्षे ॥२२½॥

व्याख्यार्थ—जब तक राजा इसका उपाय करे, इस के मध्य में ही यमदूत उसको यम लोक ले गये, यों कहने का भावार्थ है कि गौ को ब्राह्मण, बल से ले गये हैं, उन्होंने अपनी इच्छा से हो राजा का देना छोड़ दिया, इस (राजा) का भी अपनी इच्छा से ही नरक का भोग निरूपण किया जाता है, इस कारण से ही यम ने इससे पूछा है, इस विषय में सत्यता का निरूपण करने के लिये देव देव और 'जगत्पते' संबोधन दिया है अथवा धर्म करने वाले को यम दण्ड कैसे हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिये दिये हैं—प्रमेय बल से वेद की अपेक्षा भगवदाज्ञा कर्त्तव्य है, यों निरूपण करते हुए कहते हैं कि आप देवों के देव हैं अतः यम को आपकी आज्ञा का पालन करना चाहिये और आप जगत् के पति है इसलिये मुझे भी आपकी आज्ञा का पालन करना ही है, अतः आपकी इच्छा से ही यों हुआ है इस विषय में कुछ भी अन्य कर्त्तव्य नहीं है, यों सूचित किया, हे नृपतेः प्रथम तूं अशुभ भोगेगा ? अशुभ अल्प होने से अन्तरीय की तरह अशुभ जाएगा, अतः पहले अशुभ भोगने का प्रश्न किया है, अथवा दुःखान्तत्व का निषेध किया है, अथवा कौन दुःख का अनुभव करना मानेगा ? इत्यादि कारणों से प्रथम अशुभ भोगने का प्रश्न किया है ॥२२½॥

आभास—तदा स्वस्यालोचनामाह **नान्तं दानस्य धर्मस्येति** ।

आभासार्थ—तब अपने विचार को 'नान्तं दानस्य' श्लोक में कहता है ।

श्लोक—**नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वरः ॥२३॥**
पूर्वं देवाशुभं भुङ्क्ष इति प्राह पतेति सः ।
तावदद्राक्षमात्मानं कृकलासं पतन्प्रभो ॥२४॥

श्लोकार्थ—तेरे दान तथा धर्म का यश अनन्त है, तब मैंने कहा—हे देव ! पहले मैं पाप का फल भोगूँगा । उसी समय यम ने कहा कि तूँ नीच योनि में पृथ्वी पर गिर, हे प्रभो ! इतने में मैंने अपने को गिरगिट योनि में देखा ॥२३-२४॥

सुबोधिनी—दानस्यान्यस्यापि धर्मस्य अन्तो न विद्यते। गोदानप्रस्तावे कश्चिद्वञ्चको धूर्त आसन्नमरणां गां वञ्चयित्वा ब्राह्मणाय दत्वा मुक्तिं गत इति श्रूयते। स हि नगरमध्यवासे मृतायाः गौर्निर्हरणासमर्थः व्याजेन कञ्चिद्ब्राह्मणमाकार्य, तस्मै दानं दत्तवान्। ततो मुहूर्तत्रयानन्तरं गौर्मृता। ततो ब्राह्मणः प्रतिग्रहीता स्ववस्त्रं चाण्डालेभ्यो दत्वा तां गां बहिः निःसारितवान्। एवं ब्राह्मणं वञ्चयित्वा पश्चान्मृतः, यमेन पृष्टः चित्रगुप्तेन, तस्य वृत्तान्ते कथिते पूर्वं शुभफलभोगं करिष्यामीत्युक्त्वा, तत्रापि कौटिल्यं कृतवान्, तादृशगोदानस्य हि फलं यावद्गौर्जीवति, तावत्परलोके कामधेनुस्तद्वशे तिष्ठतीति। तथा यमेनोक्तः मुहूर्तत्रयं कामधेनुस्त्वदधीना स्थास्यतीति। कामधेनुं प्रत्याह व्याघ्रो भूत्वा यमं भक्षये'ति। ततो व्याघ्रेणोपसृतः यमः भीतो विष्णुं शरणं ययौ। यत्रास्ते भगवान् ब्रह्मादिभिर्वृतः। तत्र पश्चादयमपि गतः, कामधेन्वा नीतो, विष्णुसाक्षात्कारे मुक्त इति। यत्र तादृशगोदानस्याप्यनन्तफलत्वम्, तदा विधानपूर्वकं दत्तायाः किं वक्तव्यमिति। अन्यस्याप्येवं धर्मस्यानन्तफलत्वम् फलं हि द्विविधम् इह लोके यशः, परलोके स्वर्ग इति। तदुभयमाह **यशो लोकश्च भास्वर** इति। अनन्तं यशः, अनन्तो लोक इति। तामसधर्मेऽपि तथेति तत्पातालोपभोग्यमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं **भास्वर** इति। दानस्य फलरूपं यशः अनन्तम्, लोकश्चानन्त इति। **लोकस्य भास्वत** इति पाठे अनन्तं यशः शुभं चेति पूर्वोक्तं सङ्ग्राह्यम्। भुङ्क्ष इति भुञ्ज इति वा क्रिया। भास्वतो लोकस्योत्तमदेहस्य वा। पूर्वं सम्बन्धि अशुभं भुञ्ज इति। **देवेति** सम्बोधनं परिज्ञानार्थम्। उक्तवानित्यर्थादिति। एवं सति **पतेति** स यमः प्राह। यतः स ब्राह्मणातिक्रमं दृष्ट्वा क्रोधवान्। **पतेति** तस्माल्लोकात् भूलोके। **नीचयोनिभूतो नरकः भूमावेव, नान्यत्रे**ति। ततो यज्जातं तदाह **तावदद्राक्षमिति**। पतन्नात्मानं कृकलासमद्राक्षम्, कर्मणा देहसम्बन्धेन। ग्रहणपरित्यागयोः परिज्ञानं योगज्ञानभक्तिष्वेव। तदेहाद्वैतादात्मपदम्। बहिर्मुखत्वादस्य कर्मदोषो जात एव। **प्रभो** इति। त्वमेव समर्थस्तादृशकर्मभ्यो मोचयितुमिति सूचितम्। **जीवस्य ग्रहणपरित्यागज्ञानमेव नास्ति, कुतो मोचनपरिज्ञानम्**। एतादृशेर्थे भगवानेव शरणमिति ॥२३-२४॥

व्याख्यार्थ—आपके किये हुए दान तथा अन्य धर्म के फल का अन्त ही नहीं है, कोई एक धूर्त ठग था, उसकी गौ शीघ्र मरने वाली थी, उस धूर्त के पास नगर से मरी हुई गौ को निकालने जितना द्रव्य नहीं था, अतः उसने किसी ब्राह्मण को बुला कर कपट से गौ दान की, पश्चात् क्या हुआ ? कि वह गौ तीन मुहूर्त के बाद मर गई, तब ब्राह्मण ने अपना वस्त्र चांडाल को देकर गौ को शहर से बाहर निकलवाया, इस प्रकार ब्राह्मण को धोखा देने के अनन्तर वह धूर्त भी मर गया, चित्रगुप्त ने सारा वृत्तान्त यम को सुनाया, तब यमने उससे पूछा कि पहले कौनसा फल भोगेगा ? तब धूर्त ने कहा कि प्रथम शुभ फल भोगूँगा, वहां भी कुटिलता करने लगा, दान के अनन्तर दान की हुई गौ जितना समय जीवित रहती हैं, उतना काल कामधेनु, दान करने वाले के वश में रहती है, यम ने कहा तुमने जिस गौ का दान किया था वह तीन मुहूत जीवित रही थी अतः कामधेनु तीन मुहूर्त तेरे वश रहेगी, यह फल तूं पहले भोग, यह सुनते ही धूर्त ने कामधेनु को कहा कि तूँ व्याघ्र बनकर यम का भक्षण कर, यह सुन व्याघ्र के निकट आते ही डर कर भागता हुआ यम विष्णु के शरण गया, वहाँ विष्णु भगवान् के चारों तरफ ब्रह्मादि देव बैठे थे, इतने में इस धूर्त को भी कामधेनु वहां ले गई, विष्णु भगवान् के साक्षादर्शन करने से धूर्त्त मुक्त हो गया, जहाँ वैसी गौ के दान का भी फल अन्त है तो विधि पूर्वक दान की हुई गौ का फल क्या कहना चाहिये, इसी प्रकार अन्य धर्म

का भी अनन्त फल है। फल दो प्रकार का है। इस लोक में यश और परलोक में स्वर्ग, वह बताता है कि 'यशो लोकश्च भास्वरः' दान का फल रूप यश अनन्त है तथा लोक भी अनन्त है, यदि 'लोकस्य भास्वतः' पाठ माना जाय तो इसका अर्थ अनन्त यश और शुभ पूर्वोक्त फल का ग्रहण करना चाहिये, वह फल भोगूँगा, भुङ्क्षे वा भुञ्जे' क्रिया है, 'भास्वतः' का अर्थ लोक का अथवा उत्तम देह का समझना चाहिये, प्रथम अशुभ सम्बन्धी फल भोगूँगा। हे देव ! यह सम्बोधन कह कर बताया है, कि आपको सर्व ज्ञान है ही, यदि यों है तो इस लोक से भूलोक में गिर, नीच योनि का नरक तो पृथ्वी पर ही है, दूसरे लोक में नहीं है, यों कहने के बाद जो कुछ हुआ, वह कहता है कि, गिरते ही अपने को 'गिरगिट' रूप में देखा, कारण कि कर्म के फल स्वरूप ही देह से सम्बन्ध होता है, यह देह क्यों ग्रहण की और इस देह से क्यों और कब छुटकारा होगा, जिसका ज्ञान, योग, ज्ञान और भक्ति होने पर ही होता है अन्यथा नहीं होता है, 'आत्मा' पद देने का आशय यह है कि देह और जीव का द्वैत नहीं दोनों आत्मा के ही रूप हैं. बहिर्मुख होने से इसको कर्म दोष हुआ हो, प्रभो ! यह सम्बोधन देकर यह सूचित किया कि वैसे कर्मों से छुड़ाने के लिये आप ही समर्थ हैं, जीव को ग्रहण और परित्याग का ज्ञान ही नहीं है, तो फिर कर्म से छुटकारा कंसे कर सकेगा ? अतः वैसे विषय मे भगवान् ही शरण हैं ॥२४॥

आभास—नन्वेतादृशस्यं तव कथं पूर्ववृत्तान्तपरिज्ञानमिति चेत्, तत्राह **ब्रह्मण्यस्येति**।

आभासार्थ—वैसे तुमको पूर्व वृत्तान्त का ज्ञान कैसे रहा ? यदि यों कहे तो इसका उत्तर 'ब्रह्मण्यस्य' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव।**
स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्संदर्शनार्थिनः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे केशव ! मैं ब्राह्मणों का भक्त, उदार और आपका दास हूँ तथा आपके दर्शन की इच्छा मन में लगी हुई है, इससे ही अब तक मेरी स्मृति का नाश नहीं हुआ है ॥२५॥

सुबोधिनी—**अज्ञानं हि स्मृतिनाशकम्, तत्र ज्ञानसमानाधिकरणम्। ब्राह्मणाः स्वभावतो ज्ञाननिष्ठाः**,'ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्य'मिति वाक्यात्। अतो ब्रह्मण्यस्य ब्राह्मणभक्तस्य ब्रह्मधर्मा हितं कुर्वन्तीति न स्मृतिभ्रंशः। 'राजन्योऽपि सर्वदेवमय' इति ब्रह्मक्षत्रयोस्तुल्यत्वात् 'क्षतान्त्रायत' इति धर्माच्च 'तत्र दानमीश्वरभावश्चे'ति वाक्यात् 'वदान्ये क्षत्रं प्रतिष्ठित'मिति 'अन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षत' इति वाक्यात् ज्ञानं क्षत्रियमपि पालयति। भगवान् सर्वेश्वर इति ज्ञानादयस्तदधीनाः भगवद्भक्ते स्वोपकारं कुर्वन्तीति प्रकारत्रयेणापि स्मृतिर्न विध्वस्ता। **अस्त्येको ज्ञाननाशप्रकारः चतुर्थे निरूपितः**, 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मन' इत्यादिना। स इतः

पूर्वं न जात इत्याह **अद्यापि न विध्वस्तेति**। केशवेतिपदं उत्पत्तिप्रलयकर्त्रोरपि मोक्षं प्रयच्छतीति भक्तज्ञानदाने कः प्रयासः स्यादिति सूचितम्। किञ्च। स्मृतिनाशका यावन्तो मायादयः, ते सर्वे मत्तो विभ्यतीत्याह भवत्संदर्शनार्थिन इति। **यो भगवद्धर्मान् प्रतीक्षते तस्य नान्ये धर्मा. बाधका भवन्ति** ॥२५॥

व्याख्यार्थ—अज्ञान ही स्मृति को नाश करने वाला है, वह ज्ञान के साथ रह नहीं सकता है, ब्राह्मण स्वभाव से ज्ञान निष्ठ हैं, इसलिये ब्राह्मणों के लक्षण 'ज्ञानं विज्ञान मास्तिक्यं' कहा है, इस कारण से वही ब्राह्मणों के धर्म ब्राह्मण भक्तों का हित करते हैं जिससे मेरी स्मृति नष्ट नहीं हुई है, क्योंकि मैं ब्राह्मणों का भक्त हूँ, राजा भी सर्व देव मय है इसलिये 'ब्रह्मक्षत्रयो स्तुल्यत्वात्' ब्राह्मण और क्षत्रिय की बराबरी कही है, क्योंकि क्षत्रिय का धर्म है 'दुःख से बचाना' जिसके लिये 'तत्र दान मीश्वरभावश्च' कहा है, उदारता में दानी होने में क्षात्र धर्म ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर एक दूसरे की अपने-२ धर्म से रक्षा करते हैं, ज्ञान क्षत्रिय का भी पालन करता है, भगवान् तो सर्वेश्वर हैं, इसलिये ज्ञान आदि सर्व उनके आधीन हैं, अतः भगवद्भक्त पर अपना उपकार करते ही हैं, यों तीनों प्रकार से भी स्मृति नष्ट नहीं हुई है, 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तंध्यायतां मन' विषयों से आकृष्ट इन्द्रियों से व्याप्त मन संसारी वस्तुओं का ध्यान करता रहता है तब ज्ञान का नाश हो जाता है, यह एक ही ज्ञान के नाश का उपाय है, वह इससे पूर्व नहीं हुआ है, इसलिये स्मृति अब भी नष्ट नहीं हुई है। हे केशव ? संबोधन से यह बताया है कि उत्पत्ति करने वाले ब्रह्मा का और प्रलय करने वाले महादेव का भी आप मोक्ष करते हैं, तो भक्त को ज्ञान देने में कौनसा आपको परिश्रम है, स्मृति को नाश करने वाले जो माया आदि हैं, वे सर्व मुझ से डरते हैं क्योंकि मैं नित्य आपके दर्शन को चाहने वाला हूँ, जो भगवान् के धर्मों को मन में धारण करता है, उसके अन्य धर्म सत्पथ में बाधक नहीं हो सकते हैं ॥२५॥

आभास—एवं स्ववृत्तान्तमुक्त्वा भगवद्दर्शनं दुर्लभं सर्वप्राणिनां कथं ममाकस्माज्जातमिति स्वभाग्यमभिनन्दयन्नाह **स त्वं कथमिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार अपना वृत्तान्त सुना कर, जो भगवत् दर्शन सर्व प्राणियों को दुर्लभ है वह मुझे अचानक कैसे हो गया, इसलिये 'स त्वं कथं' श्लोक में अपने भाग्य की बड़ाई करता है।

श्लोक—स त्वं कथं मम विभोऽक्षिपथः परात्मा
योगेश्वरैः श्रुतिदृशामलहृद्विभाव्यः।
साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः स्या-
न्मेनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! उपनिद्रूप नेत्रों से निर्मल हृदयवाले योगेश्वरों के हृदय में जो चिन्तन किए जा सकते हैं तथा इन्द्रियाँ जिसको पहुँच नहीं सकती हैं, ऐसे आप परमात्मा हैं। जिसके मैंने आज अचानक प्रत्यक्ष दर्शन किए हैं, उसका क्या कारण

है ? मैं तो महान् व्यसनों से अन्ध बुद्धि हूँ, किन्तु जिसका अन्तिम जन्म होता है, उसको ही आप दर्शन देते हैं, इसलिए मेरा यह अन्तिम जन्म है, जिससे मेरे जैसे अन्ध बुद्धि वाले को दर्शन देकर कृतार्थ किया है ॥२६॥

सुबोधिनी—तादृशस्त्वं ममाक्षपथः कथं वा जात इत्याश्चर्यम्। **परात्मेति**। आत्मनोऽपि परोऽन्तरः कथं देहादपि बहिर्दृश्येतेत्येकानुपपत्तिः। किञ्च। योगेश्वरैरपि योगानुसारेण, तत्रापि **श्रुतिदृशा** वेदबोधितज्ञानेनैव,न तु वैदिकप्रकारेण, तत्रापि अमला दृष्टिर्यस्य तादृशेन विभाव्यः। साधनप्रमाणाधिकाराः उत्तमा निरूपिताः। तैरप्येवं प्रत्यक्षो न भवति, किन्तु विशेषेण भाव्यः तर्क्य एव। स मम साक्षात्कथं जात इत्याश्चर्यम्। **अनेन प्रमाणविचारेण दर्शनायोग्यता निरूपिता, प्रमेयविचारेणापि दर्शनायोग्यतामाह अधोक्षजेति**। अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मादिति। किञ्च। स्वस्यानधिकारोऽपि। **उरुव्यसनान्धबुद्धेः**। अनेकव्यसनैः अन्धा बुद्धिर्यस्येति। नन्वकारणककार्योत्पत्तिर्न सम्भवतीति, अवश्यं कारणं भगवद्दर्शने वक्तव्यमिति चेत्, तत्राह **स्यान्मेनुदृश्य** इति। मे अनुदृश्यः स्यात्, यस्य मम भवापवर्गः। प्रायेण मम मोक्षः सम्भाव्यते केनचित्कारणेन, तद्भगवद्दर्शनव्यतिरेकेण मोक्षो न भवतीति मोक्षसाधनानि फलोन्मुखानि सन्ति भगवद्दर्शनं कारयामासुः। तत्रापि मोक्ष इहैव, अस्मिन्नेव जन्मनि। **अन्तिमजन्मन्येव भगवत्साक्षात्कारात्** ॥२६॥

व्याख्यार्थ—वैसे आपने मुझे प्रत्यक्ष दर्शन कैसे दिये ? यह आश्चर्य है, दर्शन देने में रुकावटें बताते हैं, १-आप आत्मा से भी पर हैं वह आप देह से भी बाहर दर्शन कैसे दे सकते हैं यह दर्शन से एक अनुपपत्ति है, २-योगानुसार योगेश्वर ही दर्शन कर सकते हैं, मैं वह भी नहीं, ३-योगेश्वर भी वेद से बोधित ज्ञान से ही दर्शन कर सकते हैं, न कि वैदिक तरीके से, उसमें भी जिनकी दृष्टि निर्मल हो गई है वैसे भी आपको तर्क से ही भावना कर देख सकते हैं, न कि साक्षात् ऐसा दर्शन करते हैं जैसा मैं कर रहा हूँ, साधन प्रमाण के उत्तम अधिकारों का निरूपण किया, वैसा आप मुझे साक्षात् दर्शन दे रहे है, यह आश्चर्य है, यों कह कर प्रमाण विचार से दर्शन की अपनी अयोग्यता सिद्ध की है, अब प्रमेय विचार से भी अपनी दर्शन में अयोग्यता दिखाता है, आपका ज्ञान इन इन्द्रियों से नहीं होता है, विशेष में अपना अनधिकार सिद्ध करता हुआ कहता है कि अनेक व्यसनों से जिसकी बुद्धि अन्ध हो गई है वैसा मै हूँ, प्रमाण तथा प्रमेय से अपनी अयोग्यता दिखलाई तब शङ्का होती है कि बिना कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः भगवान् के दर्शन तो हुवे हैं, जिसमें अवश्य कोई कारण तो होगा ही, वह कारण कहता है, जिसका जन्म अन्तिम है अर्थात् जिसकी मुक्ति होने वाली है फिर जिसको जन्म लेना नहीं हैं उसको दर्शन होता है, जिससे यह मेरा अन्तिम जन्म होने से मेरी मुक्ति होने वाली है इस कारण से मुझे आपके साक्षात् दर्शन हुवे हैं, किसी कारण से मेरी मुक्ति होने वाली दीखती है,वह भगवद्दर्शन के बिना मोक्ष नही होता है,मोक्ष के साधन फल के उन्मुख हैं जिन्होंने भगवद्दर्शन कराये हैं, इसमें भी इस जन्म में ही मुक्ति होने वाली है, क्योंकि अन्तिम जन्म में ही भगवान् का साक्षात् दर्शन होता है ॥२६॥

आभास—एवं दुर्लभदर्शनमुपपाद्य स्वर्गगमनार्थं भगवन्तं प्रार्थयितुं नवधा भगवन्तं सम्बोधयति **देवदेवेति**।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवद्दर्शन को दुर्लभता सिद्ध कर स्वर्ग को जाने के लिये भगवान् को प्रार्थना करने के लिये भगवान् को नव प्रकार के विशेषण देते हैं–'देव देव' इति

श्लोक—**देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम ।**
नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे देवदेव ! हे जगन्नाथ ! हे गोविन्द ! हे पुरुषोत्तम ! हे नारायण ! हे हृषीकेश ! हे पुण्यश्लोक ! हे अच्युत ! हे अव्यय ! ॥२७॥

सुबोधिनी—लोके गमने देवानामपि यो देवः तदाज्ञयैव गमनं भवति । स चेत्स्वस्मिन् क्रीडति, तदा देवत्वं भवतीति । **जगन्नाथत्वादवश्यमाज्ञा प्रार्थनीया । गोविन्देति** । सतामिन्द्रः । एवं राजसतामससात्त्विकभावेन प्रभुत्वेन सम्बोधितो भगवान् । आज्ञां प्रार्थयितुं प्रेरकत्वेन त्रिविधं पुरुषमाह । **पुरुषोत्तमः** पूर्णः पुरुषः । **नारायणः** पुरुषो द्वितीयः । हृषीकेशोऽन्तर्यामी तृतीयः **पुरुषः** । 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः' रिति वाक्यात् । अनेन भगवत्प्रेरणया भोगार्थं गच्छामीति स्वापराधाभावो निरूपितः । तत्र गतस्य भगवत्स्मरणाद्यभावान्न निस्तार इत्याशङ्क्य भगवद्गुणाः सर्वत्र सन्तीति निरूपयन् विशेषणत्रयमाह **पुण्यश्लोकाच्युताव्ययेति** । पुण्या श्लोका कीर्तिर्यस्येति । विषयसम्बन्धकृतदोषपरिहारः कीर्तिस्वाभाव्यादेव भवतीति सूचितम् । श्लोका विषयेष्वपि भवतीति न विषयैर्विरुध्यते । तेन सेवनसम्भवः । भगवतः सर्वतोऽच्युतत्वात् नित्या कीर्तिर्भवति, पूर्णा च । ततः सम्पादनसाधनानपेक्षता । न विद्यते व्ययो यस्मादिति । तेनान्यस्यापि नाशाभाव उक्तः । श्रोतुरप्यच्युतत्वं सम्पादयतीति षष्ठीबहुव्रीहिपक्षेऽपि न दोषः ।२७।

व्याख्यार्थ—लोक में भी बड़ों की आज्ञा लेकर जाना होता है, आप तो देवों के भी देव हैं अतः आप की आज्ञा से ही वहाँ जाना हो सकता है, वह देव तब कहा जाता है जब अपने में ही क्रीड़ा करता है, आप तो देवों के भी देव हैं अतः आप की आज्ञा आवश्यक है, फिर उसमें भी आप जगत् के स्वामी हैं, इसलिये आज्ञा प्राप्त करनेके लिये, अवश्य प्रार्थना करनी चाहिये, आप भक्तों के इन्द्र होने से 'गोविन्द' हैं, इस प्रकार राजस तामस सात्विक भाव से प्रभुपन से भगवान् को सम्बोधित किया है, आज्ञा की प्रार्थना के लिये, जो प्रेरक हैं उन तीन प्रकार के पुरुषों का नाम कहता है, १–पुरुषोत्तम जो पूर्ण पुरुष हैं, २–नारायण द्वितीय पुरुष ३–इन्द्रियों का स्वामी अन्तर्यामी तृतीय पुरुष, जिनका प्रमाण कहते हैं 'विष्णोस्तु[1] त्रीणि रुपाणिपुरुषाख्यानि अथो विदु' इस वाक्य से इससे यह कहा कि भगवान् की प्रेरणा से भोग भोगने के लिये जाता हूँ यों कहने से अपने अपराध का अभाव निरूपण किया, वहां जाने वाला भगवत्स्मरण नहीं करेगा तो विस्तार[2] नहीं होगा, इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'भगवद्गुणाः सर्वत्र सन्ति' भगवद्गुणों का गान सर्वत्र हो सकता है, तदर्थ तीन विशेषण दिये हैं–१–पुण्यश्लोकाच्युताव्यय' जिसकी कीर्त्ति पुण्य रूप है, कीर्त्ति से अर्थात् गुण गान

१—विष्णु के तीन रूप पुरुष नाम से ज्ञानी जानते
२– छुटकारा

से विषयों के सम्बन्ध से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं, विषयों में भी प्रशंसा होती है इसलिये विषयों से उसका विरोध नहीं है, किन्तु उनकी प्रशंसा से भगवत्सेवा में मन लगा जाता है, भगवान् सर्व प्रकार से अच्युत होने से उनकी कीर्ति नित्य है और पूर्ण है इस कारण से साधनों के सम्पादन की अपेक्षा नहीं है, जिससे कुछ भी व्यय नहीं होता है, इससे दूसरे का भी नाश नहीं होता है, गुण गान सुनने वालों को भी च्युति नहीं होती है–षष्ठी बहुव्रीहि समास करने में भी दोष नहीं है ॥२७॥

आभास—एवं स्वर्गगमने सर्वामुपपत्तिमुक्त्वा प्रार्थयति **अनुजानीहीति** ।

आसाभार्थ—इस प्रकार स्वर्ग जाने में सर्व प्रकार की हेतु पूर्वक युक्तियाँ कह कर अब 'अनुजानीहि' श्लोक से प्रार्थना करता है ।

श्लोक—**अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं विभो ।**
यत्र क्वापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे विभु ! देवगति को जाने वाले मुझे आज्ञा दीजिए, जहाँ कहीं भी मैं हूँ, वहाँ मेरा चित्त आपके चरण कमलों में रहे ॥२८॥

सुबोधिनी—**मामिति** । आवश्यकं पुण्यफलभोगयुक्तम् । **कृष्णेति** । सर्वथा सर्वप्रकारेण मोचनसमर्थः । न हि तस्य विषयसम्बन्धे मोचनसामर्थ्याभावः । अन्यथा विशेषावतरणं न कुर्यात् । **यान्तं देवगतिमिति** गमनमावश्यकमुक्तम् । अनभिप्रेतत्वादभ्यनुज्ञाभावमाशङ्क्याह **विभो** इति । तथापि विषयसम्बन्धे नाशमावश्यकमाशङ्क्य प्रार्थयति **यत्र क्वापि सतश्चेत** इति । त्रिविधानि स्थानानि सुखदुःखोभयरहितानि । **दुःखे असामर्थ्यम्, सुखे अन्यासक्तिः, उभयाभावे मोहादिरिति सर्वत्रैव स्मरणाभावस्तुल्यः** । तथापि **कृपयैव स्मरणमिति स्थानविशेषस्याप्रयोजकत्वात्** यत्र क्वापि सतो मे चेतः त्वत्पदे एव आस्पदं स्थानं यस्य । तथा सति सर्वत्र गच्छदपि चेतः त्वत्पदयोरेव स्थिरीभविष्यतीति न कापि चिन्ता ॥२८॥

व्याख्यार्थ—पुण्यों का फल भोगना आवश्यक हैं, कृष्ण संबोधन से यह प्रकट किया कि आप सर्वथा अर्थात् सर्व प्रकार से मुक्त कराने में समर्थ हैं, कृष्ण स्वरूप को, विषयों से सम्बन्ध होने पर भी मुक्त कराने का सामर्थ्य है, यदि यों न होता तो विशेष प्रकार से प्रकट न होते, 'यान्तं देवगति' पद से बताया कि जाना आवश्यक है, आप सर्व समर्थ हैं अतः अनभिप्रेत होने पर आज्ञा न दे सकेंगे यों नहीं है, अर्थात् सर्व समर्थ होने से आज्ञा दे सकते हैं, तो भी विषय सम्बन्ध होने से नाश अवश्य होता है, यह शङ्का कर, प्रार्थना करता है, 'यत्र क्वापि सतश्चेतः' तीन प्रकार के स्थान है १–जहां सुख है २–जहाँ दुःख है, ३–जहाँ दोनों नहीं है, जहाँ दुःख है, वहाँ उसको मिटाने की जोव में सामर्थ्य नहीं है, २–जहाँ सुख है वहाँ भगवदतिरिक्त में आसक्ति हो जाति है, जहाँ दोनों नहीं है मोह उत्पन्न हो जाता है, इसलिये तीनों स्थानों में भगवान् के स्मरण का अभाव समान है, तो भो स्मरण तो कृपा से ही होता है स्थान विशेष इसमें प्रयोजक नहीं है, अतः जहां कहीं भी मैं हूँ वहां मेरा चित्त

आपकी कृपा से आपके चरण कमलों के स्मरण में आसक्त रहेगा इसलिये किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है ।।२८।।

आभास—ततो गच्छन् नमस्यति **नमस्ते सर्वभावा**येति ।

आभासार्थ– पश्चात् जाते हुए 'नमस्ते' श्लोक से नमन करता है ।

श्लोक—**नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।**
कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ।।२९।।

श्लोकार्थ—सर्वभावरूप, अनन्त शक्तिमान, ब्रह्म स्वरूप, कृष्ण, वासुदेव, योगों के स्वामी ऐसे जो आप हैं; इन आपको मैं प्रणाम करता हूँ ।।२९।।

सुबोधिनी—भगवान् षड्गुणयुक्त इति धर्मिणं निर्दिश्य षड्विशेषणान्याह । भक्तस्य गमनमनुचितमाशङ्क्य सर्वभावस्त्वमेवेति न त्वत्परित्यागः । अनेन कार्यरूपता निरूपिता । कारणरूपतामाह **ब्रह्मण** इति । **अनन्तशक्तय** इति । कारणत्वोपपादकं प्रकारमुक्तवान् । एवं साधनत्वेन त्रिरूपत्वमुक्त्वा, फलेऽपि त्रिरूपतामाह । **कृष्णाय** सदानन्दायेति शुद्धफलरूपत्वम् । **वासुदेवाय** मोक्षफलदात्रे । **योगानां पतय** इति । तस्य मोक्षफलदाने साधनत्वम् । आद्यन्तयोर्नमस्कारः सर्वत्रानुषङ्गार्थः ।।२९।।

व्याख्यार्थ—भगवान् षड्गुणों से युक्त हैं इस प्रकार धर्मी का निर्देश कर ६ विशेषण कहते हैं, भक्त को भगवान् का त्याग कर अन्यत्र जाना उचित नहीं है इस शङ्का को मिटाने के लिये कहा है कि 'सर्व भाव' आप ही हैं इसलिये आपका त्याग नहीं, अर्थात् जो स्वर्ग आदि कुछ हैं वे सब आप ही हैं अतः कहीं भी रहने से त्याग हो नहीं सकता है, इससे यह जताया कि आपका यह रूप कारण रूप है और अन्य सर्व आपका कार्यरूप हैं, अतः अन्य नहीं है, यदि कहो कि मैं कारण रूप कैसे ? इसके उत्तर में कहा कि 'ब्रह्मणे' आप ही ब्रह्मरूप हैं, इसलिये अनन्त शक्तिमान् भी आप ही हैं अनन्त शक्तिमान् कहकर कारणत्व को प्रकट करने वाला प्रकार बताया हैं, इस प्रकार साधनपन से तीन रूप कह कर फल के भी तीन रूप कहे हैं, कृष्णाय सदानन्द स्वरूप हो, जिस लिये शुद्ध फल रूप हो, 'वासुदेवाय' विशेषण से बताया कि मोक्ष फल दाता भी आप है 'योगानां पतये' विशेषण से यह सिद्ध किया है, मोक्ष फल देने में साधन भी आप हैं श्लोक के आदि में और अन्त में दोनों स्थान पर नमस्कार कहने का तात्पर्य है कि यह नमस्कार सर्व स्वरूपों के लिये हैं ।।२९।।

आभास— अङ्गीकारेणैवाभ्यनुज्ञातः स्वर्गतिं गत इत्याह **इत्युक्त्वेति** ।

आभासार्थ—इस नमस्कार के स्वीकार करने से ही जाने की आज्ञा प्राप्त हो गई अतः स्वर्ग में चला गया, जिसका वर्णन 'इत्युक्ता' श्लोक में शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**इत्युक्त्वा तं परिक्रम्य पादौ स्पृष्ट्वा स्वमौलिना ।**
अनुज्ञातो विमानाग्र्यमारुहत्पश्यतां नृणाम् ।।३०।।

श्लोकार्थ— श्री शुकदेवजी ने कहा कि यों कहकर अपने मुकुट से चरण कमलों का स्पर्श कर, परिक्रमा कर, अनुज्ञा प्राप्त वह मनुष्यों के देखते हुए विमान में बैठ स्वर्ग को गया ।।३०।।

सुबोधिनी—प्रदक्षिणानमस्कारौ सर्वकार्यसाधकौ । स्वमौलिना पादस्पर्शः **भगवद्धर्माणां नित्यत्वात्तच्चरणछायायामेव सर्वभोगसूचकः** । तदैव देवसमानीतं विमानमारुह्य भगवन्माहात्म्यं लोके प्रख्यापयन् नृणां पश्यतामेव सतां ययाविति अर्थः ।।३०।।

व्याख्यार्थ—प्रदक्षिणा और नमस्कार दोनों सर्व कार्यों को सिद्ध करनेवाले हैं, अपने मुकुट से भगवच्चरणों का स्पर्श करने का भाव यह है कि भगवान् के धर्म नित्य हैं, अतः जो भगवान् के चरणों की छाया का आश्रय लेता है उसको सर्व प्रकार के भोग प्राप्त होते हैं, तब ही देवों के लाये हुए विमान में बैठ कर, लोक में भगवान् का माहात्म्य प्रकट करता हुआ, मनुष्यों के देखते हुए स्वर्ग को गया ।।३०।।

आभास—एवं नृगस्य ब्राह्मणातिक्रमेण दुर्गतिम्, भगवदीयत्वेन सुगतिं च प्रदर्श्य, निरोधनिरूपणार्थं ब्रह्मस्वसम्बन्धाभावमुपदिशति **कृष्णः परिजनं प्राहेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्राह्मण के अतिक्रम से नृग की दुर्गति और भगवदीयत्व से सद्गति दिखा कर, निरोध का निरूपण करने के लिये 'कृष्णः परिजनं प्राह' श्लोक में ब्राह्मण के पदार्थ का, किसी प्रकार भी सम्बन्ध नहीं करना चाहिये, जिससे ब्राह्मण का अतिक्रम होता हो–इसी प्रकार शिक्षा देते हैं ।

श्लोक—**कृष्णः परिजनं प्राह भगवान्देवकीसुतः ।**
ब्रह्मण्यदेवो धर्मात्मा राजन्याननुशिक्षयन् ।।३१।।

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों के भक्त, धर्मात्मा, देवकी के पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण राजाओं को शिक्षा देते हुए कुटुम्बियों को कहने लगे ।।३१।।

सुबोधिनी—यावदध्यायपरिसमाप्ति । **सात्त्विकाः प्रथमं धर्मे उपदेष्टव्या** इति । परिजनः पुत्रपौत्रादयः । **भगवानिति** भाव्यर्थाभिज्ञः । ब्राह्मणातिक्रमादेव तेषामनिष्टं भविष्यतीति । **देवकीसुत** इति । भक्तकृपालुत्वात्तथाभावो न सम्मतः । किञ्च । ब्राह्मणानामपि हितप्रेप्सुः । एवमुपदेशे ब्राह्मणातिक्रमं न कुर्युरिति । किञ्च । **धर्मात्मा** धर्मः स्थापनीय इति । एकेनापि ब्रह्मस्वेन मिलि-

तेन सर्व एव कृतो धर्मो नष्टो भवतीति । किञ्च । राजवंशे स्वयमपि प्रादुर्भावलीलां कृतवान् । अतो | राजन्यान् शिक्षयन् धर्मार्थं च धर्मः कर्तव्यः कारणायश्चेति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण, अध्याय समाप्ति तक शिक्षा देते हैं, पहले सात्विकों को धर्म का उपदेश देना चाहिये, पुत्र पौत्र आदि यह परिजन सात्विक अतः पहले इनका नाम आया है, पश्चात् राजस राजाओं का है, भगवान् विशेषण से यह बताया है कि आगे भविष्य में क्या होने वाला है ? जिसको जानते हैं, ब्राह्मणों के अतिक्रम अर्थात् उल्लङ्घन से उनका अनिष्ट होगा देवकी के पुत्र विशेषण का भाव कहते है, वे भक्तों पर कृपा करने वाले हैं, ब्राह्मण का अतिक्रम हो इससे सहमत नहीं हैं, विशेष में ब्राह्मणों का भी हित चाहने वाले हैं, इस प्रकार के उपदेश मिलने से ब्राह्मणों का अतिक्रम न करेंगे और धर्मात्मा विशेषण देकर यह समझाया है कि आपको धर्म का स्थापन करना ही है, ब्राह्मण की एक भी वस्तु अपने पास आजावे तो, किया हुआ सर्व धर्म नाश हो जाता है, आपने भी राजवंश में प्राकट्य लीला की है, अतः क्षत्रियों को शिक्षा देते हैं कि धर्म की रक्षा के लिये स्वयं धर्माचरण करना और दूसरों से भी करवाना चाहिये, यही राज धर्म है । ३१॥

आभास—उपदेशमाह द्वादशभिः **दुर्जरं बत ब्रह्मस्वमिति ।**

आभासार्थ 'दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं' इस श्लोक से १२ श्लोकों में उपदेश देते हैं ।

श्लोक—**दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि ।**
तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामीश्वरमानिनाम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण का धन थोड़ा भी खाया जावे तो अग्नि के समान तेजवान पुरुष को भी जब पचाना कठिन है, तो मिथ्या अपने को बड़ा मानने वाले राजा उसको कैसे पचा सकेंगे ॥३२॥

सुबोधिनी—आदौ सात्त्विकान्प्रति उपदिशन् धर्मान्तरेण ब्रह्मस्वं गृहीतं परिहर्तव्यमिति पक्षं निराकरोति । बतेति खेदे । यथा बालकाः सर्पसमीपं चेद्गच्छेयुः, तदा यथा पित्रादयः खेदमाविष्कुर्वन्ति, तथा भगवानाहेति लक्ष्यते । स्वतः उपायान्तरेण वा न जीर्णं भवतीति दुर्जरम् । यतो ब्रह्मैवाक्षयम्, तस्यापि स्वमिति । अत्यन्तरङ्गम् । उपभुक्तं चेद्दुर्जरमिति । अजीर्णद्रव्यमिव मृत्युसाधकमुक्तम् । यत्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मभूतस्य स्वामित्यभिमानः, तत्र दृष्टप्रकारेणैव दुर्जरं भवति, नृग इव, अन्यथात्वे शास्त्रद्वारेति दृष्टादृष्टाभ्यां दुर्जरम् । यः सर्वमेवोपभुक्तं भस्मसात्करोति, तेनाप्यग्निना उपभुक्तं दुर्जरमेव भवति, न तु भस्मसाद्भवतीति ऐहिकदुर्जरत्वमेव निरूपितम् । ननु 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथे'ति वाक्यात् ज्ञानेन ब्रह्मस्वजरणमिति चेत्, तत्राह तेजीयसोऽपीति । ज्ञानं फलोन्मुखं तेजः करोति, तद्वान् तेजस्वी, तस्यापि दुर्जरमुपजीव्यविरोधात्। न हि ज्ञानं स्वोपजीव्यमपि खण्डयति । यत्र ब्राह्मणस्यापि ब्रह्मस्वं दुर्जरम्, तत्र राज्ञां ब्रह्मस्वं कथं न दुर्जरं स्यात् । स्वतो ब्रह्मत्वाभावात् ब्राह्मणोपजीवकत्वाच्च । किञ्च । तत्रापि ये ईश्वरमानिनः, स्वस्य क्षात्रं धर्मं परित्यज्य, भगवद्धर्ममैश्वर्यमभिमन्यन्ते, तेन परधर्मनिष्ठत्वात् सुतरामेव ब्रह्मस्वं दुर्जरं भवति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—यदि सात्विक कहे कि यों तो ब्राह्मण की वस्तु नहीं लेनी चाहिये, किन्तु धर्मान्तर से उसके ग्रहण का दोष मिटा कर फिर लेने में क्या दोष है ? तो इस पक्ष का भी भगवान् निराकरण करते है 'बत' पद से खेद प्रकट करते हैं, कि धर्मान्तर से दोष मिटा कर लेना भी हानि कारक है इसलिये खेद है जैसे बालक सर्प के समीप जाते हैं तो उनको देख पिता आदि खेद प्रकट करते हैं वैसे भगवान् भी कहते हैं, यों समझा जाता है, ब्राह्मण की आई हुई वस्तु स्वतः नहीं पचती है और न किसी दूसरे उपाय से पचाई जा सकती है, क्योंकि 'दुर्जर' है अर्थात् पचानी कठिन है क्योंकि प्रथम ब्रह्म ही अक्षय है उसमें भी फिर अक्षय ब्रह्म का सर्वस्व, जो अतिशय अन्तरङ्ग है वह यदि खाया जावे तो उसको पचा लेना कठिन है अर्जीर्ण द्रव्य के समान मृत्यु को सिद्ध करता है, जहाँ ब्रह्मभूत ब्राह्मण का 'स्वं' यह अभिमान अर्थात् सर्वस्व है, वहां प्रत्यक्ष देखे हुए नृग के दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये कि वह 'दुर्जर' है, दूसरे शास्त्र प्रकार से भी दृष्ट और अदृष्ट दोनों से दुर्जर है, जो खाने पर सर्व को ही भस्म करता है, उससे भी अग्नि से उपभुक्त 'दुर्जर' ही हो जाता है, न कि भस्म हो जाता है, इसलिये ऐहिक दुर्जरत्व ही कहा है, शङ्का करते हैं कि गीता में कहा है कि ज्ञानाग्नि सर्व कर्मों को भस्म कर देती है, तो ज्ञानाग्नि से इस ब्रह्मस्व को भी पचा लेंगे, इस शङ्का का उत्तर दिया है कि 'तेजीयसोऽपि' अर्थात् ज्ञान जो है वह फलोन्मुख तेज करता है उससे सम्पन्न तेजस्वी कहा जाता है वह भी इसको आश्रय के विरोध से पचा नहीं सकते हैं, ज्ञान अपने आश्रय को भी खण्डन नहीं कर सकता है, जहां ब्राह्मण भी ब्रह्मस्व को नहीं पचा सकता है तो वहां क्षत्रिय को ब्रह्मस्व क्यों न दुर्जर होगा ? क्षत्रिय में स्वतः ब्रह्मत्व का अभाव है ब्राह्मण ही उनके आश्रय है, वहां भी जो अपना क्षात्र धर्म त्याग कर भगवद्धर्म जो एश्वर्य है उसको अपना धर्म समझते हैं, इससे पर धर्म में स्थित होने से उनको तो सुतरा ही ब्रह्मस्व दुर्जर है । ३२॥

आभास—एवं मरणपर्यवसायित्वमुक्त्वा तादृशान्यन्यान्यपि सन्तीति अनुपमार्थमितरं निषेधति **नाहं हालाहलं मन्य इति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार यह ब्रह्म स्वरूप विष मृत्यु दाता है तो अन्य भी वैसे मृत्युप्रद विष मौजूद हैं, इस पक्ष का 'नाहं हालाहल श्लोक में निराकरण करते हुए कहते हैं कि वैसे विष अन्य नहीं है ।

श्लोक—**नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया ।**
ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिनिधिर्भुवि ॥३३॥

श्लोकार्थ—मैं विष को हालाहल[1] नहीं मानता हूँ; क्योंकि उसके उतारने का

१–'न विषमित्याहुर्ब्रह्म स्वं विषमुच्यते, विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्व पुत्र पौत्रकं' अर्थ– ज्ञानी विष को विष नहीं कहते हैं ब्राह्मण के द्रव्य के उपभोग को विष कहते हैं, क्योंकि विष एक को नाश करता है ब्रह्मस्व वंश को नष्ट कर देता है–

उपाय है, सत्य विष तो ब्राह्मण का द्रव्य ही है; क्योंकि पृथ्वी पर इसका कोई प्रतिनिधि नहीं है ॥३३॥

सुबोधिनी—समुद्रोद्भूतं महादेवेन पीतं विषं हालाहलम्। न विषमात्रम्। तस्यापि महादेवभक्षितस्य प्रतीकारो दृष्ट इति तस्य विषत्वमेव नास्ति। यद्यपि वाक्यान्तरे 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते। विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रक'मिति प्रकारान्तरेण क्रूरता निरूपिता, तथापि तस्याप्यनङ्गीकारार्थमप्रतिक्रियामेवाह। यतो ब्रह्मस्वस्य प्रतिक्रियाभावः, अन्यथा नृगप्रार्थनया सर्वमित्रयोर्ब्राह्मणयोर्दया स्यात् तदा प्रतिक्रियां कुर्वीताम्। ननु तस्यापि प्रतीकारो दृष्टः, कृकलासशरीरं प्राप्य मुक्त इति, तत्राह **भुवीति**। यथास्थितस्य न प्रतीकार इत्यर्थः ।३३।

व्याख्यार्थ—समुद्र से निकला हुआ और जिसको महादेव ने पिया है, उसको हालाहल कहते हैं, वह केवल विष नहीं है, कारण कि उसका भी उपाय है इसलिये वह विष हो नहीं है क्योंकि सत्य विष तो वह है जिसका उपाय न हो और जो जड़ से वंश का नाश करदे, यद्यपि 'न विषं' इस दूसरे वाक्य में उसकी क्रूरता दिखाई है किन्तु यहाँ उस क्रूरता के अतिरिक्त इस ब्रह्मस्व विष को अनुपाय[1] भी कहा है, यदि यह ब्रह्मस्व उपाय वाला होता तो नृग की प्रार्थना करने पर, दोनों ब्राह्मणों को नृग के ऊपर दया आजाती कारण कि ब्राह्मण स्वभाव से सर्व के मित्र होते हैं, जिससे अवश्य उसके सकट का उपाय कहते, यदि कहो कि इसका भी यह उपाय देखा कि गिरगिट योनि को पाकर मुक्त हो गया, जिसका उत्तर देते हैं कि 'भुवि' पृथ्वी पर कोई उपाय नहीं है, अर्थात् जैसे विषवाले का विष उपाय से उतारने पर वह फिर वैसा ही पृथ्वी पर घूमता फिरता है, वैसा इसका उपाय नहीं हैं ॥३३॥

आभास—तमपि विशेषमाह **हिनस्ति विषमत्तारमिति**।

आभासार्थ—उसकी विशेषता 'हिनस्ति' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति।**
कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥३४॥

श्लोकार्थ—विष तो केवल खाने वाले को मारता है, अग्नि जल से शान्त होती है, ब्रह्मद्रव्यरूप अरणि से उत्पन्न अग्नि कुल को समूल जला देती है ॥३४॥

सुबोधिनी—अप्रतीकारेऽपि विषमत्तारमेव हिनस्ति। विषादग्निः क्रूर इति तत्तुल्यो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **अद्भिरग्निः प्रशाम्यतीति**। दृष्टत्वात् न लौकिके हेतुर्वक्तव्यः, अलौकिकेऽपि 'आपो वा अग्रे भ्रातृव्या' इति श्रुतेः अद्भिः प्रशाम्यत्येव। ब्रह्मस्वस्य अशान्तौ हेतुमाह **कुलं समूलं दहतीति**।

१—जिसका कोई उपाय ही नहीं है,

ब्रह्मस्वमेव अरणी याभ्यां मथने अग्निर्भवति। स हि यजमानं यदर्थे आधीयते, तमपि दग्ध्वा शाम्यति, यावज्जीवाधिकारादग्निहोत्रस्य। ब्रह्मस्वलक्षणा त्वरणिः कुलार्थमेव प्रविष्टेति कुलमेव दग्ध्वा शाम्यति। न हि कश्चिद्धर्मार्थं परलोकार्थं वा ब्रह्मस्वं गृह्णाति। शरीरमपि कुलोद्भवमिति वंशजनकमिति च कुलमेव पोषयति। निषिद्धार्थं ब्रह्मस्वग्रहणे उभाभ्यां सर्वनाशः। कुलमित्युपलक्षणं वा। यत्रैव क्वचिद्ब्रह्मस्वं सम्बध्यते, तमेव दहतीति सर्वमविवादम्। **समूलमिति**। कुलरक्षकधर्ममपि उपजीवकत्वात् दहति ॥३४॥

व्याख्यार्थ—यदि विष खाने पर उपाय न किया जावे तो भी वह विष केवल खाने वाले को ही मारता है, विष से अग्नि क्रूर है, इसलिये उसके समान होगा? तो कहते हैं कि नहीं अग्नि तो जल से शान्त होती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिये लौकिक में कारण बताने की आवश्यकता नहीं है, अलौकिक में भी श्रुति ने कहा कि 'जल अग्नि का भ्राता हैं, इसलिये अग्नि जल की प्राप्ति से शान्त हो जाती है, ब्रह्मस्व से उत्पन्न अग्नि शान्त नहीं होती है, किन्तु कुल को जड़ से जला देती है, ब्रह्मस्व ही अग्नि को उत्पन्न करने वाली अरणी है, अरणी से उत्पन्न अग्नि जिसके लिये लाई जाती है उस यजमान को जलाने के अनन्तर शान्त होती है, कारण कि 'अग्नि होत्र' जीवन पर्यन्त करना ही है, ब्रह्मस्वरूप जो अरणी है वह कुल के लिये ही प्रविष्ट हुई है, इसलिये कुल को जला कर ही शान्त होती है. कोई भी मनुष्य ब्राह्मण का धन धर्म के लिये वा परलोक के लिये नहीं लेता है किन्तु शरीर पोषणार्थ ग्रहण करता है. शरीर भी कुल में उत्पन्न होने से वंश को उत्पन्न करने वाला है, इससे जाना जाता है कि वह ब्राह्मण का धन कुल का ही पोषण करता है, निषिद्ध किया हुआ पदार्थ और ब्राह्मण का धन, इन दोनों के ग्रहण करने से सर्व का नाश होता है, यहां कुल' पद तो केवल उपलक्षण तरीके से कहा है, वास्तविक तो जहां भी वह ब्राह्मण-द्रव्य जाता है उस सर्व को जला के भस्म कर देता, जिसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है. कुलकी रक्षा करने वाला जो उपजीवक धर्म है उसको भी जला देता है ॥३४॥

आभास—सामान्यतः कुलनाशकत्वं ब्रह्मस्वस्योपपाद्य विशेषतो व्यवस्थामाह **ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातमिति**।

आभासार्थ—ब्राह्मण के धन को सामान्य रीति से कुल नाशक प्रतिपादन कर, विशेष प्रकार से व्यवस्था 'ब्रह्मस्वं' श्लोक में कहते है।

श्लोक—**ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपूरुषम्।**
प्रसह्य तु बलाद्भुक्तं दश पूर्वान्दशापरान् ॥३५॥

श्लोकार्थ—प्रेम से जिसकी आज्ञा देने वाले ने नहीं दी है, ऐसा ब्राह्मण का द्रव्य यदि खाया जावे तो वह द्रव्य तीन पुरुषों को (पीढ़ी का) नाश करता है, यदि बल से हठ कर लिया हुआ ब्राह्मण का द्रव्य खाया जाय तो वह द्रव्य दस पहली और दस होने वाली पीढ़ी को भस्म कर देता है ॥३५॥

सुबोधिनी—दुष्टतया अनुज्ञातम्, मनसि अदत्त्वैव वाङ्मात्रेणानुज्ञातम्, यथा बलादृहीत्वा अनुज्ञां प्रार्थयति। ततो बलिष्ठं ज्ञात्वा मारणादिशङ्क्या अनुगृह्णाति, तत् दुरनुज्ञातम्। तच्चेदुक्तम्, तदा त्रिपूरुष हन्ति भोक्ता तत्पुत्र पौत्रश्चेति त्रयः पुरुषाः। चौर्यभुक्तं तु निषिद्धत्वान्महापातके पर्यवस्यति। प्रसह्य धृत्वा अतिक्रमं कृत्वा शास्त्रतः बलाल्लोकतश्च भुक्तमेकविंशतिपुरुषान् दहति। तत्र दशपूर्वाः पितृपितामहादयः, परे पुत्रपौत्रादयः, स्वयमेकविंशः। प्रसहनबलयोरान्तरबाह्यभेदेन व्यवस्था, वैदिकलौकिकभेदेन वा। कश्चित् बलादृह्यमाणं प्रयच्छति, स्वयं बलमकृत्वा, कश्चित्तु स्वयमपि बलं करोतीति न पौनरुक्त्यम्। ॥३५॥

व्याख्यार्थ—मन में तो देने की इच्छा नहीं है, केवल वाणी से आज्ञा दी है, जैसे जबर्दस्ती से पकड़ कर फिर उससे आज्ञा लेनी, जिससे वह उसको बलिष्ठ जान मार डालेगा आदि शङ्का से द्रव्य लेने की आज्ञा दे देता है, यह प्रेम रहित जबर्दस्ती से ली हुई आज्ञा है, ऐसी आज्ञा से प्राप्त ब्राह्मण द्रव्य खाने पर वह तीन पीढी को नाश करता है, खाने वाला उसका पुत्र और पौत्र ये तीन पुरुष हैं, चोरी से लाकर खाये हुये की महा पातक में गिनती होती है, शास्त्र, बल और लोक का अतिक्रम कर जबर्दस्ती से लाकर खाया जावे तो वह इक्कीस पीढ़ीयों को भस्म कर देता है, उसमें दश पहली पिता पितामह आदि दश पिछली पुत्र और पौत्र आदि को भस्म करता है, स्वयं इक्कीसवां समझना चाहिये, जबर्दस्ती और बल इनका आन्तर और बाह्य भेद से व्यवस्था जाननी अथवा वैदिक और लौकिक भेद से व्यवस्था जाननी, कोई स्वयं, अपना बल प्रकट कर देना चाहता किन्तु लेने वाला बलिष्ठ होने से लेता है इसलिये पुनरुक्ति नहीं है ॥३५॥

आभास—नन्वेवं धर्मशास्त्रे प्रसिद्धे कथं ब्रह्मस्वापहारो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **राजान** इति।

आभासार्थ—जब इस प्रकार धर्म शास्त्र में ब्रह्मस्व के लिये प्रसिद्ध कहा गया है तब ब्रह्म द्रव्य का अपहरण कैसे वा क्यों किया जाता है ? इस शङ्का का उत्तर 'राजानो' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**राजानो राजलक्ष्म्या च नात्मपातं विदन्ति ते।**
निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशाः ॥३६॥

श्लोकार्थ—प्रथम राजा होने से; फिर राजलक्ष्मो से वे अपना पतन होगा, यों नहीं समझते हैं, ऐसे जो राजा हैं, वे ब्रह्मस्व को नरक का साधन नहीं मानते हैं, किन्तु श्रेष्ठ समझते हैं; क्योंकि अज्ञ हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—प्रथमतो राजत्वादेव, तत्रापि राजलक्ष्म्या। चकारादभिजनादिमदैः आत्मनः पातं न विदन्ति, यतस्ते शास्त्रोक्ता राजानः, अन्यथा 'राज्यान्ते नरकं ध्रुव'मिति न स्यात्। अन्यत् क्षत्रियस्य व्याप्यमेव, ब्राह्मण एव परं व्यापकाः, ते चेद्ब्रह्मस्वं जानीयुः नरकसाधनत्वेन, तदा न गृह्णीयुः। न हि कश्चिन्नरके पतति। अत एव निरयरूपं ब्रह्मस्वं साधु मन्यन्ते। यतो बालिशाः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्म द्रव्य लेने से पतन होगा, यों राजा होने से तथा राज लक्ष्मी के मद से नहीं समझते है क्योंकि वे शास्त्र में जिनके लिये 'राज्य के अन्त में'; निश्चय से नरक लिखा है वे राजा हैं,क्षत्रिय में अन्य प्रकार से व्याप्य हैं और ब्राह्मण में ही यह अच्छी तरह व्यापक हैं अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मस्व को नरक का साधन समझते है क्षत्रिय नहीं जानते हैं, यदि वे इसको नरक का साधन जाने तो ग्रहण न करे, वे यों समझते हैं कि ब्रह्मस्व लेने से कोई नरक में नहीं पड़ता है, इस कारण से निरय रूप ब्रह्मस्व को श्रेष्ठ समझते है क्योंकि नासमझ हैं ॥३६॥

आभास—सामान्यतो नरकमुक्त्वा विशेषया गृह्णन्तीति द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—सामान्य रूप से नरक का वर्णन कर गृह्णन्ति' आदि दो श्लोकों से विशेष प्रकार से वर्णन करते है।

श्लोक—**गृह्णन्ति यावतः पांसून्क्रन्दतामश्रुबिन्दवः।**
विप्राणां हृतवृत्तीनां वदान्यानां कुटुम्बिनाम् ॥३७॥
राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान्निरङ्कुशाः।
कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः ॥३८॥

श्लोकार्थ—लोभ आदि दोष रहित अर्थात् उदार और कुटुम्बो, ऐसे ब्राह्मणों की वृत्ति का जब हरण हो जाता है, तब उनके नेत्रों से अश्रुओं के बिन्दु गिर कर, जितने रज के कणों को भिगोते हैं, उतने वर्ष तक निरंकुश होकर ब्रह्मस्व अथवा वृत्ति का हरण करने वाले राजा लोग तथा राजकुल में जन्मे हुए कुम्भी पाक नरक में पकाये जाते हैं ॥३७-३८॥

सुबोधिनी—हृतवृत्तीनां रुदतामश्रुबिन्दवो यावतः पासून् गृह्णन्ति। अन्त.शोके हि रोदनम्, तस्य च परिमितिरश्रुभिर्भवति। अश्रूणां च परिमाणं कार्यवशात्, अतो रेणूनां सङ्ख्चयैव शोकसङ्ख्या। निमित्तान्तरं निराकर्तुं हृतवृत्तीनामिति। वदान्यानामिति लोभादिदोषनिषेधः। कुटुम्बिनामिति ह्रियमाणपदार्थाविश्यकत्वम्। तदा ब्रह्मस्वता सम्पद्यते अत्यावश्यकत्वात्। निषिद्धायाः क्रियायाः ब्राह्मणविषयाया पांसुद्वारैवानिष्टनिर्णयो वेदे निरूपितः। 'यावतः प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णात्, तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजाना'दिति श्रुतेः। एकेन निमित्तमुक्त्वा अपरेण फलमाह **राजानो राजकुल्याश्चे**ति। **राजकुल्याः** राजकुलोत्पन्नाः। चकारात्तत्सम्बन्धिनोऽन्ये च, य एव हरणे समर्थाः। तावतः अब्दान् वर्षानभिव्याप्य कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते। प्रासङ्गिकदोषपरिहारार्थमाह **ब्रह्मदायापहारिण** इति। **निरङ्कुशा** इति। तेषां नियामकश्चेन्न स्यात्, अन्यथा तस्यैव दोषो भवेत् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—वृत्ति (जीविका) हरण हो जाने से, रुदन करते हुए ब्राह्मणों के अश्रुओं के बिन्दु जितने रजः कणों को भिगोते हैं उतने वर्ष वे निरङ्कुश हो वृत्ति वा ब्रह्म धन हरण करने वाले

राजा अथवा राजकुल में उत्पन्न कुम्भीपाक नरक में पकाये जाते हैं। अन्तःकरण में जब शोक होता है तब रोना आता है, उसका माप आँसुओं से होता है कि इनको कितना दुःख हुआ है, अश्रुओं का माप उसके कार्य से होता है, अतः रजः कणों की सङ्ख्या से ही शोक की सङ्ख्या गिनी जाती है, उन ब्राह्मणों के रोने का दूसरा निमित्त न हो किन्तु जीविका का हरण हो, वे ब्राह्मण भी लोभ आदि दोष रहित हो, और कुटुम्ब वाले हो क्योंकि उनको हरण किये हुए पदार्थ की आवश्यकता रहती है, जब ये सब कारण हो तब अति अवश्यकता से, वह पदार्थ ब्रह्मस्व होता है, ब्राह्मण सम्बन्धी जिस क्रिया का निषेध किया गया है यदि वह क्रिया की जावे तो उससे होने वाले अनिष्ट फल का रजः कण द्वारा ही वेद में निरूपण किया गया है, जैसा कि 'यावतः प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानात्' इति श्रुतिः, वेद कहता है कि ब्राह्मणों के अश्रुबिन्दु जितने रजः कण को भिगोते हैं, उतने संवत्सर ब्रह्मस्व हरण करने वाला पितृ लोक में नहीं जा सकता है अर्थात् उतने वर्ष नरक में पड़ा रहता है, एक श्लोक से कारण कह कर दूसरे से मूल कहता है, राजा तथा राजकुल में उत्पन्न और 'च' से उनके दूसरे सम्बन्धी भी समझते, जो हरण कर सकते हो, ये सर्व उतने वर्ष कुम्भीपाक नरक में पकाये जाते हैं, प्रासङ्गिक दोष के परिहार के लिये कहते हैं कि, वे अङ्कुश रहित हो ब्रह्मस्व हरण करते है उनका नियमन करने वाला यदि न होवे, तो उसका ही दोष गिना जायगा ॥३८॥

आभास—ब्रह्मस्वविशेषस्यापहारे दोषविशेषमाह **स्वदत्तामिति**।

आभासार्थ—विशेष ब्रह्मस्व के हरण करने से विशेष दोष होता है जिसका वर्णन 'स्वदत्तां' श्लोक में करते है।

श्लोक—स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः।
षष्टिवर्षसहस्राणि विष्ठायां जायते कृमिः ॥३९॥

श्लोकार्थ—जो अपनी दी हुई अथवा अन्य की दी हुई ब्राह्मण की जीविका का हरण करता है, वह साठ हजार वर्ष विष्टा में कीड़ा होकर रहता है ॥३९॥

सुबोधिनी—पूर्वं स्वेनैव दत्ता, पश्चाद्ब्राह्मणास्वारस्ये हृता, परेण राज्ञा दत्ता, परराज्यहरणेन हृता। पित्रादिदत्तां स्वदत्तामेवाहुः स्वयमेव पितेति। नात्र धनं विषयः, किन्तु वृत्तिर्भूम्यादिः, यत्र निरन्तरं जीवनसाधनमुत्पद्यते। ब्रह्मवृत्तिर्ब्राह्मणानामेव जीवनसाधनोत्पत्तिस्थानम्। तादृशः षष्टिवर्षसहस्राणि नरकरूपायां विष्ठायां कृमिर्भूत्वा तिष्ठति। षष्टिसंज्ञकः संवत्सरः। प्रभवादयः तस्य संज्ञाः। ते सहस्रधा आवृत्ता इति तावद्वर्षाणि। सर्वतो बीभत्सिता सेति उत्पत्तिरेव तत्रेति न क्वचिदपि तस्मिन् शरीरे सुखसम्बन्ध इत्युक्तम् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—प्रथम अपनी दी हुई जीविका ब्राह्मण से मेल न होने पर लौटा कर लेनी, दूसरे राजा ने दी हो, दूसरे का राज्य हरण करने पर, उस राजा की ब्राह्मण को दी हुई जीविका ले लेनी पिता आदि ने दी हो वह भी अपनी ही दी हुई समझनी चाहिये क्योंकि आप पिता का ही रूप है, यहां धन का

विषय नहीं है, किन्तु जीविका का विषय है, जीविका का साधन भूमि आदि है, जिसमें से सदैव जीविका के साधनों की प्राप्ति होती है ब्राह्मणों की जीविका भूमि आदि है क्योंकि उससे ब्राह्मणों के जीवन के साधनों की उत्पत्ति होती रहती है, वैसी भूमि आदि जो छीन लेता है वह साठ हजार वर्ष नरकरूप विष्ठा में कीड़ा हो कर रहता है, प्रभव आदि संवत्सर के नाम हैं वे हजार वार आवृत्ति करे उतने वर्ष वहां रहता है, सब से डरने वाली वह विष्टा है, ऐसे की उत्पत्ति ही विष्टा में और इतना समय रहना भी वहां जिससे उस शरीर में थोड़ा भी सुख नहीं है ॥३९॥

आभास—एवं ब्रह्मस्वदोषानुक्त्वा स्वकीयेषु तदभावं प्रतिजानीते **न मे ब्रह्मधनं भूयादिति**।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्मस्व हरण का दोष बता कर अपने जो है, उनमें यह न हो ऐसी प्रतिज्ञा 'न में ब्रह्म धनं' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—न मे ब्रह्मधनं भूयाद्यद्गृद्ध्रात्पायुषो नृपाः।
पारिजिताश्च्युता राज्याद्भवन्त्युद्वेजिनोऽहयः ॥४०॥

श्लोकार्थ—मेरे घर में ब्राह्मण का धन न आवे, जिस धन के लोभ से राजा लोग अल्प आयुष्य वाले, पराजित, राज्य से भ्रष्ट होते हैं, सर्प के समान उद्वेग वाले होते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—स्वतो दैववशाद्वा ब्रह्मस्वं सङ्क्रान्तं भवतीति मे न भूयादिति देवप्रार्थनेव वचनम्। प्रमादादागते को दोष इति चेत्, तत्राह **यद्गृद्ध्रात्पायुष** इति। यद्गृद्ध्राः यदभिकाङ्क्षिणश्च ते अल्पायुषश्च। ग्रहणमात्र एवायुःक्षयो भवतीत्युक्तम्। आपद्गतानां तथा दोषो न भवतीति **नृपा** इत्युक्तम्। दैवगत्या मरणाभावेऽपि शत्रुभिः पराजिता भवन्ति। राज्यात् च्युताः ततो मृताः स्थानभ्रष्टा जनोद्वेजनकर्तारः सर्पा भवन्ति। अत ऐहिकामुष्मिकदोषस्य विद्यमानत्वात् तत्सङ्क्रमो मा भवत्विति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—अपने से अथवा दैव वश होके ब्रह्मस्व प्राप्त हो जाता है, किन्तु हमको तो वह नहीं चाहिये, इस प्रकार के वचन मानो देव की प्रार्थना के लिये ही कहे हैं, यदि कहो कि भूल से आजावे तो इसमें क्या दोष है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जो उसको चाहते हैं उनकी आयु कम हो जाती हैं, केवल लेते ही आयु क्षीण होती रहती है, जो आपद् ग्रस्त हैं उनको यह दोष नहीं लगता है, इसलिये 'नृपाः' कहा है, दैव की गति से मरने के अभाव होते हुए भी वे शत्रुओं से पराजित हो जाते हैं राज्य से गिरने से मरे जैसे होते हैं तथा स्थान भ्रष्ट होते हैं और मनुष्यों को उद्वेग कर्त्ता होने वाले सर्प सम हो जाते हैं अतः ब्रह्मस्व में ऐहिक और आमुष्मिक दोष विद्यमान होने से उसका मिलन न हो, यह प्रार्थना है ॥४०॥

आभास—ननु ब्राह्मणः स्वयं चेदपराधं कुर्यादसह्यम्, तदा किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **विप्रं कृतागसमपीति**।

आभासार्थ—यदि ब्राह्मण स्वयं असह्य अपराध करे तो तब क्या करना चाहिये। इस प्रश्न का उत्तर 'विप्रं कृतागसं' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः।**
घ्नन्तं बहु शपन्तं च नमस्कुरुत नित्यशः ॥४१॥

श्लोकार्थ—हे मेरे जन ! आप अपराधी ब्राह्मण का भी द्रोह मत करो, चाहे वह मारे वा गाली दे तो भी उनको हमेशा नमस्कार ही करो ॥४१॥

सुबोधिनी—मामका इत्यनेन ब्रह्मण्यदेवत्वात् स्वस्य देवता देवता सुतरां मान्या भवतीति अद्रोहे हेतुरुक्तः, नियमेन द्रोहं मा कुरुत। प्रमादापराधविषयमेतदित्याशङ्क्याह **घ्नन्तं बहु शपन्तं चेति**। मानसापराधे किं वक्तव्यम्, कायिकवाचिकापराधेऽपि द्रोहं मा कुरुत। **बह्वित्युभयत्र सम्बध्यते**।

व्याख्यार्थ—अपराधी ब्राह्मण का भी क्यों न द्रोह किया जावे ? जिसमें कारण कहते हैं कि उनमें ब्रह्मण्य देवता रहता है, सुतरां मान देने योग्य है, अतः नियम से द्रोह न कीजिये यदि कहो कि यह विषय तो प्रमाद से अपराध हो जावे जिसका है, इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, यदि ब्राह्मण ताड़ना करे वा क्रोध में आकर गाली दे तो भी शाप न लगेगा इस प्रकार भय न होने से चुप हो कर मत बैठो किन्तु उनको नित्य नमस्कार ही करो क्योंकि चुप रहने से ब्राह्मण के हृदय में भय की उत्पत्ति होगी जिससे फिर अपकार होगा, अतः नमस्कार नित्य करते रहो, जहां कायिक वाचिक अपराध ब्राह्मण करे तो उनको नमस्कार ही करनी है तो मानस अपराध करे तो क्या कहा जाय ? अर्थात् इससे विशेष नम्रतापूर्वक नमन आदि ही करना चाहिये ॥४१॥

हननमत्र ताडनम्, न तु शिरश्छेदः। 'जिघांसन्तं जिघांसीया'दिति वाक्यात्। शापोऽवगूरणम्। मदीयानां शापो न भवतीति भयाभावात् न केवलं तूष्णीं स्थातव्यम्। तथा सति ब्राह्मणस्य भयोत्पत्तिसम्भवात् पुनरपकारः स्यात्। किन्तु **नित्यं नमस्कुरुत** शङ्काभावार्थम् ॥४१॥

आभास—ननु सर्वात्मकत्वाद्भगवतः व्यवहारस्यापि न तथाभावात् वेदलोकविरुद्धं कथं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **यथाहमिति**।

आभासार्थ—भगवान् सर्वात्मक है इसलिये यों करने से व्यवहार भी नहीं बन सकेगा, अतः लोक और वेद के विरुद्ध जो कर्त्तव्य है वह कैसे किया जावे ? जिस शङ्का को मिटाने के लिये 'यथाहं' श्लोक में उपपत्ति बताते हैं।

श्लोक—**यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः।**
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥४२॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार हम सावधान होकर हर समय ब्राह्मणों को नमन करते हैं, वैसे तुम भी नमन करो, जो यों नहीं करता है, वह मुझ से दण्ड पाता है ॥४२॥

सुबोधिनी—**मदीयानां हि मत्कृतं कर्तव्यम्, किं लोकेन वेदेन वा।** अहं तु त्रिकालं सावधानो भूत्वा भृगुमिव, विप्रत्वेनैव विप्रमात्रं प्रणमे, तथा यूयमपि नमत। न हि मत्तो यूयमधिकाः। चकाराद्भगवदीयाश्च। अनङ्गीकारे बाधकमाह। योऽन्यथा सावधानतया ब्राह्मणं न नमस्करोति, स मे दण्डभाक्, मम दण्डयुक्तो भविष्यति ।४२।

व्याख्यार्थ—जो मेरे हैं, उनको, जैसा मैं कर रहा हूँ, वैसा ही करना चाहिये, उनका लोक तथा वेद से क्या सम्बन्ध है ? मैं तो तो तीन ही काल सावधान होके भृगु की तरह ब्राह्मणपन के कारण ब्राह्मण मात्र को नमन करता हूँ वैसे आप भी नमन करो, तुम मुझ से विशेष नहीं हो, 'च' शब्द कह कर बताया है कि जो भगवदीय हैं, उनको तो यों नमन अवश्य करना चाहिये, जो इस आज्ञा को नहीं मानता है अर्थात् सावधान हो नमन नहीं करता है, वह मुझ से दण्ड पाता है ॥४२॥

आभास—ननु किमेवं निर्बन्ध इति चेत्, तत्राह **ब्राह्मणार्थं** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार आग्रह किस लिये ? इसका समाधान 'ब्राह्मणार्थं' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**ब्राह्मणार्थो ह्यपहृतो हर्तारं पातयत्यधः।**
अजानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥४३॥

श्लोकार्थ—जैसे अनजाने भी नृग राजा को ब्राह्मण की गौ ने नीच योनि में गिराया, वैसे ही अपहृत ब्राह्मण का द्रव्य अपहरण करने वाले का अधः पात करता है ॥४३॥

सुबोधिनी—**मदीया ऊर्ध्वगतिमेव यास्यन्ति,** ब्राह्मणार्थस्त्वपहृतः स हर्तारं पातयति। अपहारे कृतेऽधः पातयत्येव। **अजानन्तमपि** अज्ञाने फले न किञ्चिद्वैगुण्यम्। **एनं नृगं ब्राह्मणगौरिवेति** स्पष्टो दृष्टान्तः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—मेरे जो भक्त हैं उनकी उच्च गति ही होती है, जो ब्राह्मण के द्रव्य का अपहरण करता है उसको वह ब्राह्मण द्रव्य नीच योनि में गिराता है, अपहरण करने पर निश्चय पूर्वक नीचे गिराता ही है, जानते वा अनजानते अपहरण का फल समान ही होता है, जैसे नृग राजा को ब्राह्मण की गौ ने गिराया, यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद है ॥४३॥

आभास—एवमुपदेशं कृत्वा प्रसङ्गात्पूर्वद्वारकायामागतः तत्रैव तिष्ठेदित्याशङ्क्य, ततो गतस्य मुख्यद्वारकास्थगृह एव स्थितिमाह **एवं विश्राव्येति**।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार उपदेश देकर प्रसङ्ग से प्रथम ही द्वारका में आये हुए वहां ही रहे, ऐसी शङ्का होने पर 'एवं विश्राव्य' श्लोक में कहते है कि उपदेश के पश्चात् ही द्वारका में स्थित मुख्य गृह में ही आकर विराजें।

श्लोक— एवं विश्राव्य भगवान्मुकुन्दो द्वारकौकसः ।
पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—मोक्ष देने वाले तथा सर्व लोकों को पवित्र करने वाले भगवान् द्वारकावासियों को इस प्रकार सर्व कथा सुनाते हुए, उपदेश देकर पश्चात् अपने मन्दिर में प्रविष्ट हुए ॥४४॥

सुबोधिनी—सर्वान् विशेषेण श्रावयित्वा भगवांस्तावतैव कार्यं मत्वा सर्वेषां मोक्षदाता ब्राह्मणातिक्रमाभावे मोक्षो भविष्यतीति। द्वारकौकस इति। निरुद्धास्त एवेति मोक्षदात्रा संरक्षिताः, भगवत्स्थान एव स्थिताः, भगवतैव पूताः। तानुद्धृत्य संसारान्निजमन्दिरं स्वगृहं विवेश। अनेन सामान्यतः सात्त्विकानां निरोध उक्तः। ॥४४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने सब को विशेष रूप से यह नृग चरित्र उपदेश सहित कहा जिससे ही कार्य पूर्ण समझा, इस उपदेश में ही मोक्षदाता भगवान् ने कह दिया कि ब्राह्मणों का अतिक्रम नहीं करेगा वह मुक्त होगा, यह उपदेश द्वारकावासियों को दिया है उनकी ही मोक्ष दाता ने रक्षा की है क्योंकि वे ही निरुद्ध हैं, वे हो भगवान् के स्थान में ही स्थित हैं और भगवान् ने उनको पवित्र किया है, उनका संसार से उद्धार कर पश्चात् अपने मन्दिर में प्रविष्ट हुए, इससे साधारण रूप से सात्विकों का निरोध वर्णन किया ॥४४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६१वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण का पहला अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें
राग सारंग— "नृग राजा उद्धार"

अविगत गति जानी न परै।
राई तैं परबत करि डारै, राई मेरू करै ॥
नृग राजा नित गऊ सहस दै, करत हुतो जल-पान।
तनक चूक तैं गिरगिट कीन्हो, को करि सकै बखान ॥
कूप माहँ तिहिं देखि बालकनि, हरि सों कह्यो सुनाइ।
कृपानिधान जानि अपनो जन, आए तहँ जदुराइ ॥
अंधकूप तैं काढि बहुरि तेहिं, दरसन दै निस्तारा।
सूरदास सब तजि हरि भजियै, जब कब करै उधारा ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ६५वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ६२वाँ अध्याय
उत्तरार्ध का १६वाँ अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"२२१ अध्याय"

श्री बलरामजी का व्रजगमन

कारिका – **विशेषे सात्त्विके रोधे तामसादिविभागतः ।**
पूर्वं राजसमापन्नाः सत्त्वभावं तथानयत् ॥१॥

कारिकार्थ—१५वें अध्याय के अन्त में सामान्य निरोध का उपसंहार किया, इसके अनन्तर पञ्चाध्यायी का अर्थ जो विशेष निरोध है, उसका निरूपण करते हैं, तामस प्रकरण में लीला द्वारा तामस भाव का निवारण कर राजस भाव का सम्पादन किया, राजस प्रकरण में उसको भी निवृत्त कर सात्त्विक भाव प्रकट किया, सात्त्विक प्रकरण में निर्गुण भाव सम्पादन किया, पश्चात् मुक्ति के स्कन्ध में मोक्ष का वर्णन किया है, इस प्रकार निबन्ध में विभाग निरूपण किए हैं ॥१॥

कारिका—**तेषां सात्त्विकरूपाणां सकामत्वाद्बलेन हि ।**
निरोधं कारयामास षोडशे तन्निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—जो सात्त्विक भाव को प्राप्त हो गए, वे सकाम होने से उनका बलरामजी द्वारा निरोध करवाया है, कारण कि काम तामस है, सङ्कर्षणजी भी वैसे ही हैं, इसलिए उनके द्वारा ही वैसों का निरोध हुआ है, जिसका वर्णन इस १६वें अध्याय में किया है, इससे निष्कामत्व सिद्ध हो जाने पर कुरुक्षेत्र के प्रसङ्ग में स्वयं आप निर्गुणत्व सिद्ध करेंगे, इसी तरह प्रकरण की सङ्गति है ॥२॥

कारिका—**ततः स्वरूपभावानां दुष्टानां दोषनुद्धरिः ।**
प्रसङ्गादिदमत्रोक्तं वाराणस्यास्तु दाहनम् ॥३॥

कारिकार्थ—यों विशेष निरोध के प्रकरण में प्रथम अध्याय का अर्थ कह कर द्वितीय अध्याय का अर्थ कहते हैं कि पौण्ड्रक आदि स्वरूप मात्र में तो भाव वाले हैं, किन्तु दोषयुक्त होने से हरि उनके दोषों का नाश करने वाले हुवे हैं, उनके केवल दोष ही नाश करने थे, सारूप्य तो स्वरूप में भाव होने से सिद्ध ही है, यहाँ प्रसङ्ग होने से वाराणसी का दाह कहा है ॥३॥

कारिका—**बलस्तामसभावानां राजसानां तथैव च ।**
सात्त्विकानां तथा मानखण्डकः सुनिरूप्यते ॥४॥

कारिकार्थ—बलरामजी तामस भाव को प्राप्त यमुना, राजस भाव को प्राप्त द्विविध आदि और सात्त्विक भाव को प्राप्त भीष्म आदि के अभिमान के खण्डन करने वाले हैं, यह निरूपण इस अध्याय में है ॥४॥

कारिका—**ततः स्त्रीणां तु भगवान् एकेनैव करिष्यति ।**
सप्तमास्त्रय एकत्र धर्मिणः पृथगीरिताः ॥५॥
एवं प्रमेयबलतो निरोधः पञ्चधा भवेत् ।

कारिकार्थ—पश्चात् पाँचवें अध्याय में नारद को बोध कराने के लिए विशेष रूप से स्त्रियों का निरोध एक ही से करेंगे, पहले की तरह यहाँ भी धर्मी निरूपण की आशङ्का कर कहते है कि 'सप्तमाः' धर्म धर्मी प्रकार से निरूपण में सप्तम हैं; क्योंकि तीन इकट्ठे हैं, धर्मी के पृथक् कहे हैं ॥५॥

इस प्रकार विशेष प्रकार से निरूपण में प्रमेय बल से निरोध पाँच प्रकार का हुआ । यदि पूर्व अध्याय में कहे हुए सामान्य निरोध को भी गिना जाय तो निरोध छः प्रकार का होगा ॥

— इति कारिका समाप्त —

आभास—पूर्वाध्याये सात्त्विका निषिद्धात् व्यावर्तिताः । षोडशे त्वध्याये लौकिकात् सात्त्विकभावमापादिताः गोपिका निरुध्यन्ते । ततो वैदिकादपि काशीदाहे निरोधं वक्ष्यति । ततः अशास्त्रभक्तेः द्विविदादीनाम् । ततो भीष्मादीनां शास्त्रभक्तेश्च । ततः शास्त्रप्रवर्तकस्य नारदस्यापि मुख्यभावात् । स्वशक्तिर्द्विधा स्थापितेति साधनशक्तिरूपो बलभद्रः गोपिकानां निरोधं कृतवानिति निरूपणार्थं गोकुले बलभद्रगमनादिकमुच्यते ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में सात्विकों को निषिद्ध से हटाया गया, १६ वें अध्याय में तो लौकिक से सात्विक भाव को प्राप्त गोपिकाओं को निरुद्ध किया गया है, पश्चात् वैदिक से भी काशीदाह में निरोध कहेंगे, अनन्तर अशास्त्रीय भक्ति के द्विविध आदि का तथा शास्त्र भक्ति के भीष्म आदि का निरोध कहेंगे, ये दोनों सात्विक भाव को प्राप्त हुवे है बाद में शास्त्र प्रवर्त्तक नारद का भी मुख्य भाव होने से निरोध हुवा हैं, भगवान् ही जहां साधन और फल रूप होते हैं वैसा भाव ही मुख्य भाव है ।

भगवान् ने अपनी शक्ति दो तरह से स्थापित की है, १ क्रिया शक्ति अर्थात् साधन शक्ति दूसरी ज्ञान शक्ति, उनमें से साधन शक्ति रूप बलभद्र स्वरूप हैं जिस स्वरूप से इस गोपिका रमण में गोपियों का निरोध किया है, यह निरूपण करने के लिये बलभद्रजी का गोकुल में जाना आदि कहा है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः ।**
सुहृद्दिदृक्षुरुत्कण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे कुरुश्रेष्ठ ! सुहृदों को देखने की इच्छा वाले भगवान् बलभद्रजी रथ में बैठ नन्द की गोकुल को गए ॥१॥

सुबोधिनी—**बलभद्रः** कुरुश्रेष्ठेति । विश्वासार्थं सम्बोधनम् । **भगवानिति** निरोधोन्यकर्तव्यो न भवतीति साधनरूपो भगवांस्तत्राविष्ट इति भगवान् । **रथमास्थितः**, न तु पूर्ववद्गुप्तः । **सुहृद्दिदृक्षुः** नन्दादिदर्शनेच्छया । पूर्वभावमापन्नान् । तदर्थपरमोत्कण्ठायुक्तः नन्दगोकुलं प्रययौ । तेषां निरोधस्तत्र कर्तुं शक्य इति तत्र गतः ॥१॥

व्याख्यार्थ—राजा को कुरु श्रेष्ठ संबोधन विश्वास कराने के लिये दिया है,बलभद्र को भगवान् यहां इसलिये कहा है कि निरोध तो भगवान् के सिवाय अन्य नहीं कर सकता है अतः जिस समय बलराम गोकुल पधारने के लिये रथ में बिराजमान हुवे उस समय साधन रूप भगवान् ने बलभद्र में प्रवेश किया, पहले की तरह[1] गुप्त नहीं, किन्तु प्रकट होकर प्रवेश किया जिससे बलभद्र गोपियों से रमण आदि लीला कर सके जिससे उनका निरोध सिद्ध होवे, वहां बलभद्र, नन्द आदि के दर्शन की इच्छा से गये हैं, सात्विक भाव प्राप्त हुवे उनके लिये विशेष उत्कण्ठा से युक्त राम नन्द की गोकुल गये, उनका निरोध वहां करने के लिये शक्य था इसलिये वहां पधारे ॥१॥

आभास—पूर्वं तदासक्तिद्वारा पश्चाद्भगवदासक्तिः सुलभेति प्रथमं लौकिकप्रकारेणैव तदासक्तिमाह **परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैरिति** ।

आभासार्थ—प्रथम श्री बलभद्र में आसक्ति होवे तो अनन्तर भगवान् में आसक्ति सुलभ हो सकेगी, इसलिये पहले लौकिक प्रकार से ही 'परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैः' श्लोक में उनकी आसक्ति कहते हैं ।

श्लोक—**परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपीर्गोपीभिरेव च ।**
रामोऽभिवाद्य पितरावाशीर्भिरभिनन्दितः ॥२॥

श्लोकार्थ—बहुत समय से उत्कण्ठा वाले गोप तथा गोपियों से मिले, अनन्तर माता-पिता को नमन कर उनका आशीर्वाद ग्रहण किया ॥२॥

सुबोधिनी—गोपानां गोपीनां एक एव परिचयलक्षणो भाव इति सह निरूपणम् । **गोपीभिरेवेति** । द्वयोरपि गोपैरालिङ्गितम्, परं वस्तुतो गोपीभिरेवालिङ्गितः । चकारान्नन्दयशोदाभ्याम्। तत्कृत्यमुक्त्वा बलभद्रकृत्यमाह **रामोऽभिवाद्य पितराविति** । पितृत्वमेव स्थापितमिति नान्यः शब्दो निरूपितः । तौ वैश्यावपि आशीर्भिरेवाभिनन्दितः ताभ्याम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—गोप और गोपियों का एक ही प्रणय रूप भाव था, इसलिये दोनों का साथ में निरूपण किया है, यद्यपि गोपों ने भी आलिङ्गन किया किन्तु वास्तविक आलिङ्गन गोपियों ने ही किया है, 'च' पद से जाना जाता है कि नन्द और यशोदा ने भी आलिङ्गन किया था, उनका कार्य कह कर अब राम का कृत्य कहते हैं कि राम ने नन्द यशोदा को पिता माता समझ ही नमन किया, इस भाव को प्रकट करने के लिये मूल में 'पितरौ' पद दिया है दूसरा शब्द नहीं दिया, जो वे वैश्य हैं तो भी उनमें पितृ भाव स्थापित होने से उन्होंने आशीर्वाद दी है ॥२॥

आभास—पूर्वनिरोधस्य गमने उत्तरत्र क्रियमाणो व्यर्थः स्यादिति पूर्वसम्बन्धस्तथैव स्थित इति निरूप्यते **चिरं नः पाहि दाशार्हेति** ।

१—भ्रमरगीत के प्रसङ्ग के समान नहीं

आभासार्थ—प्रथम किया हुआ निरोध यदि समाप्त हो जावे तो पश्चात् किया हुवा निरोध भी व्यर्थ हो जाता है अतः पहला किया हुआ सम्बन्ध वैसा ही स्थित रहा यों 'चिरं नः पाहि' श्लोक में निरूपण किया जाता है ।

श्लोक—**चिरं नः पाहि दाशार्ह सानुजो जगदीश्वरः ।**
इत्यारोप्याङ्कमालिङ्ग्य नेत्रैः सिषिचतुर्बलम् ॥३॥

श्लोकार्थ—आशीर्वाद के बाद कहने लगे कि हे दाशार्ह ! तुम जगदीश्वर हो, अपने छोटे भ्राता के साथ हमारी बहुत समय तक रक्षा करो, इस प्रकार कह गोदी में बैठाकर जब आलिङ्गन किया, तब नेत्र से आंसुओं की धारा बहने लगी, जिससे उनको सींचने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—अस्मान् चिरं परिपालय । यतस्त्वं दाशार्हः । उभयोरेव पुत्रभाव इति **सानुज** इत्युक्तम् । कृष्णसहितः । **जगदीश्वर** इति । पूर्वं माहात्म्यज्ञानं वृत्तमनूद्यते । लौकिकोऽपि स्नेहः पूर्वसिद्ध एव प्रकटीकृत इत्याह **इत्यारोप्येति** । अङ्कमारोप्य प्रौढमपि बालकमेव मत्वा, आलिङ्ग्य नेत्रजैः सिषिचतुः । **बलमिति** सर्वाङ्गम्, अन्यथा शिखा अनुक्ता एव समागच्छेयुः ॥३॥

व्याख्यार्थ—तुम हमारी बहुत समय तक पूर्ण रीति से सर्वथा पालन करो क्योंकि दाशार्ह(विष्णु) हो, छोटे भाई के साथ हमारी रक्षा करो, अनुज पद से जताया है कि दोनों मे नन्दजी का पुत्र भाव है, अतः कृष्ण सहित कहा जगत् के ईश्वर हैं, पहले जाना हुआ माहात्म्य ज्ञान कहा है प्रथम सिद्ध हुआ लौकिक स्नेह भी प्रकट किया, जिससे गोद में बिठाया, यद्यपि राम प्रौढ़ अवस्था वाले थे तो भी प्रकट पुत्र स्नेह के कारण उनको बाल हो जान गोद में बिठाया और अलिङ्गन कर आंसुओं से सींचा, 'बल' पद देने का आशय यह है कि आंसुओं से सर्वाङ्ग सींचे हैं,-अन्यथा नहीं कही हुई भी शिखाएं सींची समझी जाती ॥३॥

आभास—आवश्यकानां प्रणिधानमुक्त्वा अनावश्यकानामाह **गोपवृद्धांश्च विधिवदिति** ।

आसाभार्थ—आवश्यकों का अभिवादनादि कह कर अब 'गोपवृद्धांश्च' श्लोक में अनावश्यकों का कहते हैं ।

श्लोक—**गोपवृद्धांश्च विधिवद्यविष्ठैश्चाभिवादितः ।**
यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥४॥

श्लोकार्थ—बलरामजी ने विधि के अनुसार बड़ों को अभिवादन किया और अन्यों को आयु, सखाभाव तथा अपने सम्बन्ध के अनुसार यथा योग्य था, वैसे किया ॥४॥

सुबोधिनी—विधिर्गोत्रोच्चारणपूर्वकमभिवादनम्। रामापेक्षया यविष्ठै श्चाभिवादितः। ज्ञातेऽपि माहात्म्ये लौकिकभावस्थापनं निरोधान्तरङ्गम्। यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमिति कालान्तःकरणदेहधर्माणामनतिक्रम उक्तः। आत्मान इति। यद्यपि ते सर्व एव माहात्म्यज्ञानाद्भगवद्भावमेव मन्यन्ते, तथापि स्वयं यथा तान्मन्यते, तथा कृतवानित्यर्थः ॥४॥

व्याख्यार्थ—मूल श्लोक में 'विधि' शब्द कहने का भाव यह है कि जैसे शास्त्र में गोत्र के उच्चारण के साथ अभिवादन करना कहा है वैसे ही बड़ों को अभिवादन किया, छोटों ने रामको प्रणाम किया, माहात्म्य जानते हुए भी लौकिक भाव का स्थापन करना निरोध का अन्तरङ्ग कार्य है, जैसी आयु, जैसा सखाभाव तथा जैसा अपना सम्बन्ध तदनुसार अभिवादनादि किया जिससे बताया कि काल अन्तःकरण, और देह धर्मों का अतिक्रम नहीं किया, यद्यपि वे सर्व ही माहात्म्य के ज्ञान से उनके भगवद्भाव को मानते हैं, तो भी आप जैसा उनको मानते हैं वैसे किया ॥४॥

श्लोक—समुपेत्याथ गोपालान्हास्यहस्तग्रहादिभिः।
विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छु पर्युपागताः ॥५॥

श्लोकार्थ—श्री राम ने हास्य और हस्त मिलाने आदि द्वारा गोपों से मिलकर विश्राम किया पश्चात् जब सुख से बैठे, तब वे श्री राम के चारों तरफ बैठकर पूछने लगे ॥५॥

सुबोधिनी समुपेत्य सम्यक् मिलित्वा अभिवादित इति पूर्वेण सम्बन्धः। अथ गोपालान् हास्यहस्तग्रहादिभिः यथायोग्यमभिवादितवानिति अर्थवशाद्विपर्ययेण योजनीयम्। हीनेषु हस्तग्रहः, समेषु हास्यम्; उत्तमेष्वभिवादनमिति। एवं कायिकमुपसंहरन् वाचनिकमाह **विश्रान्तं सुखमासीनं पप्रच्छुरिति**। ज्येष्ठा अपि सन्तीति **आसीनमित्युक्तम्** परितः सर्वत उपागताः, न तु कश्चिदपि तत्रोपेक्षां कृतवानित्यर्थः ॥५॥

व्याख्यार्थ—वृद्ध गोपों से मिल कर उनका अभिवादन करने के अनन्तर अन्य गोपालों से हास्य और हस्त मिलाप करते हुए यथा योग्य अभिवादनादि किया, जैसे कि छोटों से हस्त ग्रहण समानों से हास्य और उत्तमों से अभिवादन किया, इस प्रकार कायिका कर्तव्य पूर्ण कर वाचनिक कहते हैं, विश्राम पाये हुए तथा सुख पूर्वक विराजमान से पूछने लगे, बड़े भी है इसलिये 'आसीन' कहा है सब आकर चारों तरफ बैठ गये, किसी ने भी उपेक्षा नहीं की है ॥५॥

आभास—प्रथमं लौकिकमाह पृष्ट्वाथानामयं तेष्विति।

आभासार्थ—'पृष्ट्वाथानामयं' श्लोक में पहले लौकिक कहते हैं।

श्लोक—पृष्ट्वाथानामयं तेषु प्रेमगद्गदया गिरा।
कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः ॥६॥

श्लोकार्थ—जिन गोपों ने श्री कृष्ण के लिए सर्व विषयों का त्याग कर दिया है, वे गोप प्रेमपूर्वक गद्गद् वाणी से पूछने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—पर्युपागताः प्रथमतः अनामयं पृष्ट्वा, **अथ** भिन्नप्रक्रमेण, प्रेमगद्गदया गिरा पप्रच्छुरिति संबन्धः। अयं विशेषो यद्यपि सर्वेषाम्, तथापि विशेषमाह। **तेषु ये कृष्णे कमलपत्राक्षे** संन्यस्ताखिलराधसः। सर्वा एव सिद्धयो लौकिकाश्च वैदिकाश्च भगवत्येव स्थापिताः। तत्र हेतुः **कमलपत्राक्ष** इति। दृष्ट्यैव सर्वतापनाशं मोहं च सम्पादयतीति ॥६॥

व्याख्यार्थ—पहले अनामय पूछने चारों तरफ बैठ गये, 'अथ' पृथक् प्रक्रम से प्रेम पूर्वक गद्गद वाणी से पूछने लगे, यों सम्बन्ध है, यद्यपि यह विशेष सब के लिये है—तो भी विशेष कहते हैं कि उनमें जिन्होंने ने कमल पत्र सरीखे नेत्र वाले कृष्ण के लिये सर्व विषयों को छोड़ दिया है, अर्थात् लौकिक और वैदिक सब सिद्धियां भगवान् में स्थापित की हैं कारण कि कमल पत्र के समान नेत्र वाले हैं जिस दृष्टि से ही सर्व ताप को नाश करते हैं और मोह उत्पन्न करते हैं ॥६॥

आभास—नन्दादीनां वाक्यान्याह कच्चिन्नो बान्धवा रामेति।

आभासार्थ—'कच्चिन्नो बान्धवा राम' इस श्लोक से नन्दादि के वाक्यों को कहते है।

श्लोक—कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते।
कच्चित्स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विता ॥७॥

श्लोकार्थ—हे राम! हमारे सब बान्धव कुशल तो हैं? तुम सब कभी हमको याद करते हो? क्योंकि तुम सब स्त्री तथा पुत्र वाले हो ॥७॥

सुबोधिनी—सर्वे वसुदेवादयः कुशलमासत इति प्रसङ्गात् लौकिकमेतदुक्तम्। स्नेह च पृच्छन्ति **कच्चित्स्मरथेति**। **नोऽस्मान्। रामेति** स्नेहेन सम्बोधनम्। यूयं सर्व एव **दारसुतान्विता** इति विस्मरणे हेतुः। अतः प्रश्नः सोपालम्भ इव। ॥७॥

व्याख्यार्थ—सर्व वसुदेव आदि प्रसन्न तो हैं? इस प्रकार, यह लौकिक रीति से प्रश्न किया, अब उनका हम में स्नेह है या नहीं? इसलिये पूछते हैं कि हमको वे याद करते हैं कि नहीं, क्योंकि आप सब स्त्री पुत्र वाले हैं, इसलिये भूल जाने का अंदेशा रहता है, हे राम यह स्नेह सूचक संबोधन है, अतः प्रश्न उपालम्भ (उलाहने) के समान है ॥७॥

आभास—तेषां जातमभ्युदयादिकं स्वस्यात्यन्तमिष्टमिति ज्ञापयन्तोऽनुवदन्ति **दिष्ट्या कंसो हतः पाप** इति।

आभासार्थ—उनका अभ्युदय अपने को अत्यन्त प्रिय हैं, यों जनाते हुए फिर कहते हैं कि प्रसन्नता है कि 'दिष्टया कंसों हतः पापो' इस श्लोक में पापी कंस मरा आदि प्रसन्नता के कार्य हुए।

श्लोक—दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः ।
निहत्य निर्जित्य रिपून्दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः ॥८॥

श्लोकार्थ—यह बहुत अच्छा हुआ जो पापी कंस मर गया, यह प्रसन्नता है कि सुहृद लोग बन्धन से छूटे तथा शत्रुओं को मार जय प्राप्त की, दुर्ग का आश्रय ले लिया यह भी हर्ष का विषय है ॥८॥

सुबोधिनी—भाग्येनवै सुहृज्जनाः कंसात् स्वरूपगुणयोस्तस्यासामीचीन्यं प्रतिपादयन्तः तस्य वधो न दोषायेत्यपि सूचयन्तो जरासन्धकृतोपद्रवनिवृत्तिमाहुः **निहत्य निर्जित्य रिपूनिति**। निहत्य कालयवनम्, बलं च निर्जित्य बहुधा जरासन्धादीन्। दुर्गाश्रये जयस्याहेतुत्वात् जयसन्देह एव दुर्गाश्रय इति क्त्वाप्रत्ययेन पूर्वकाल एवोच्यते। एतत्सूचयति **दिष्ट्येति**। द्वारकासम्यगाश्रयणं सम्बन्धिभिः सह स्थितिः ॥८॥

व्याख्यार्थ—निश्चय भाग्य के कारण ही सुहृज्जन कंस से मुक्त हुवे, कंस इसलिये मरा है जो उसके स्वरूप तथा गुण अच्छे नहीं थे, इसकी भी सूचना करते हुए जरासन्ध के लिये उपद्रवों की निवृत्ति कहते हैं कि शत्रुओं को मार तथा जीत कर पश्चात् दुर्ग का आश्रय किया, यह भी अच्छा हुआ, अतः हर्ष है, कालयवन को मार और बहुत बार जरासन्ध आदि को जीत एवं बल को जीता, दुर्ग का आश्रय जय का हेतु नहीं, किन्तु दुर्ग के आश्रय का कारण जय में सन्देह है यह 'क्त्वा' प्रत्यय से पूर्व काल ही कारण कहा है, 'दिष्टया'[1] कहने से यह बताया है कि द्वारका में लच्छी तरह आश्रय का तात्पर्य है कि वहां सम्बन्धिओं के साथ आनन्द से रहना ॥८॥

आभास—एवं सर्वेषां प्रश्नमुक्त्वा गोपीनां विशेषमाह **गोप्यो हसन्त्य** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्व के प्रश्न कह कर 'गोप्यो हसन्त्यः' श्लोक में गोपियों का विशेष कहते हैं ।

श्लोक—**गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छुः रामसन्दर्शनादृताः** ।

श्लोकार्थ—श्री राम के दर्शन से आदरयुक्त होने के कारण हँसती हुई गोपियाँ पूछने लगीं ॥८½॥

सुबोधिनी—राजसप्रकरणे ताः शोकरहिताः कृता इति भगवत्स्मरणेऽपि तासां हर्ष एव जात इति हासयुक्ताः। ननु पूर्णानां पुनः किं प्रश्नेनेत्याशङ्क्याह **रामसंदर्शनादृता** इति। रामस्य सम्यक् दर्शनेन स्नेहकृपापूर्वकेण आदृताः आदरयुक्ताः, ततो याः यथाभूताः तथानुवृत्तिः कर्तव्येति, अप्रश्ने औदासीन्यं च भवतीति पप्रच्छुः ॥८½॥

१—खुशी है यों कहने से

व्याख्यार्थ—राजस प्रकरण में गोपियों का शोक नाश कर दिया, इसलिये भगवत्स्मरण होने पर भी उनको हर्ष ही उत्पन्न हुआ, इसलिये हँसती थीं, जो पूर्ण हो गई है उनको प्रश्न की क्या आवश्यकता थी ? इस शङ्का के मिटाने के लिये कहा है कि श्रीराम के स्नेह और कृपा पूर्वक दर्शन से आदरवाली होने से प्रश्न करने लगी, जो जैसी हो जाती हैं उनको उसी प्रकार करना चाहिये, यदि यों न करे अर्थात् प्रश्न न करे तो उदासीनता की प्रतीति होवे अतः पूछने लगी कि ॥८½॥

आभास—प्रश्नमाह **कच्चिदास्त** इति सार्धैः पञ्चभिः ।

आभासार्थ—'कच्चिद आस्ते' इससे ले साढे पांच श्लोकों से प्रश्न कहते हैं ।

श्लोक—**कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः** ॥९॥

श्लोकार्थ—जिनको पुर की स्त्रियां वल्लभ हैं, वैसे कृष्ण आनन्द में विराजे हैं ? ॥९॥

सुबोधिनी—अर्धं भावो न्यून इति। पूर्वं बहुविधा निरूपिता अपि। प्रकृते तस्याः कथायाः अनुपयोगात् पुराणान्तरस्थां तामाश्रित्य नन्दगोपकुमारिकाः भगवता द्वारकायां नीता एव। याः पुनरन्यपूर्वाः, ता अपि विमर्शे क्रियमाणे तासामेव वाक्यानुसारेण उपालम्भवाक्यैः अग्रे च भगवद्वाक्यैः भिन्नाः एवेति प्रतिभाति। साधारण्य एव वा अत्र निरूप्यन्ते। सन्ति च ताः शङ्खचूडवधे निरूपिताः। अत एव सान्त्वनमासां पृथक् क्रियते। शब्दबलविवेके त्वाश्रीयमाणे अन्यपूर्वाः सर्वा एकरूपा एवेति प्रतिभाति। बलभद्रोऽपि भगवानेवेति साम्प्रतं भगवच्छक्तिरत्र प्रविष्टेति। अतः पूर्वभावेन सान्त्वनम्, भगवद्भावेन रमणमित्युभयं न विरुध्यते। अत एव सान्त्वनेनात्र विशेष उक्तः। स हि स्वात्मानं भगवद्रूपं प्रदर्श्य तासां लौकिकभावेऽपि पश्चात्कामनां पूरितवान्, उक्ततया अहमेकरूपेण समागतः, अत एव 'आयास्य' इत्यपि वचनं यथाश्रुतम्। कृष्णः साक्षादक्लिष्टकर्मैव आत्मानमेव रमयतीति यथाकथञ्चित्तत्परतामेव सम्पादयतीति न बहिर्धर्मान् कामं च गणयति। भक्तिमार्गविरोधस्तु निरोधे नाशङ्कनीयः। लौकिकसहितभक्तिमार्ग एव विरोधश्च। अतो गोपिकानां भेदे अभेदे वा विशेषो नास्तीति न पृथङ्निरूपणम्। तथापि भेदेनैव व्याख्येयमिति सम्प्रदायः। लौकिकदृष्ट्या पृच्छन्ति। रामेण लौकिकन्यायेन आदृता इति। कृष्णः स्त्रीणां हितकारो। तासां सुखदुःखैः तथा भवतीति वयं क्लिष्टा इति, अन्याश्च सुखिता इति, समानदेशस्थानामेव आनन्ददातृत्वे सुखित्वम्, साधारण्ये त्व(र्ध)सुखित्वमिति प्रायेणानुक्तेऽप्यङ्गीकृते वा आहुः। सत्यं सुखी, यतः **पुरस्त्रीजनवल्लभ** इति। अस्मद्वल्लभत्वे कदाचिदन्यथापि स्यादिति भावः ॥९॥

व्याख्यार्थ—भगवान् षड गुण पूर्ण हैं तब श्लोक संख्या छ कहनी चाहिये वह न कह कर साढ़े पांच क्यों कहे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'अर्ध भावो न्यूनः' वक्ता में भाव आवरण सहित होने से आधे की कमी है प्रश्न कर्ता के भावानुसार श्लोक संख्या कहनी चाहिये ? जिसके उत्तर में कहा है कि तामसादि प्रकार से अनेक प्रकार से उन भावों के अनुसार ही श्लोक संख्या निरूपण की है अब

प्रकृत विषय में उन बहु विध कथाओं का उपयोग नहीं है क्योंकि अब आन्तर रमण करना ही स्थिर किया है, जो रमण एक ही सबका एक ही प्रकार का है अतः पुराणान्तर मे कही हुई कथा को लेकर नन्द[1] गोप की कुमारिकाएँ भगवान् द्वारका में लाए हैं, जो फिर 'अन्यपूर्वा' हैं वे भी विचार करने पर उनके ही वाक्यों के अनुसार उपालम्भ के वाक्यों से और आगे भगवद्वाक्यो से पृथक् ही है यों भासता है, अथवा यहां साधारण गोपियों का ही निरूपण हैं, उनका शङ्खचूड के वध में निरूपण है इस कारण से ही इनका सान्त्वन पृथक् किया जाता है, उन श्रुति रूपा और वेदात्मक बलदेव, दोनों के बल का विचार वा आश्रय करने पर अन्य पूर्वा सब[2] एक ही है यों भासता है, यदि वे ऐसी हैं तो उनके साथ बलराम ने रमण कैसे किया ? जिस शङ्का के उत्तर में आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि बलभद्र इस समय भगवान् भी हैं क्योंकि अब भगवान् की शक्ति इनमें प्रविष्ट हुई हैं, अतः बलभद्र भाव से सान्त्वन किया है और भगद्भाव से रमण किया है, इसलिये दोनों में विरोध नहीं है अतएव सान्त्वन से यहां विशेष कहा है, बलभद्र ने अपने को भगवद्रूप दिखा कर उनका लौकिक भाव होते हुए भी पश्चात् उनकी कामना पूर्ण की है, एवं भगवान् के कहने से भगवान् के साथ एक रूप से यहां आया हूँ, इसलिये ही भगवान् ने 'आयास्ये' आऊंगा कहा है, अक्लिष्ट कर्मा भगवान् कृष्ण हैं वैसे श्रीकृष्ण साक्षात् अपनी बलराम से आविष्ट आत्मा को ही रमण कराते हैं, अर्थात् इस प्रकृत लीला में जो रमण हुआ है वह आवेश स्वरूप से हुआ है न कि बलरूप से हुआ है, भगवान् कृष्ण अक्लिष्ट कर्मा होने से देह से रमण नहीं करते हैं क्योंकि देह के रमण में क्लेश होता है, बाहर के धर्मों[3] को और काम को ध्यान में भी नहीं लाते हैं, निरोध में भक्ति मार्गीय विरोध की शङ्का नहीं करनी चाहिये, लौकिक सहित भक्ति मार्ग मैं विरोध हैं निरोध रूप भक्ति में विरोध नहीं है, अतः गोपिकाओं में भेद वा अभेद में विशेष नही है। इसलिये पृथक् निरूपण नहीं किया है, तो भी भेद से ही व्याख्या करनी चाहिये, यह सम्प्रदाय है प्रश्न करने वाली गोपियां लौकिक दृष्टि से पूछती हैं, रामने लौकिक न्याय से ऊनका आदर सान्त्वन किया, श्रीकृष्ण स्त्रियों के हितकारी है, उनके सुख दुःख से वैसे होते हैं इसलिये कहा है, कि हम दुःखी हैं, अन्य[4] सुखी हैं, समान देश में स्थितों को ही आनन्द देने में सुखीपन है, साधारण में आधा सुखीपन है, अथवा प्रायः अङ्गीकृत न कहने पर भी कहती हैं कि यह सत्य है कि श्रीकृष्ण सुखी है क्योंकि पुर के स्त्री जनों का अब प्यारा हुआ है, हमारे वल्लभ[5] होने पर कदाचित् दुःखी भी हो जाय, यह भाव है ॥९॥

आभास—कदाचिदस्मत्स्मरणेनाप्यन्यथा भवतीति सम्भावनया आहुः **कच्चित्स्मरति वा बन्धूनिति ।**

आभासार्थ— कदाचित् स्मृति (याद) आजाने से दुःखी होने की भी सम्भावना हो सकती है, यह कच्चित्स्मरति' श्लोक में कहा है।

१—'नन्द गोप सुतं देवी पति मे कुरु' इस प्रार्थना के अनुसार इनका रमण आवेश से नहीं हो सकता है जिससे आचार्य श्री ने 'भिन्न एव' सुबोधिनी में कहा है
२—दास में स्थित और शङ्खचूड के प्रसङ्ग में स्थित सब
३—देह स्थानीय वलरामजी के धर्मो को ४-पुरस्त्रियां वा एवं श्रीकृष्ण ५-प्यारे

श्लोक—कच्चिदस्मरति वा बन्धून्पितरं मातरं च सः ।
अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः ॥१०॥

श्लोकार्थ—वह महाभुज श्रीकृष्ण बान्धवों, पिता और माता को कभी याद करते हैं वा नहीं ? अथवा हमारी हुई इच्छानुसार सेवा को याद करते हैं? ॥१०॥

सुबोधिनी बन्धून् गोपान् गोपीश्च । आवश्यकस्मरणं पृच्छन्ति **पितरं मातरं चेति**। यद्यपि त्वं स्मरसि, तथापि स कृष्णः स्मरति, न वेति सन्देहः। एवं प्रसङ्गमुक्त्वा स्वस्मरणं सम्भावयन्ति **अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवामिति**। अपेक्षिता सेवा, इच्छानुसारिणी अनुसेवा भवति। **महाभुज** इति क्रियाशक्तिः सर्वापेक्षया महती निरूपिता। अनेन नयने आगमने वा न तस्य काचिच्छङ्का ॥१०॥

व्याख्यार्थ—बान्धव, गोप और गोपियां इनका स्मरण करना पूछ के पश्चात् माता पिता का स्मरण आवश्यक पूछना है इसलिये उसको भो पूछती हैं, यद्यपि आप याद करते हैं तो भी वह कृष्ण स्मरण करते हैं वा नहीं इसमें सन्देह है. इस प्रकार प्रासङ्गिक कह कर अपने स्मरण की सम्भावना करती हुई पूछती हैं, हमारी इच्छानुकूल सेवा को याद करते है कि नहीं ? जो अपेक्षित (आवश्यक) समझकर की जावे उसको सेवा कहते है, और जो सेव्य की इच्छानुसार अथवा आज्ञानुसार की जावे वह अनुसेवा है, महाभुजः इस सम्बोधन से सर्वापेक्षा से महती क्रिया शक्ति रूप अनु-सेवा है, वह सेवा सेव्य की इच्छानुकूल ही की जाती है अतः उनको ले जाने में अथवा आने में किसी प्रकार की कोई शङ्का नहीं है ॥१०॥

आभास—यद्यपि भगवत्यसूया त्यक्ता, तथापि कालविलम्बात् भवत्येव बुद्धिरन्यथेति पुनस्तासां दोषनिराकरणार्थं निरूपयति **मातरं पितरमिति ।**

आभासार्थ—यद्यपि भगवान् में असूया करनी छोड़ दी तो भी बहुत काल होने पर अन्यथा बुद्धि हो ही जाती, इसलिये उनके दोषों का फिर निराकरण करने के लिये-'मातरं पितरं' श्लोक में निरूपण करते हैं।

श्लोक—मातरं पितरं भ्रातॄन्ज्ञातीन्पुत्रान्स्वसॄरपि ।
यदर्थे जहिम दाशार्ह दुस्त्यजान्स्वजनान्प्रभो ॥११॥

श्लोकार्थ—हे दाशार्ह ! हे प्रभु ! जिस आपके वास्ते हमने दुस्त्यज माता, पिता, भ्राता, बान्धव, पुत्र, बहन और स्वजन; इन सब का त्याग किया है, जो कठिनाई से छोड़े जा सकते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—पञ्चावश्यकाः। स्त्रीणां मुख्या माता। भर्तारं परित्यज्येति वक्तव्ये ज्ञातीनिति साधारण्येनैव तन्निराकरणमपि कृतम्। भर्तृत्वस्य भगवत्येव स्थापितत्वात्। 'पतीन् पुत्रा'निति पाठे न कोऽपि सन्देहः। आद्यन्तयोः स्त्रीग्रहणं तासां तदनुरोधो महानिति। सर्वैर्निराक्रियमाणाः

तदनुरोधं परित्यज्य भगवानेव गृहीत इति **यदर्थे जहिमेत्युक्तम्। दाशार्हे**तसम्बोधनात् पश्चात्तापेन कथनं वारयति। त्यागो महानिति वक्तुं तान् विशेषयन्ति **दुस्त्यजान् स्वजनानिति**। अन्तःकरणदेहसम्बन्धौ दृढौ निरूपितौ। **प्रभो** इति सम्बोधनं सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् परित्यागे उपालम्भो युक्त इति बोधितम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—गृहस्थ में पांच वस्तु आवश्यक है उनका छोड़ना कठिन हैं, उनमें पहली वस्तु माता है स्त्रियों में मुख्य होने से माता की प्रथम गिनती की है, पिता भ्राता के पश्चात् पति न कह कर ज्ञातीन् कहा यह साधारणता से उनका भी निराकरण किया है पति शब्द न देने का यह भी आशय है कि पतित्व भगवान् में ही स्थापित किया है अतः उस पद के देने की आवश्यकता नहीं थी, यदि 'पति पुत्रात्' यों पाठ हो तो उसमें कोई भी सन्देह नहीं है, आदि और अन्त में स्त्री शब्द लेने का भाव यह है, कि वे पूछने वाली स्त्रियां थीं अतः उनका इस विषय में महान् अनुरोध है, सब से निराकरण की हुई उनने उनका[1] अनुरोध त्याग कर भगवान् को ही ग्रहण किया है, इसलिये कहा है कि जिसके लिये सब छोड़े, दाशार्ह सम्बोधन से बताया है कि यह हमारा कथन पश्चाताप युक्त नहीं है, यह हमारा त्याग बड़ा है यह कहने के लिये, उनके दुस्त्यज और स्वजन विशेषण दिये हैं यों कहने से यह दिखाया है कि अन्तःकरण और देह का सम्बन्ध दृढ है, प्रभो ? यह सम्बोधन, सामर्थ्य को प्रकट करता है, सामर्थ्य के कारण परित्याग में उपालम्भ देना उचित है यह समझाया है ॥११॥

आभास—यदर्थमेतन्निरूपणं तमुपालम्भमाहुः **ता नः सद्यः परित्यज्येति।**

आभासार्थ—जिस उपालम्भ के लिये वह निरूपण है उस उपालम्भ को 'तां नः सद्यः' श्लोक में कहती हैं।

श्लोक—**ता नः सद्यः परित्यज्य गतः संच्छिन्नसौहृदः।**
कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—वैसी जो हम हैं, उनको छोड़ तुरन्त चले गए और स्नेह भी तोड़ डाला, किन्तु उनके वैसे मनोहर भाषण पर कौन सी ऐसी स्त्री है, जो विश्वास न करेगी ॥१२॥

सुबोधिनी—अन्तःकरणेऽपि परित्यागार्थमाहुः संच्छिन्नसौहृद इति। सम्यक् छेदः मरणसमानबाधानामप्युपेक्षणात्। ननु ज्ञायत एव वसुदेवपुत्रो यथाकथञ्चिदत्रागत्य स्थितः, तत् किमिति सर्वपरित्यागेन सेवित इति चेत्, तत्राह **कथं नु तादृशं स्त्रीभिरिति**। युक्त्या यद्यपि त्यक्ष्यतीति निश्चितम्, तथापि हृदयाद्यालम्भनेन यथा विश्वास उत्पद्यते, तथा भाषितं कथं न श्रद्धीयेत। स्त्रियो हि शुद्धभावा न कापट्यं जानन्तीति स्वश्लाघा। अतो वाक्यविश्वासादेवं कृतमिति नास्माकं दोषः।

१—माता पिता भ्राता आदि का

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यती'त्यादिवाक्यानि च शास्त्रदृष्ट्या। नु इति वितर्के। कश्चिदेवमप्यस्ति, यो विश्वासं न कुर्यादित्यसम्भावनापि सूचिता ॥१२॥

व्याख्यार्थ—उनका परित्याग केवल बाहर से नहीं है किन्तु अन्तःकरण से है इसलिये तो सोहृद प्रेम भी तोड़ डाला है स्नेह तोड़ने से जो पीड़ा होती है वह मृत्यु से भी विशेष होती है, यह भी हम जाननी है कि वसुदेव का पुत्र जैसे कैसे भी यहाँ आकर स्थित हुवे हैं, क्या ? यों सर्व का परित्याग कर सेवा किया गया हुवा वह है ? यदि यों है, जो इस पर कहती है कि यद्यपि युक्ति से त्याग करेंगे, यह निश्चय है तो भी हृदय आदि को विश्वास देने वाले वाक्यों पर कैसे विश्वास किया जावे ? स्त्रियों का हृदय शुद्ध भाववाला होता है अतः वे कापट्य नहीं जानती हैं, इन वचनों से अपनी वड़ाई की है, इसलिये हमने जो कुछ किया है वह वाक्यों पर विश्वास रख कर किया है इसमें हमारा कोई दोष नहीं है, अन्य वचन जो शास्त्र दृष्टि से कहे हैं उन पर भी विश्वास किया जैसे कि 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' 'नु' पद वितर्क में दिया है, कोई वैसा भी है जो विश्वास न करे, यों असम्भावना भी दिखाई है ॥१२॥

आभास—एवं मात्सर्येण भगवति दोषं सम्भाव्य, साम्प्रतं पुरस्त्रीणां सम्बन्धं करोतीति स्मृत्वा, सुतरामीर्ष्या जाता, ततस्तस्य तद्वैषयिकसुखं मा भवत्विति विचारयन्त्यः पुरस्त्रियोऽपि चेन्निवृत्ता भवेयुः, तदा भवेदिति ता निवर्तयितुं उपालभन्ते **कथं नु गृह्णन्तीति**।

आभासार्थ—इस प्रकार मात्सर्य से भगवान् में दोष की सम्भावना कर, अब नगर के स्त्रियों से सम्बन्ध होने का स्मरण करने से सुतरां ईर्ष्या उत्पन्न हुई, तब विचार करने लगी कि नगर की स्त्रियों का भी सुख इनको न मिले, वह तब होगा, जब वे भी निवृत्त कर दी जायगी, इसलिये उनको निवृत्त कराने को 'कथं नु गृह्णन्ति' श्लोक में उलाहना देती हैं।

श्लोक—**कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः।**
गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दरस्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥१३॥

श्लोकार्थ—ये समझदार सयानी पुर की स्त्रियाँ, जिनके जीव एक विषय में स्थिर नहीं हैं और जो कृतघ्नी हैं, उनके वचनों पर कैसे विश्वास करती हैं,यह हमको विस्मय होता है, कदाचित् विचित्र बातें बनानेवाले श्रीकृष्ण के हास्यपूर्वक सुन्दर कटाक्ष चलाने से बढ़े हुए कामदेव से आतुर होकर विश्वास करती होंगी ॥१३॥

सुबोधिनी—ननु सुखकराणि वाक्यानि सुखं च प्रयच्छन्ति, तत्कथं न विश्वसनीय इति चेत्, तत्राह **अनवस्थितात्मन इति**। न अवस्थिताः एकत्र प्रतिष्ठिताः वेदे लोके वा आत्मानो जीवा

यस्य । न हि भगवत्सेवकाः क्वचित्प्रतिष्ठिता भवन्ति । तस्य हि वचनेन तत्सेवकत्वे स्वस्यापि (तथा) भविष्यतीति । अतो भगवदीयानां भगवद्व्यतिरिक्ते प्रतिष्ठितत्वाभावात् ऐहिकाभिलाषिण्यः । नु निश्चयेन कथं गृह्णन्ति । ननु प्रतिष्ठिते साधने कृते कथं प्रतिष्ठां न लभन्ते, 'अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, अमुष्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठन्ति वा, य एता रात्रीरुपयन्ती'त्यादिवाक्यैः कृते कर्मणि कथं प्रतिष्ठां न लभन्त इति चेत्, तत्राह कृतघ्नस्येति । स हि कृतमपि हन्ति । अत एवोक्तं 'लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति । पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिला' इति । नन्वेतन्न जानन्तीति चेत्, तत्राह बुधा इति । बुधत्वे हेतुः पुरस्त्रियः इति । पुरवासिनो विचक्षणा भवन्तीति । तत्र स्वयमेव वचनग्रहणाग्रहणयोर्दुःखातारतम्यं विचार्य, अग्रहणे महदेव दुःखमिति ग्रहणोपपत्तिमाहुः गृह्णन्तीति । वै निश्चयेन नात्र पूर्वपक्षोऽपि । तत्र हेतुत्रयमाहुः । चित्रकथस्य कथावैचित्र्यात् वाचा वशीकृता गृह्णन्ति । सुन्दरस्मितावलोकाभ्यां च मनःकायाभ्यां व्यामोहिताः गृह्णन्ति । त्रयाणां कार्यं जातमित्याहुः । स्मितावलोकाभ्यामुच्छ्वसितो यः स्मरः मर्यादामुल्लङ्घ्य उद्गतो जातः, तेन आतुराः । यथा ज्वरातुरो वैद्यवाक्यं शृणोति । वाक्यात् कटुतिक्तादिकमपि भक्षयति, तद्वदित्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यार्थ– निश्चय हैं सुखकर वचन सुख ही देते हैं, वैसे वचनों पर कैसे विश्वास न किया जावे, यदि यों कहो तो इस पर कहते हैं कि जिसके जीव, लोक वा वेद में एकत्र प्रतिष्ठित नहीं हैं, क्योंकि भगवान् के सेवक कहीं भी प्रतिष्ठित नहीं हैं, उनके ही वचन से उनके सेवकत्व के कारण अपना भी इस प्रकार होगा, अतः जो भगवदीय हैं उनका भगवान् के सिवाय दूसरे में प्रतिष्ठितपन के अभाव से ऐहिक अभिलाषावाली हैं, वितर्क कर कहती हैं कि निश्चय से कैसे ग्रहण करेंगी ? साधन तो प्रतिष्ठित किया है फिर प्रतिष्ठा को कैसे न प्राप्त करेंगी, जैसा कहा है 'अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति' 'अमुष्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठन्ति वा, य एता रात्री रूप यन्तीत्यादिवाक्यैः' इत्यादि वाक्यानुसार कर्म करने पर भी प्रतिष्ठा को क्यों नहीं प्राप्त होती हैं, यदि यों कहा जावे तो कहती हैं कि 'कृतघ्नस्य' वह कैसे हैं कि किये हुए उपकार को भूल जाते हैं, इसलिये ही कहा है कि 'लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टि मार्ग स्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलः' यदि कहो कि इस तत्व को ये नहीं जानती हैं तो उत्तर में कहती हैं कि यों नहीं हैं, ये स्त्रियां नगर में रहने वाली होने से सयानी हैं, इसलिये इनके वचन ग्रहण करने चाहिये वा नहीं ? ग्रहण करने में और न ग्रहण करने में दुःख का तारतम्य विचार कर निश्चय करती हैं कि जो इनके वचन ग्रहण नहीं किये जावेंगे तो महान् दुःख की प्राप्ति होगी अतः निश्चय से ग्रहण करने चाहिये, इसमें किसी प्रकार पूर्व पक्ष नहीं है, जिसमें तीन हेतु देती हैं (१) कथा की विचित्रता के कारण वाणी से वश हो गई जिससे उनके वचन ग्रहण किये, (२) सुन्दरस्मित तथा (३) अवलोकन से, और मन तथा काया से मोहित हो गई, जिससे भी उनके वचन ग्रहण किये, इस प्रकार तीन हेतुओं का कार्य हुआ, वह कहती हैं कि स्मित और अवलोकन से मर्यादा का उल्लङ्घन कर जो स्मर प्रकट हुआ उससे नगर की स्त्रियां आतुर बन गईं, जैसे ज्वर से पीड़ित वैद्य के वचन मानकर कटु तिक्त औषध खाता है वैसे इनने भी मान लिये ॥१३॥

आभास—एवं काश्चित्स्वयं दुःखमनुभूय अज्ञानवशाद्दोषनिवर्तके दोषं सम्भावयन्ति, तासां निषेधार्थमन्या आहुः **किं नस्तत्कथया गोप्य** इति ।

व्याख्यार्थ– इस प्रकार कितनी ही स्वयं दुःख का अनुभव कर, अज्ञान के कारण दुःख की निवृत्ति करनेवाले में दोष की सम्भावना करती हैं कि इन्होंने हमको दुःख दिया है, उनकी इस असम्भावना दोष के निषेधार्थ दूसरी किं नस्तत्कथया' श्लोक में कहती हैं ।

श्लोक— **किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः ।**
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे गोपियाँ ! अपने को उनकी कथाओं से क्या प्रयोजन है ? दूसरी कथाएँ कहो, अपने बिना यदि उनका समय व्यतीत होता है तो उनके बिना अपना काल भी वैसे ही व्यर्थ जाता है ॥१४॥

सुबोधिनी हे गोपस्य स्त्रियः, पामर्यः, तत्कथया नः किम् । भक्तिनिरोधमुक्तीनां दोषोत्पत्तौ प्रयोजकत्वाभावात् सुतरां दोषजनकत्वाच्च तत्कथया नः कोऽपि नोपकारः । भक्तिमार्गे प्रतिबन्धान् दूरीकृत्य स्नेहेन भगवद्भजनं कृतं स्यात् । निरोधे तु क्षणमात्रमपि भगवददर्शने देहेन्द्रियादिकमपि त्यक्तं स्यात् । मुक्तौ वैषम्यग्रहणं न स्यात् । अतो दोषाणामनिवृत्तत्वात् गुणानां चाभावात् तत्कथया नः किम् । ननु कथापि श्रोतव्या, वक्तव्या वा, कथारसावेशादिति चेत्, तत्राहुः कथाः कथयतापरा इति । यासु न दोषोत्पत्तिः । ननु कथमेवमौदासीन्यं कर्तुं शक्यम्, तत्राह **यात्यस्माभिर्विना काल** इति । पारमार्थिकप्रयोजनाभावात् लौकिकप्रयोजनार्थं भगवानपेक्ष्यः । तत्रोभयोः विषयता भोक्तृत्वं च । एवं सति अस्माभिर्विना यदि तस्य कालो गच्छति, तदास्माकमपि तं विना गच्छत्येव । नहि वयं मृताः । येन विना यस्य न निर्वाहः, स उपालम्भ्यो भवति । तदा न दोषः शास्त्रे, लोकेऽपि न विगानम् । यथा प्राणात्यये सर्वविषयपरिग्रहस्य । न हि म्रियमाणः निषिद्धादपि जलमग्नं वा गृह्णन् प्रत्यवैति । तथा भगवता विना चेदस्मत्प्राणा गच्छेयुः, तदोपालम्भो निर्दुष्टः । अन्यथा दोष एव स्यात् । उदासीनोपालम्भवत् । अथ भजनानुरूपेण भजनम्, तद्भगवति नास्त्येव । अस्माभिर्विनैव तस्य कालो गच्छतीति । अतः स्वस्य तथाधिकारे भगवच्छाप्रामाण्ये भगवानेव समागच्छेत्, अप्रामाण्ये तु मरणमेव स्यात् । उभयमपि नास्तीति वृथोपालम्भो न कर्तव्य इत्यर्थः । उभयविधा अप्येताः मूर्च्छापर्यन्तव्यापारयुक्ताः । अतो दुःखात्प्रथमा वदन्ति, मरणाभावाच्च परा निषेधन्ति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—हे गोप की मूर्ख स्त्रियाँ ! उनकी कथा से हमको क्या लाभ ? भक्ति निरोध और मुक्ति इनके दोषोत्पत्ति में प्रयोजकपन के अभाव से और सुतरा दोषजनक होने से उनकी कथा से हमारा कुछ भी उपकार होने वाला नहीं है । भक्ति मार्ग में जब प्रतिबन्धों को दूर कर, स्नेह से भगवद्भजन किया जावे तब उपकार होता है । निरोध में क्षणमात्र भवगान् के दर्शन न होने पर, देह इन्द्रियादि भी छूट जावें । मुक्ति में विषमता का ग्रहण नहीं होता है । उनकी कथा से दोषों की निवृत्ति नहीं होती है और गुणों का भी अभाव होता है अतः उनकी कथा से अपने को क्या सरोकार है ? यदि कहो, कि कथा भी सुननी और कहनी चाहिये क्योंकि इससे रसावेश होता है, तो भी दूसरी कथाएँ कहो जिनमें से दोषोत्पत्ति न होवे, ऐसी उदासीनता कैसे की जा इस पर कहती हैं कि 'यात्य-

स्माभिर्विना कालः यदि तस्य तथैव नः' जो कि पारमार्थिक प्रयोजन नहीं है तो भी लौकिक प्रयोजन के लिये भगवान् की अपेक्षा है, इसमें दोनों की विषयता है और भोक्तृत्व भी है, यों होने पर भी, यदि उनका काल अपने बिना जा सकता है तो अपना उनके बिना बीतता ही है, हम मरे हुवे नहीं, हैं, जिसके बिना जिसका निर्वाह न होगा, वह उलाहने योग्य होता है, तब शास्त्र में दोष नहीं है लोक में भी निन्दा नहीं होती है, जैसे प्राणों के जाने पर समस्त विषयों के परिग्रह का, और मरने वाला निषिद्ध से भी जल और अन्न ग्रहण करे तो दोष नहीं है, वैसे भगवान् के विरह में यदि अपने प्राण जावे तो, तब उपालम्भ दोष रहित है अन्यथा दोष ही प्राप्त हो, उदासीन के उपालम्भ के समान हो जावे, भजन के अनुरूप भजन, वह भगवान् में नहीं है, बिना हम लोगों के उनका काल जा सकता है, अतः भगवान् शास्त्र के प्रमाणानुसार अपना ऐसा अधिकार होने पर भगवान् स्वयं ही पधारने चाहिये प्रमाण न होने पर मरण ही होवे, दोनों नहीं हैं, इसलिये वृथा उपालम्भ नहीं देना चाहिये, दोनों प्रकार[1] की भी ये मूर्च्छापर्यन्त व्यापार युक्त है अतः दुःख के कारण पहली कहती हैं, मरण के अभाव से दूसरी निषेध करती हैं ॥१४॥

आभास—ततो मरणपर्यन्तं पीडिताः भगवदिच्छया अन्तस्तापं बहिःकृतवत्य इत्याह **इति प्रहसितमिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् मरण पर्यन्त पीड़ित वे भगवदिच्छा से भीतर के ताप को बाहर प्रकट करने लगी, जिसका वर्णन 'इति प्रहसित' श्लोक में वर्णन करती हैं ।

श्लोक— **इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारुवीक्षितम् ।**
गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो मुमुहुः स्त्रियः ॥१५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार भगवान् के हास्य, भाषण, सुन्दर कटाक्ष, गति, प्रेम से आलिङ्गन को स्मरण करती हुई मूर्च्छित हो गई ॥१५॥

सुबोधिनी—प्रहसितमान्तरम् । बहिर्व्यामोहकम् । **शौरेरिति** सामर्थ्यमुक्तम् । **जल्पितं** वाचनिकम् । **चारुवीक्षितमैन्द्रियकम्** । कायिकं द्विविधमप्याह **गतिं प्रेमपरिष्वङ्गमिति** । एवं पञ्चाङ्गं भगवन्तं स्मरन्त्यः मोहं मूर्च्छां प्राप्ताः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—हास्य, आन्तर भाव (रति) है, प्रकट करता है बाहर व्यामोह करने वाला है शौरि नाम से सामर्थ्य दिखाया है, भाषण वाचनिक है सुन्दर कटाक्ष इन्द्रिय सम्बन्धी है, गति और प्रेम से आलिङ्गन ये दोनों कायिक है, इस प्रकार पांच अङ्ग वाले भगवान् का स्मरण करती हुई मूर्च्छित हो गई ॥१५॥

१—एक प्रकार की वे थी जिनकी भगवान् में दोष सम्भावना थी, दूसरे प्रकार की वे थी जो भगवान् में दोषो का निषेध करने वाली थी,

आभास—मरणे तु सम्भाविते भगवानेवागच्छेत्, सायुज्यं च दद्यात्, तदभावात् बलभद्रेण सान्त्वनं कृतमित्याह **सङ्कर्षण इति** ।

आभासार्थ—यदि मरण की संभावना होती तो भगवान् ही पधारते और सायुज्य देते, ऐसा न होने के कारण बलभद्र ने आकर सान्तवना दी है,जिसका वर्णन 'सङ्कर्षणस्ताः' श्लोक में किया है ।

श्लोक—**सङ्कर्षणस्ताः कृष्णस्य संदेशैर्हृदयङ्गमैः ।**
सान्त्वयामास भगवान्नानानुनयकोविदः ॥१६॥

श्लोकार्थ—अनेक प्रकार की सान्त्वना (दिलासा) देने में चतुर भगवान् सङ्कर्षण, कृष्ण के हृदयङ्गम संदेशों से उनको सान्त्वना देने लगे ॥१६॥

सुबोधिनी—ताः पूर्वं निरुद्धाः अपहृतशोकाश्च । पुनरुत्पन्ने दोषे उद्धववत् ततोऽपि विशेषप्रकारेण सान्त्वयामास । यतो भगवान् नानाप्रकारानुनये कोविदश्च । यथैव ताः सान्त्विता भवन्ति, तथैव कृताः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—वे पहले निरुद्ध हुई हैं और शोक रहित भी हो गई थीं फिर दोष उत्पन्न होने पर उद्धव की तरह उससे भी विशेष प्रकार उनको सान्त्वना देने लगे, क्योंकि भगवान् सङ्कर्षण विधि प्रकार के आश्वासन देने में चतुर हैं, जैसे वे शान्त हो प्रसन्न होवे वैसे ही किये ॥१६॥

आभास—सान्त्वनार्थमेव ह्ययं गतः, वाक्यमात्रेण सान्त्वनं न भवतीति वसन्तसमये तत्रैव स्थितश्चेत्याह **द्वौ मासौ तत्र चावात्सीदिति** ।

आसाभार्थ—सान्त्वना देने के लिये ही ये गये है, केवल वचनों से ही सान्त्वना नहीं होती है, इसलिये वसन्त ऋतु के दो मास वहां ही विराजमान हुवे ।

श्लोक—**द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च ।**
रामः क्षपासु भगवान्गोपीनां रतिमावहन् ॥१७॥

श्लोकार्थ—भगवान् राम रात्रि के समय गोपियों के रति को बढ़ाते हुए चैत्र और वैसाख दो मास वहाँ ही रहे ॥१७॥

सुबोधिनी—स हि बहुकालं यत्र क्वचित्तिष्ठति, तत्रापि स्थितः । **मधुं माधवमेव चेति** । वसन्त एव कामकृता पीडा महतीति । तस्मिन् विद्यमाने कामो न पीडयतीति । भगवान् उद्धवद्वारा अलौकिकसमाधानं कृत्वा लौकिकन्यायेन बलभद्रद्वारा कृतवानिति । रामोपि रतिवर्धनः ।

क्षपासु भगवद्रूपो भूत्वा गोपीनां रतिमावहन् स्वयमपि रेमे इत्यग्रेण सम्बन्धः। **अवात्सीदिति** पूर्वेण वा। चकारात् स वसन्तो मासत्रयात्मक इति ज्ञातव्यम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वे जहाँ जाते वहां बहुत समय ठहरते अतः यहाँ भी वसन्त के दो मास चैत्र और वैसाख ठहरे। वसन्त में ही काम की पीड़ा विशेष होती है, उनके विद्यमान होने पर काम, पीड़ा नहीं करता है, भगवान् ने उद्धव द्वारा अलौकिक समाधान कराके लौकिक न्याय से बलभद्र द्वारा समाधान किया, राम भी रति बढ़ाने वाले हैं, रात्रियों में भगवद्रूप हो गोपियों की रति को धारण करते हुए स्वयं भी रमण करने लगे, यह आगे के श्लोक की क्रिया 'रेमे' से सम्बन्ध है अथवा अवात्सीत् रहने लगे इस पूर्व क्रिया के साथ सम्बन्ध है 'च' पद दिया है जिसका भाव यह है कि वसन्त फाल्गुन से लेकर तीन मास का था यों समझना चाहिये ॥१७॥

आभास—अन्यार्थमेव चेद्गच्छेत्, तदा लोके अनौचित्यं भवतीति भगवदिच्छया स्वयमपि रतिं कृतवानित्याह **पूर्णचन्द्रकलामृष्ट** इति।

आभासार्थ—दूसरों को सान्त्वना देने के लिये यदि जावे तो लोक में अयोग्यता देखने में आवे क्योंकि आप ज्येष्ठ हैं, इसलिये भगवदिच्छा से स्वयं भी रति करने लगे, यह 'पूर्णचन्द्र कलामृष्टे' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना।
यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः ॥१८॥

श्लोकार्थ—पूर्ण चन्द्रमा की किरणों से उज्ज्वल, कुमुद की सुगन्धित वायु से सेवित यमुना के उपवन में स्त्रीगणों से वृत हो रमण करने लगे ॥१८॥

सुबोधिनी—तत्पतिसम्बन्धे या न विरुध्यन्ते, ता बलभद्रेणापि न विरुध्यन्त एव। अनेन सर्वत्र भगवद्धर्मेषु भगवत्सिद्ध्यर्थं साक्षान्निर्लेपे सम्बन्धाभावात् अनुकल्पाः कृता इति सूचितम्। अनुकल्पोऽपि सानुभाव एव भवति; न तु निरनुभाव इति यमुनाकर्षणं वरुणादिसम्मानं च निरूपयिष्यति। त्याज्य एव देहादिरिति। यथा वस्त्रपावनार्थं जल वस्त्रे प्रक्षिप्यते, तथा एताः भगवद्धर्मे प्र क्षप्ताः। रमणे साधनान्याह। पूर्णचन्द्रकलाभिः मृष्टे उज्ज्वले **यमुनोपवन** इति। वनं नदी च रसपोषके। अपेक्षितो वायुरिति देशं निरूप्य निरूपयति **कौमुदीगन्धवायुने**ति। कुमुदसम्बन्धिनी कौमुदी नदी तत्सम्बन्धिगन्धयुक्तेन वायुना सेविते। कौमुदी ज्योत्स्ना वा। गन्धश्च। उभयसहितेन वायुना सेवितत्वादेव मन्दत्वम्। इदं रमणं पुष्पावचयादिरूपम्। बहिरिति ज्ञापयितु **स्त्रीगणैर्वृत** इत्युक्तम्। गणशः सर्वविधा एव स्त्रियस्तत्र सन्तीति ज्ञापितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—उनके पति के संबन्ध पर जो विरोध नहीं करती हैं वे बलभद्र से सम्बन्ध होने पर भी विरोध नहीं करेंगी ही, अर्थात् नहीं करती हैं, यों कहने से यह सूचित किया है कि सर्वत्र भगवान् के धर्मों में अर्थात् पूर्ण चन्द्र आदि सर्व पदार्थों में भगवान् की तरह रमण की सिद्धि के

लिये अनुकल्प ही किये हैं, क्योंकि जो साक्षात् निर्लेप भगवदीय पदार्थ हैं उससे बलभद्र का सम्बन्ध हो नहीं सकता है, अतः यहाँ गोपियाँ राम आदि सब पदार्थ अनुकल्प ही है, अर्थात् जैसे राम मे भगवदावेश है वैसे सर्व पदार्थों में भगवदावेश होने से सर्व भगवदनुकल्प हैं, अनुकल्प भी उनकी सामर्थ्यवाला होता है, न कि बिना सामर्थ्य वाला होता है। जैसे राजा का प्रतिनिधि राजा न होते हुए भी राजा की सामर्थ्य से युक्त होता है, अतः यमुनाजी का आकर्षण और वरुणादि का सम्मान-निरूपण करेंगे देह आदि तो त्याज्य ही हैं, जैसे वस्त्रों को पावन करने के लिये जल में डाला जाता है, वैसे ये भगवद्धर्म्म में डाली गई हैं, रमण के समय के साधन कहते हैं, पूर्ण चन्द्रमा की कलाओं से उज्ज्वल यमुनाजी के उपवन में, यों वन और नदी दोनों रस पोषक हैं, वहां जसे वायु की अपेक्षा हैं उसका निरूपण करते हैं कि नदी से सम्बन्ध वाली सुगन्धि युक्त वायु चल रही थी, अथवा कौमुदी का अर्थ ज्योत्सना भी हो सकता है, और सुगन्धि, दोनों से युक्त वायु से सेवित होने से उसमें मन्दपन था, यह रमण फूलों के चुनने रूप था, अर्थात् इस रमण मे पुष्पों का चयन करते थे, बाहर रमण जताने के लिये कहा है कि स्त्रीगणों से आवृत थे, सर्व प्रकार के स्त्रियों के गण थे यह जताया है ।१८।

आभास—तस्यानुभावमाह **वरुणप्रेषिते**ति।

आभासार्थ—'वरुण प्रेषिता' श्लोक से बलभद्र का प्रभाव बताते हैं।

श्लोक—वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात्।
पतन्ती तद्वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्यवासयत् ॥१९॥

श्लोकार्थ—वरुण की प्रेषित वा वारुणी देवी वृक्ष कोटर से बहती हुई सकल वन को अपनी गन्ध से वासित करने लगी ॥१९॥

सुबोधिनी—**वारुणी काचिल्लक्ष्म्या सह अमृतमथने उत्पन्ना सा अधिष्ठात्री देवता सर्ववृक्षेषु तिष्ठति**। सा दैत्येभ्यो दत्तेति दैत्यराजाधीना सा यस्मिन्नेव वृक्षे अधितिष्ठति, तत एव मधुधारा उत्पद्यते। **सङ्कर्षणश्च तामसी भगवन्मूर्तिः**। मधुना सम्प्रीतो भवतीति दैत्यराजेन वरुणेनाज्ञप्ता देवतात्वात् यथासुख यथाभिलषितगन्धरसरूपा पतति। अतो वृक्षकोटरात्पतन्ती सर्वमेव तद्वनं स्वगन्धेन अध्यवासयत्। यथा स गन्धः सर्वव्यामोहको भवति। ॥१९॥

व्याख्यार्थ—कोई वारुणी नामक पदार्थ लक्ष्मी के साथ अमृत मन्थन के समय उत्पन्न हुआ था, उसकी अधिष्ठात्री देवता सर्व वृक्षों में रहती है, वह दैत्यों को दी थी, जिससे वह दैत्यों के राजा के आधीन है, जिस वृक्ष में आकर रहती है उससे ही मधुधारा पैदा होती है, और सङ्कर्षण भगवान् की तामसी मूर्त्ति अर्थात् स्वरूप है अतः मधु से प्रसन्न होता है, इसलिये दैत्य राज वरुण से आज्ञा पाकर देवता होने से सुख पूर्वक, अभिलाषानुरूप गन्ध युक्त रस वाली होकर बहती है, अतः वृक्ष कोटर से गिरती हुई वह वन अपने गन्ध से सुवासित करने लगी जैसे वह गन्ध सब को मोहित करने वाली हो गई ॥१९॥

आभास—अत एव गन्धेनैव वशीकृतो बलभद्रः पपावित्याह तद्गन्धं मधुधारायाः इति ।

आभासार्थ—गन्ध से मोहित होने से बलभद्र ने उसका पान किया, यह 'तगद्गन्धं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**तद्गन्धं मधुधारायाः वायुनोपहृतं बलः ।**
आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ ॥२०॥

श्लोकार्थ—वायु से आई हुई मधुधारा की वह गन्ध सुगन्ध पाकर बलराम ने वहाँ आकर सब स्त्रियों के साथ उसका पान किया ॥२०॥

सुबोधिनी—तत्सर्ववनव्याप्तम् । **वायुनोपहृतमिति** दूरेपि क्रीडन् आघ्रायोपगतः । उभयेषां पूर्णरमणे भगवत्स्मरणेन कदाचित्सङ्कोचः स्यात्, रसो वा नोत्पद्येत, अत एतदर्थं ललनाभिः समं पपौ ॥२०॥

व्याख्यार्थ—वह गन्ध समस्त वन में फैली हुई थी, क्योंकि उसको सर्वत्र वायु ले गई थी, जिससे राम आदि दूर भी खेल रहे थे तो भी सुगन्ध पाकर यहां आ गये, उसका अकेले राम ने पान नहीं किया, किन्तु स्त्रियों के साथ पान किया, क्योंकि इनका राम से प्रथम रमण था उस समय यदि बलराम में आविष्ट होने से भगवान् का ज्ञान हो जावे, तो कदाचित् रमण में सङ्कोच हो जावे अतः स्त्रियों के साथ पान किया अर्थात् स्त्रियों ने भी वारुणी पांन किया ॥२०॥

आभास—ततो गतक्लेशास्ताः रतिपोषिका जाता इति वक्तुं तासां गानमाह **उपगीयमानचरित** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् बिना क्लेश वाली वे रति का पोषण करने वाली हुई, यों कहने के लिये 'उपगीयमानचरितो' श्लोक में उनके गान का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—**उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः ।**
वनेषु व्यचरत्क्षीबो मदविह्वललोचनः ॥२१॥

श्लोकार्थ—स्त्रियां जिनका चरित्र गारही हैं और मद से घूर्णित जिसके नेत्र हो रहे हैं ऐसे बलदेवजी मत्त होकर वनों में विचरने लगे ॥२१॥

सुबोधिनी—उपगीयमानं चरितं यस्येति । तस्मिन् रुचिरुक्ता । यतो **वनिताः** वनमिताः इति । हलायुध इति तस्यापि विचाराभाव उक्तः। किञ्च । क्षीबो मत्तः । अनेन विचाराभावः सम्यक् निरूपितः । मदेन विह्वले लोचने यस्येति लोकात्र पश्यन्नपि न पश्यतीत्युक्तम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—स्त्रियाँ चरित्र गान कर बलरामजी में अपनी रुचि प्रकट कर रही हैं, क्योंकि वन में आई हुई हैं और वह भी हलायुध हैं जिससे उन में विचार का अभाव है, और विशेष में फिर मधुपान के कारण मत्त हैं, यों कहने से इनमें विचार का अभाव है यह अच्छी तरह निरूपण किया है, मद से नेत्र विह्वल हो जाने से देखते हुवे भी नहीं देखते हैं यों कहा है ॥२१॥

आभास—एवमवस्थापन्नस्य आधिदैविकं रूपं प्रकटीभूतमिति ज्ञापयितुं वर्णयति **स्रग्व्येककुण्डलो मत्त** इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त का आधिदैविक रूप प्रकट हुआ, यह जताने के लिये, 'स्रग्व्येककुण्डलो मत्त' श्लोक में वर्णन करते है ।

श्लोक—**स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया ।**
बिभ्रत्स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयरूषितम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—कैसे बलदेवजी हैं ! जिनके गले में वैजयन्ती माला है, एक कान में ही कुण्डल है । मदमत्त है, मन्द हास्य युक्त मुख कमल वाले हैं, प्रलय के स्वेद रूप हिम कणों से सुशोभित हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—चत्वारि विशेषणानि चतुर्मूर्तित्वसम्पत्तये निरूपितानि । **स्रग्वी** पुष्पमालापरिवीताङ्गः, एकमेव कुण्डलं यस्य । सङ्कर्षणस्य तदसाधारणं चिह्नम् । योग एव, न साङ्ख्यमिति। मत्तः स्वभावतः । वैजयन्त्या नवरत्नखचितया आपादलम्बिन्या मालया स हसितमुखाम्बुजं श्वेतमुखकमलं बिभ्रत् । स्वेदरूपाः प्रालेयाः हिमकणाः । तेन रूषितमिति । अनेन श्रमः सहज एव शोभाकरः, न तु क्लेशजनित इति सूचितम् । ते प्रस्वेदकणाः न शीतला भवन्तीति ॥२२॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में चतुर्मूर्त्तित्व सम्पत्ति के लिये चार विशेषण निरूपण किये हैं १-पुष्पमाला से युक्त अङ्ग वाले, जिनके एक ही कुण्डल है, सङ्कर्षण का यह असाधारण चिन्ह है, कारण कि इस स्वरूप में केवल योग अर्थात् क्रिया शक्ति प्रकट है न कि साङ्ख्य[1] शक्ति, स्वभाव से मत्त हैं, नव रत्नों से खचित, पाद पर्यन्त लम्बी अर्थात् लटकने वाली वैजयन्ती माला से वह श्वेत मुख कमल को धारण करते हुए, स्वेदरूप जो प्रलय के हिम कण हैं उनसे सुशोभित, इससे यह जताया है कि श्रम सहज ही शोभा करने वाला है न कि क्लेश दायी है,वे पसीने के कण शीतल नहीं होते हैं।२२।

१—साङ्ख्य शक्ति अर्थात् ज्ञान योग उसमें आत्म और अनात्म विवेक है और सङ्कर्षण वेदात्मक है इसमें एक ही क्रियात्मक योग शक्ति हे तथा वेद में सर्व आत्मरूप होने से आत्म अनात्य विवेक उसको सम्मत नहीं है,

आभास—तर्हि स्वरूपनाश एव वारुण्या जात इत्याशङ्क्य, तथा प्रतीतवन्तं देवमपि नाशयतीति ज्ञापयितुं यमुनां तथा मन्यमानां निग्रहं चिकीर्षुराकारितवानित्याह **स आजुहावेति ।**

आभासार्थ—तो मत्त होने पर, वारुणी से स्वरूप का नाश ही हुआ, यों शङ्का कर वैसे प्रतीत होने वाले देव को भी नाश करती है, यों जताने के लिये वैसे प्रकार वाली यमुनाजी का निग्रह करने की इच्छा वाले राम ने उसको बुलाया, यह 'स आजुहाव' श्लोक में कहा है।

श्लोक—**स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः ।**
निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ।
अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ॥२३॥

श्लोकार्थ—उन समर्थ बलदेवजी ने जल क्रीड़ा के लिए बुलाया, जब उन्होंने देखा कि मेरे वचनों का अनादर कर नहीं आई है, तब मत्त एवं कुपित बलरामजी क्रोधित हो उसको हल के अग्र भाग से खेंचा ॥२३॥

सुबोधिनी—केवलं निग्रहार्थमाकारणे सुतरां मत्तता भवतीति यत्रैव पीत्वा तिष्ठति, तत्रैव जलक्रीडा कर्तव्येति जलक्रीडार्थमित्युक्तम् । नन्वेवं कृतेऽपि मत्तता भवत्येव, नहीश्वरमर्यादया स्थापिता नद्यः क्वचिदायान्ति, आगता वा कथं न मर्यादाभङ्गं कुर्युः, तत्राह **ईश्वर** इति । न हि स्वार्थमेव मर्यादा भवति, अन्यथा क्रीडार्थं जगन्निर्माणमिति पक्षो न स्यात् । नहीश्वरः ईशितव्यमुपसर्पति । ततो यमुनया विचारितम्, मत्तोऽयम्, मत्त एव अविचार्यैवाकारयतीति बलवाक्यमनादृत्य, आपगां नदीं अनागतां हलाग्रेण विचकर्ष । हलस्याप्याधिदैविकत्वात् देवतासहितां नदीं कूलेऽपि निम्नभावं सम्पाद्य, कुल्यामार्गेण नीतवान् । तदा देवतासहितं जलं स्वभावमार्गेणागच्छत् तेनैव मार्गेण गन्तुं प्रवृत्तम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—जल क्रीड़ार्थ श्री यमुनाजी को बुलाया यों कहने का कारण बताते हैं, कि यदि केवल निग्रहार्थ ही बुलाते तो सुतरां मत्तता आ जाती, इसलिये जहां ही पान कर ठहरे थे वहाँ ही जल क्रीड़ा करनी चाहिये, इसलिये यों कहा, यों करने पर भी मत्तता होती ही है, ईश्वर की मर्यादा से स्थापित जो नदियाँ हैं वे कहीं भी नहीं आती हैं, यदि आवें तो मर्यादा का भङ्ग होगा ही, इसका उत्तर देते हैं कि इसमें क्या हानि है ? बुलाने वाले भी तो ईश्वर हैं, ईश्वर के लिये ही मर्यादा नहीं होती है यदि मर्यादानुसारिणी ईश्वर की लीला होवे तो क्रीड़ा के लिये जगत् का निर्माण यह पक्ष भी नहीं बनता है, ईश्वर अपने ईश्वर पन को नहीं खींच लेता है, बुलाने पर श्री यमुनाजी ने विचार किया कि यह उन्मत्त हैं, जो मदमत्त होता है वह ही बिना विचारे बुलाता है, इसलिये बल के वचन का अनादर किया है, अर्थात् नहीं आई, जब देखा कि नहीं आई तब उसको हल के अग्र भाग से खेंचा, हल भी आधिदैविक स्वरूप होने से, देवता सहित नदी का

कूल पर ही, निम्न भाव सम्पादन कर, नहर के मार्ग से लाये, तब देवता सहित जल, स्वाभाविक मार्ग से जाने लगा उस ही मार्ग से जाने के लिये प्रवृत्त हुवे ॥२३॥

आभास—एतदपि मत्तकार्यमेवेत्याशङ्क्य ज्ञानपूर्वकं तथाकरणमित्याह **पापे त्वं मामवज्ञायेति ।**

आभासार्थ—यह कार्य भी मत्त का ही है यों शङ्का हो तो कहते हैं कि ज्ञान पूर्वक यों किया है, जिसका वर्णन 'पापे त्वं मामवज्ञाय' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मयाहुता ।**
नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—बलरामजी ने कहा कि हे पापिनी ! मेरी बुलाई हुई तूँ मेरा अनादर कर नहीं आई है, तो तुझ कामचारिणी को हल के अग्र से शत विभाग कर डालूँगा ॥२४॥

सुबोधिनी—मयाहुता आहूता । अथवा । यस्मात्त्वं मामवज्ञाय नागता अतो मया हुता यथा हुता दग्धा भवति, एवं शुष्केत्यर्थः । न केवलं शुष्कमात्रं निग्रहः, किन्तु अगृहामपि करिष्यामि, यतो वृष्टिजलेनापि लोका नदीत्वं न मंस्यन्त इति तदाह **नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेणेति** । यथा केदारेण सिक्तं जलं गच्छति ईश्वरवचनोल्लङ्घने महत्पापम्, पापे च दण्डादिकं न दोषायेति **पाप** इति सम्बोधनम् । तस्या अपराधमाह **कामचारिणीमिति ॥२४॥**

व्याख्यार्थ—'मयाहुता, पद का अर्थ दो प्रकार के करते हैं, एक 'मया आहुता' मैंने तुमको बुलाया, दूसरा 'यस्मात् त्वं मां अवज्ञाय न आगता अतो मया हुता दग्धा भवति, एवं शुष्का इत्यतः' जिस कारण से, तूं मेरा अपमान कर नहीं आई है, इस कारण से, मैंने तुझे जला दिया जिससे तूं शुष्क हो जायेगी, न केवल शुष्कमात्र तेरा निग्रह करूँगा, किन्तु बिना घर वाली भी करूंगा जिससे वृष्टि के जल पड़ने पर भी लोक तुझे नदीं नहीं मानेंगे, वह कहते हैं कि, हल के अग्र भाग से तेरे सैकड़ों टुकड़े कर डालूँगा, जैसे केदार से सिञ्चित जल बह जाता है वहाँ जल न रहने से वह भूमि शुष्क हो जाती है वैसे तूं भी हो जावेगी, ईश्वर के वचनों का उल्लङ्घन महा पाप है, पापी, को दण्ड देने में दोष नहीं है, इसलिये 'पापे' सम्बोधन दिया है, 'कामचारिणी' पद से उसका अपराध बताया है अर्थात् तेरा यह अपराध है कि तू आज्ञा न मान, बड़ों का तिरस्कार कर मन मानी करती है ॥२४॥

आभास—इयं न तस्य प्रतिज्ञा, किन्तु निर्भर्त्सनमात्रमित्याह **एवं निर्भर्त्सितेति ।**

आभासार्थ—यह उनकी प्रतिज्ञा नहीं है किन्तु केवल झिड़कना है वह 'एवं निर्भर्त्सिता' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**एवं निर्भर्त्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् ।**
उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप ॥२५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार झिड़कने पर भयभीत यमुना आश्चर्य में पड़ गई, हे नृप ! राम के पैरों पर गिरकर वाक्य कहने लगी ॥२५॥

सुबोधिनी—आकर्षणसामर्थ्यं दर्शनादेव ज्ञातवती । सत्यमेव करिष्यतीति । ततो भीता । **यदुनन्दनं** भक्तकृपालुम् । **चकिता** आश्चर्ययुक्ता सती प्रवाहस्थानात् दूरे नीता उवाच । **पादयोः पतितेति** अपराधक्षमापनार्थम् । **नृपेति** सम्बोधनं परिज्ञानार्थम् । अल्पो न विश्वसतीति ॥२५॥

व्याख्यार्थ—बलराम के आकर्षण का सामर्थ्य देखने से ही समझ गई यह सचमुच यों करेगा, उससे डरी, 'यदुनन्दन' नाम देने का भाव प्रकट करते हैं कि 'भक्तों पर कृपा करने वाले हैं, प्रवाह स्थान से दूर खींच जाने से आश्चर्य में पड़ गई और पैरो पर गिर के अपराध की क्षमा मांगती हुई कहने लगी, नृपः यह सम्बोधन परिज्ञान वास्ते दिया है, अल्प विश्वास नहीं करता है यों ॥२५॥

आभास—तस्याः प्रार्थनामाह **राम रामेति ।**

आभासार्थ—उसकी प्रार्थना 'राम राम' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**राम राम महाबाहो न जाने तव पौरुषम् ।**
यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राम ! हे महाबाहो राम ! तुम्हारा पौरुष मैं नहीं जानती हूँ, हे जगत् के स्वामी ! जिस आपके एक अंश ने सारा भूमण्डल धारण किया है ॥२६॥

सुबोधिनी—आदरे वीप्सा । तेनावज्ञा परिहृता । **महाबाहो** इति स्वज्ञातं भगवत्सामर्थ्यमाह । तज्ज्ञानं सामान्यत एव विशेषतो न जानामीत्याह **न जाने तव पौरुषमिति** । वस्तुतस्तवं महाबाहुः । अहं परं न जान इति वा । ज्ञात्वैवापराधशान्त्यर्थं तथा वदतीत्याशङ्क्यायामाह **यस्यैकांशेनेति** । माहात्म्यं हि दृष्टं जानाति । नदी पुनः भूम्या एकदेशे भवति । 'भूमिरेव पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा यस्य एकदेशेन विधृता भवति भूमण्डलं सर्षपायति यस्य मूर्ध्नी'ति वाक्यात् । तस्मादज्ञात्वा कृतोऽपराध इति क्षमा कर्तव्येति भावः । नन्वज्ञात्वा कृतेऽप्यपराधे दण्डो लोके दृष्ट इति चेत्, तत्राह **जगतः पत** इति । उदासीनव्यवस्थेयम् । पतिस्त्वज्ञानकृते न दण्डं करोति ।२६।

व्याख्यार्थ—राम ! राम ! दो बार आदर भाव से कहा है, 'महाबाहो' सम्बोधन से यह बताया है कि भगवान् रामजी का सामर्थ्य हम सामान्यतः जो जानती हैं तदनुसार यह सम्बोधन कहा है। विशेष नहीं जानती हूँ, इसलिए स्पष्ट कहा है कि 'न जाने तव पौरुषं' आपका विशेष पराक्रम मैं नहीं जानती हूँ, आप वास्तविक महाबाहु हैं, परन्तु मैं इसको समझ न सकी हूँ, यदि नहीं जानती है तो

अपराध के शान्त्यर्थ पैरों पर क्यों पड़ी ? इस शङ्का के उत्तर में कहती है कि देखा हुआ माहात्म्य जानती है, जैसे कि जिसके एक देश में धारण की हुई पश्चात् कोटि विस्तीर्ण भूमि वाला यह भूमण्डल जिसके मस्तक पर सर्षप जैसा भासता है, उस भूमि के एक देश में नदी होती है इस कारण से मैंने माहात्म्य नही जाना अतः अज्ञान से कृत अपराध क्षमा करना चाहिए, यदि कहो कि लोक में अज्ञान से किये हुए अपराध का भी दण्ड दिया हुआ देखा जाता है, तो इस पर कहते है आप जगत् के पति हैं, यह उदासीन व्यवस्था है पति तो अज्ञान से हुए दोष का दण्ड नहीं देता है ॥२६॥

आभास—ननु ज्ञायत एव संकर्षणो महानिति सर्वशास्त्रसिद्धम्, तत्कथमज्ञानमिति चेत्, तत्राह **परं भावं भगवतेति ।**

आभासार्थ—यदि कहो कि सब जानते हैं कि सङ्कर्षण शास्त्रों से सिद्ध महान् हैं, फिर अज्ञान कैसे ? इसका उत्तर 'परं भावं भगवतो' श्लोक में देती है ।

श्लोक—**परं भावं भगवतो भगवन्मामजानतीम् ।**
मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन्प्रपन्नां भक्तवत्सल ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे विश्वात्मन् ! भगवन् आप भक्तवत्सल भी हैं, अतः भगवान् के परमभाव को न जानने वालो, शरणागत मुझ को आप छोड़ देने के योग्य हैं ॥२७॥

सुबोधिनी—त्वयि मनुष्यभाव एव आधिभौतिकभावो वा लोकसिद्धः, न तु परो भावः । यथा भगवति कृष्णे । स एवात्राविष्ट इति न कोऽपि जानाति । अतः परं भावं साक्षाद्भगवतस्ते अजानतीं मां मोक्तुमर्हसि । **भगवन्निति** सम्बोधनात् इदानीं ज्ञातमिति नाग्रे अपराधः सम्भविष्यतीति सूचितम् । जातेऽप्यपराधे क्षमा कर्तव्येति सम्बोधनान्तरमाह **विश्वात्मन्निति** । आत्मापराधः कस्यापि न रोषकर इति । तथाप्यधिकारावेशेन भेददर्शनात् अक्षमेति चेत्, तत्राह **भक्तवत्सलेति** । आत्मनो भक्तत्वमाह **प्रपन्नामिति** ॥२७॥

व्याख्यार्थ—आप में मनुष्य भाव अथवा आधिभौतिक भाव ही लौक सिद्ध है, जैसा भगवान् कृष्ण में परभाव है, वैसा परभाव आप में सिद्ध नही है, वह परभाव रूप कृष्ण अब आप में प्रविष्ट हैं, यों कोई नहीं जानता है, अतः अब जो साक्षात् परभावरूप भगवान् आप हैं उस परभाव को न जानने वाली मुझ को छोड़ने के लिये योग्य हो, भगवान् इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि अब आपके स्वरूप को जाना है, जिससे आगे अपराध नहीं होगा, अपराध होने पर भी क्षमा करनी चाहिये क्योंकि आप विश्वात्मा हैं अपना किया हुआ अपराध किसी को क्रोधित नहीं करता है, यदि कहो कि, तो भी, अधिकार के आवेश से भेद के दीखने पर क्षमा नहीं की जा सकती है, जिसका उत्तर देती है कि आप भक्त वत्सल हैं, और मैं आपके शरण आने से भक्त हूँ इसलिये सर्वथा मैं क्षमा के योग्य हूँ और आप क्षमा देने के योग्य हैं ॥२७॥

आभास—एवं कर्मज्ञानभक्तिप्रकारैः प्रार्थनायां कृतायां तां त्यक्तवानित्याह **ततो व्यमुञ्चदिति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार कर्म,ज्ञान और भक्ति के प्रकारों से प्रार्थना करने पर उसको छोड़ दिया, यह 'ततो व्यमुञ्चत्' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—ततो व्यमुञ्चद्यमुनां याचितो भगवान्बलः ।
विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट् ॥२८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब यमुनाजी ने प्रार्थना की, तब भगवान् बलदेवजी ने उसे छोड़ दिया और जैसे गजराज हथिनियों के साथ जल में प्रवेश करता है, वैसे उन्होंने स्त्रियों के साथ जल में प्रवेश किया ॥२८॥

सुबोधिनी—तथैव मोचनार्थं याचितः, यतो भगवान् । महत इयमेव व्यवस्था । पुनरपकारं न करिष्यतीति बुद्ध्वा तथा कृतवानिति पक्षं व्यावर्तयति **बल** इति । स्वबलाभिनिवेशादेव तथा कृतवान्, न तु ज्ञात्वेत्यर्थः । तस्यां प्रसन्न इति ज्ञापयितुं क्रीडामाह **विजगाह जलं स्त्रीभिरिति** । पूर्ववन्मर्यादां त्यक्तवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **करेणुभिरिवेभराडिति** ॥२८॥

व्याख्यार्थ—उसने ही अर्थात् यमुनाजी ने ही छोड़ने के लिये बलरामजी से याचना की थी, क्योंकि भगवान् हैं, महान् की यह ही व्यवस्था है कि अपकार न करेंगे यों समझ कर ही यह किया था इस पक्ष को बदलता है क्योंकि बलराम बल वाले है, अपने बल के अभिनिवेश से ही वैसे किया, न कि जान बूझ कर किया उस पर प्रसन्न हुए यह जताने के लिये क्रीड़ा को कहने लगे, स्त्रियों के साथ जल में प्रवेश किया, जैसे गजराज हथिनियों के साथ प्रवेश करता है, गजराज के दृष्टान्त देने का भाव यह है कि जैसे वह मर्यादा नहीं रखता है वैसे आपने भी पहले जैसी मर्यादा का त्याग किया ॥२८॥

आभास—एतावत्पर्यन्तं भगवत्त्वमुक्त्वा तिरोहितो भगवानिति ज्ञापयितुं तस्य वस्त्राणां क्लेदनात् वस्त्रान्तरपरिधानमाह **कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायेति ।**

आभासार्थ—यहां तक भगवत्व कह कर भगवान् तिरोहित हो गये यह जताने के लिये उनके वस्त्रों के गीले पन के कारण अन्य वस्त्रों का धारण 'कामं विहृत्य' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णायासिताम्बरे ।
भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—अच्छी तरह जल क्रीड़ा कर जब बाहर निकले, तब कान्ति देवी ने बलरामजी को दो अमूल्य नील, दो वस्त्र, आभूषण और सुन्दर माला दी ॥२९॥

सुबोधिनी—कान्तिर्भगवतश्चतुर्थी शक्तिः । अत एव तामसी मूर्तिश्चतुर्थी तद्धितार्थं तस्य प्रिये नीले अम्बरे भूषणानि च तदीयानि शुभां स्रज कल्याणसूचिकां मालां ददौ । अन्यथा अपराधस्मरणात् जीवितमेव न भवेत् । भगवदीयया सत्कृत इति तस्यान्तस्तापो निवृत्तः ॥२९॥

व्याख्यार्थ—कान्ति देवी भगवान् की चतुर्थी शक्ति है, इस कारण से ही चौथी तामसी मूर्ति उनके हित के लिये उनके प्यारे नीले रंग के दो वस्त्र तथा आभूषण और कल्याण का सूचन करने वाली सुन्दर मालाएँ दी, यदि इस प्रकार यह चतुर्थी भगवान् की शक्ति बलरामजी का सत्कार न करती तो अपराध स्मरण से जीवन, हीन रहता, भगवच्छक्ति द्वारा सत्कार होने से उसका भीतर का ताप निवृत्त हो गया ॥२९॥

आभास—ततस्तत्परिधानात् बहिर्मालिन्यमपि निवृत्तमित्याह **वसित्वा वाससी नीले इति ।**

आभासार्थ—पश्चात् उन वस्त्र आदि के धारण करने से, बाहर की मलीनता भी निवृत्त हो गई, यह 'वसित्वा' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—वसित्वा वाससी नीले मालामुन्मुच्य काञ्चनम् ।
रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः ॥३०॥

श्लोकार्थ—बलरामजी जब नील वस्त्र पहन, स्वर्णमयी माला धारण कर और चन्दन लगाकर सुन्दर अलंकृत हुए, तब इन्द्रराज के हस्ती के समान शोभा देने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी—सजातीयेनैव सजातीयं व्यावर्त्यत इति नीले वाससी वसित्वा, मालां च कीर्तिमयीमुन्मुच्य, काञ्चनीं स्वरूपतोऽप्यमृतमयीं नित्यसद्गुणरूपाम् । निर्दोषगुणवान् भूत्वा रेजे । एवं स्वाभाविकीमवस्थामापन्नः स्वलङ्कृतो जातः, लिप्तश्चाङ्गरागैः । सर्वेषां दर्शनीय एव जातः, न तु गुप्त इति दृष्टान्तमाह **माहेन्द्र इव वारण** इति । ऐरावत इव ॥३०॥

व्याख्यार्थ—सजातीय से ही सजातीय सुन्दर सुसज्जित होता है इसलिये नीले वस्त्र धारण कर स्वरूप से अमृतमयी, नित्य सद्गुणरूप, कीर्तिमयी माला को गले में डाल कर और चन्दन आदि अङ्गराग से लेप लगा के निर्दोष गुणों वाले हो शोभित हुए, इस प्रकार स्वाभाविकी अवस्था को प्राप्त हो अलङ्कृत होने से सर्व को दर्शन योग्य ही हुए, न कि गुप्त अलङ्कृत दीखे जिसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे इन्द्र का ऐरावत हस्ती शोभा देता है ॥३०॥

आभास—तस्य माहात्म्यमग्रेऽपि दृश्यत इत्याह **अद्यापि दृश्यते** इति ।

आभासार्थ—उनका माहात्म्य आगे भी देखने में आता है, वह 'अद्यापि दृश्यते' श्लोक में करते हैं।

श्लोक— **अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाकृष्टवर्त्मना ।**
बलस्यानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! हल से आकृष्ट यमुनाजी के देखने से आज भी उनका माहात्म्य प्रकट है; क्योंकि वह स्थान अनन्त वीर्य बलरामजी के वीर्य की मानो सूचना दे रहा है ॥३१॥

सुबोधिनी—अन्यथा अग्रे अपकीर्तिः स्यादिति । आकृष्टवर्त्मना हलाकर्षणमार्गेण । महत एव वीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव सा जाता, न तु तावदेव बलमिति । वस्तुतस्तु तदप्रयोजकम्, न पूर्णमाहात्म्यसूचकं भवितुमर्हतीति इवशब्दः । ॥३१॥

व्याख्यार्थ—नहीं तो आगे अपकीर्त्ति होती, इसलिये यमुनाजी हल से आकृष्ट मार्ग से, बड़े ही वीर्य की मानों सूचना दे रही है, न कि इतना ही बल है किन्तु इससे अधिक विशेष बल है, वास्तव में यह तो अप्रयोजक है 'इव' पद देकर बताया है कि यह आकर्षण पूर्ण माहात्म्य सूचक होने के योग्य नहीं है ॥३१॥

आभास—एकमेकदिनकृत्यमुक्त्वा यावत्कालं स्थितः सर्वेष्वेव दिवसेषु तदतिदिशति ।

आभासार्थ—इस एक दिन का कृत्य कह कर, जितना समय रहे सर्व ही दिनों में वह दिखाता है।

श्लोक— **एवं सर्वा निशा याता एकेव चरतो व्रजे ।**
रामस्याक्षिप्तचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—व्रजस्त्रियों के माधुर्यों से वशीकृत चित्त वाले व्रज में घूमते हुए राम को सर्व रात्रियाँ एक रात्रि के समान बीत गई ॥३२॥

सुबोधिनी—**एवं सर्वा निशा याता** इति । एकेवेति प्रकारे विशेषाभावः । **व्रजे चरत** इति स्थानस्य समानत्वाद्वैलक्षण्यं न प्रकाशितवान्, नत्वसामर्थ्यादिति सूचितम् । स्वपौरुषख्यापनमपि न कृतवानित्यत्र हेतुमाह **व्रजयोषितां माधुर्यैराक्षिप्तचित्तस्येति** । रामो हि साधनप्रधानः, भगवद्गुणाः तत्र प्रकाशन्त इति तत्साधनार्थमितरापेक्षया तत्समीचीनमिति तावन्मात्रेण पर्यवसितमतिर्माधुर्यैर्भगवद्धर्मैर्वशीकृतचित्तस्य एकेव निशा यातेत्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार व्रज में घूमते हुए राम की सब रात्रियाँ एक ही रात्रि के समान बीत गई अथवा हुई, व्रज का स्थान समान होने से विलक्षणता प्रकट नहीं की है, सामर्थ्य के अभाव से यों नहीं कहा है, अपना पौरुष भी प्रकट नहीं किया है, कारण कि राम का चित्त व्रज ललनाओं को मधुरता[1] से ही वश हो गया था, राम साधन प्रधान है, वहां व्रज में भगवद्गुण प्रकाशित होते हैं उनके साधन के लिये दूसरे की अपेक्षा से वह व्रज ही समोचीन है ॥३२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे षष्ठदशोध्यायः ॥९६॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६२वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण का दूसरा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"श्री बलभद्र का व्रज आगमन"

राग बिलावत

स्याम राम के गुन नित गाऊँ। स्याम राम ही सौं चित लाऊँ॥
एक बार हरि निज पुर छए। हलधरजी वृंदाबन गए॥
रथ देखत लोगनि सुख पाए। जान्यौ स्याम राम दोउ आए॥
नंद जसोमति जब सुधि पाई। देह गेह की सुरति भुलाई॥
आगैं ह्वै लैबे कौं धाए। हलधर दौरि चरन लपटाए॥
बल कौं हित करि गरैं लगाए। दै असीस बोले या भाए॥
तुम तौ भली करी बलराम। कहाँ रहे मन मोहन स्याम॥
देखौ कान्हर की निठुराई। कबहूँ पातीहू न पठाई॥
आपु जाइ ह्वाँ राजा भए। हमकौं बिछुरि बहुत दुख ढए॥

१—मधुरता से भगवान् में प्रकट अनुकल्प रूप कटाक्षादि धर्मों से

कहौ कबहुँ हमरी सुधि करत। हम तौ उन बिनु बहु दुख भरत ॥
कहा करैं ह्याँ कोउ न जात। उन बिनु पल पल जुग सम जात ॥
इहिं अंतर आए सब ग्वार। भेंटे सबनि जथा ब्यौहार ॥
नमस्कार काहूँ कौ कियौ। काहू कौं अंकन भरि लियौ ॥
पुनि गोपी जुरि मिलि सब आईं। तिन हित साथ असीस सुनाईं ॥
हरि सुधि करि सुधि बुधि बिसराई। तिनकौ प्रेम कह्यौ नहिं जाई ॥
कोउ कहै हरि ब्याही बहुनार। तिनकौ बढ्यौ बहुत परिवार ॥
उनकौं यह हम देतिं असीस। सुख सौं जीवैं कोटि बरीस ॥
कोउ कहै हरि नाहीं हम चीन्हौ। बिनु चीन्हैं उनकौ मन दीन्हौ ॥
निसि दिन रोवत हमैं बिहाइ। कहौ करैं अब कहा उपाइ ॥
कोउ कहै इहाँ चरावत गाइ। राजा भए द्वारिका जाइ ॥
काहे कौं वै आवैं इहाँ। भोग विलास करत नित उहाँ ॥
कोउ कहै हरि रिपु छै किए। अरू मित्रनि कौ बहु सुख दिए ॥
बिरह हमारौ कहँ रहि गयौ। जिन हमकौं अति ही दुख दयौ ॥
कोउ कहै जे हरि की रानी। कौन भाँति हरि कौ पतियानि ॥
कोउ चतुर नारि जो होइ। करै नहीं पतिआरौ सोइ ॥
कोउ कहै हम तुम कत पतियाईं। उनकैं हित कुल लाज गवाईं ॥
हरि कछु ऐसौ टोना जानत। सबकौं मन अपनैं बस आनत ॥
कोउ कहै हरि हम सब बिसराई। कहा कहैं कछु कह्यौ न जाई ॥
हरि कौं सुमिरि नयन जल ढारैं। नैंकु नहीं मन धीरज धारैं ॥
यह सुनि हलधर धीरज धारि। कह्यौ आइहैं हरि निरधारि ॥
जब बल यह संदेस सुनायौ। तब कछु इक मन धीरज आयौ ॥
बल तहँ बहुरि रहे द्वै मास। ब्रज बासिनि सौं करत बिलास ॥
सब सौं मिलि पुनि निजपुर आए। सूरदास हरिके गुन गाए ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६६वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ६३वां अध्याय
उत्तरार्ध का १७वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"३२१ अध्याय"

पौण्ड्रक और काशीराज का उद्धार

कारिका—कामस्य पूर्तिमुक्त्वात्र क्रोधस्यापि निरूप्यते ।
कंसादेरिव दुष्टानां मोक्षोऽत्र विनिरूप्यते ॥१॥
सस्थानस्य सदेवस्य पोषकैः सहितस्य च ।
विपक्षिणो नाशरूपः पूर्वस्माद्वचसा पृथक् ॥२॥
लौकिकैरपि वाक्यैर्यः कामादौ प्रविशेत् पुमान् ।
तं कृष्णो मोचयेत् सत्यं सर्वथेति निरूप्यते ॥३॥
पौण्ड्रकस्य समित्रस्य कर्मोपासनसंयुतौ ।
साधारवंशमात्रस्य नाशः सप्तदशेऽभवेत् ॥४॥

कारिकार्थ—काम की कथा पूर्ण कर अब क्रोध की वार्ता निरूपण करते हैं, इस प्रकार निरूपण करने से कंसादि की तरह दुष्टों के मोक्ष का यहाँ उत्तरार्ध के इस सत्रहवें अध्याय में वर्णन करते हैं, बाण के प्रसङ्ग में भगवान् ने इसको स्थान दिया, इसके सहायक महादेव पर दया की एवं सहायक रुद्रगण ने जीवित किया तथा उसका गर्व दूर किया, यहाँ उससे सर्व कार्य विपरीत किए जैसे कि वहाँ प्रह्लाद को वंश रक्षा वचन देने का कारण सर्व की रक्षा की और यहाँ सर्व पोषण करने वालों का नाश किया, वहाँ विपक्षियों का केवल दर्प दूर किया, यहाँ उनका नाश किया, इस प्रकार यह मोक्ष रूप निरोध बाणासुर के निरोध से पृथक् प्रकार का है। जो लौकिक वाक्यों से भी काम में प्रवृत्ति करते हैं, उनका भी भगवान् कृष्ण मोक्ष करते हैं जैसे कि गोपियाँ बलदेव के साथ काम में प्रवृत्त हुई, उनका भी मोक्ष किया है, यह सर्वथा सत्य है, यों निरूपण किया जाता है। अज्ञों (अज्ञानियों) के कहने से अपने को भगवान् समझ पौण्ड्रक ने भगवान् को कहलाया कि मैं भगवान् हूँ, तूँ झूठे ही मेरे चिन्ह धारण कर अपने को भगवान् प्रसिद्ध करता है, अतः वे चिन्ह छोड़ दे और अपने को भगवान् न कह अन्यथा युद्ध के लिए तैयार होजा ! इस प्रकार के वचन श्रवण कर भगवान् ने वहाँ पधार कर अपना ब्रह्मत्व सिद्ध कर दिखाने के लिए तथा अपने में निरोधार्थ इसके आश्रय स्थान काशी तथा मित्र काशीराज एवं सेना आदि सर्व का नाश कर दिखाया, इसका निरोध इसलिए किया है कि यह पहले भक्त था ॥१–४॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

आभास—पूर्वाध्याये पूर्वोक्तानां तामसप्रभृतीनां सात्त्विकत्वापादनात् गोपिकानां सकामत्वात् सात्त्विकप्रकरणे कामः पूरितः। अधुना कंसवत् प्राकृतैरपि वाक्यैः ये भावं कृतवन्तः, तेषां मोक्षरूपो निरोधो निरूप्यते। दैत्यांशानां द्विष्टानां साक्षान्मोक्षो नास्तीति निरोधरूप एव मोक्षो निरूप्यते। तत्रापि कामक्रोधयोः समानकाले प्रादुर्भाव इति शक्तिरपि विभक्तेति यदैव गोपिकानिरोधार्थं भगवान् रामो गतः, तदैव साक्षाद्भगवतोऽपि नियोगं वक्तुं काशीदाहकथा आरभ्यते। तस्याः प्रस्तावनामाह।

आभासार्थ—सात्विक प्रकरण में पूर्व कहे हुए तामस प्रभृति भक्तों का पूर्व अध्याय में सात्विकत्व सिद्ध करने से और गोपियों सकाम थीं इसलिये उनका काम पूर्ण किया है, अब कंस के समान जो प्राकृत वचनों से भी वैसा भाव करते हैं उनका मोक्षरूप निरोध निरूपण किया जाता है। दैत्यांश

जो शत्रु है उनका साक्षात्[1] मोक्ष नहीं होता है, इसलिये उनका निरोधरूप मोक्ष ही वर्णन करने में आता है, वहां भी काम और क्रोध का समान काल में ही प्रादुर्भाव हुवा है, इसलिये शक्ति भी विभक्त हो गई है जब भगवान् राम गोपिकाओं के निरोध के लिये गये तब ही साक्षात् भगवान् भी पधारे वहां नियोग कहने के लिये काशीदाह की कथा आरम्भ की जाती है, जिसकी प्रस्तावना कहते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**नन्दव्रजं गते रामे करूषाधिपतिर्नृप।**
वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥१॥

श्लोकार्थ— श्री शुकदेवजी कहने लगे कि राम जब नन्द के व्रज में पधारे, तब करूष देश के मूर्ख राजा ने दूत भेजकर कृष्ण को कहलाया कि मैं सच्चा कृष्ण हूँ ॥१॥

सुबोधिनी—'करूषान्मानवादास'न्निति कारूषा एव करूषाः क्षत्रियाः,ते वस्तुतः उत्तरापथराजानः ब्राह्मणभक्ता धर्मपराश्च। तेषामधिपतिः कश्चित्कस्यचिद्वसुदेवनाम्नः पुत्रः पुराणेषु वासुदेवोऽवतरिष्यतीति श्रुत्वा, वसुदेवपुत्रत्वादहमेव वासुदेव इति भगवदिच्छया तस्य वासुदेवोऽहमिति निरन्तरं भावनोत्पन्ना। तद्देहात्मवादिन एवेति बहिर्मुखस्यैव वासुदेवभावनया स्वदेशं परित्यज्य काश्यां वासे बुद्धिरुत्पन्ना। ततः काशिराजेन सह मैत्री विधाय काश्यामेव स्थितः। एवं स्थितौ वासुदेवद्वैविध्यं शास्त्रसिद्धं न भवतीति स्वस्मिन् वासुदेवभावना दृढेति अन्तर्बहिरेकरूपता युक्तेति बहिरपि भगवच्चिह्नानि धृत्वा; स्थानवशान्महादेवकृपया च सानुभावोऽपि सन्, भगवतो दुर्गाश्रयणादिव्यामोहकलीलां संचिन्त्य वासुदेवे तदनुपपन्नमिति स्वयमेव वासुदेवः, नान्य इति निश्चित्य, मुख्यनिषेधार्थं कृष्णाय भगवते दूतं प्राहिणोत्। ननु स्वयं वासुदेवो भवत्येव, नापि द्वैधमस्ति,अवतारबाहुल्येऽपि समानकालीने न विरोध इति किमिति प्राहिणोदिति चेत्। तत्राह **अज्ञ** इति। नायं किञ्चिच्छास्त्रतोऽनुभवतो वा जानाति ॥१॥

व्याख्यार्थ—करूषान्मानवादासन्' इस वाक्य के अनुसार कारूष ही करूष क्षत्रिय कहे जाते हैं, वे सचमुच धर्म परायण और ब्राह्मण भक्त उत्तरापथ राजा हैं, उनका रुक्मी किसी वसुदेव क्षत्रिय का पुत्र था, उसने पुराणों में सुना कि वासुदेव अवतार ग्रहण करेगा, अतः वसुदेव का पुत्र होने से मैं ही वासुदेव रूप से अवतरित हुवा हूँ, भगवदिच्छा से उसके मन में यह भावना निरन्तर होने से बढ़ती गई, उस देहात्मवादी बहिर्मुख की ऐसी भावना दृढ़ हो जाने से यह बुद्धि हुई कि मुझे काशी में चल कर रहना चाहिये, अनन्तर काशीराज से मैत्री कर काशी में आकर रहे। काशी में निवास के बाद मैं वासुदेव हूँ यह निश्चय हो जाने पर उसको विचार आया कि वासुदेव दो तो शास्त्र से सिद्ध न होंगे और वैसे चिन्ह भी मुझे प्राप्त नहीं है अतः प्रथम वे चिन्ह धारण किये, काशी में रहने से एवं काशीराज की मित्रता से प्रभाव वाला भी हो गया, तब भगवान् को व्यामोह में पटकने वाली द्वारका

१—भक्तों का भगवान् के साथ सर्व का कामाशन रूप मोक्ष नहीं होता है।

रूप दुर्ग में पलायन करना आदि लीलाओं का स्मरण करते २ निश्चय कर बैठा कि इस प्रकार भाग जाना यह कार्य अवतार वासुदेव कभी नहीं करता अतः मैं ही वासुदेव रूप से अवतार हुवा हूँ, अन्य नहीं हुवा है, मुख्य के निषेधार्थ भगवान् कृष्ण के पास दूत को भेजा, शङ्का होती है कि दूत क्यों भेजा ? भले आप भी वासुदेव होवे इसमें किसी प्रकार दुविधा नहीं है, समान काल में यदि बहुत अवतार हो जावें तो इसमें कोई विरोध नहीं है तो फिर दूत के भेजने की आवश्यकता नहीं थी, इस शङ्का का निवारण करने के लिये श्री शुकदेवजी ने इसको 'अज्ञ' विशेषण दिया है, अर्थात् मूर्ख है यह शास्त्र अथवा अनुभव से कुछ जानता ही नहीं है अतः दूत भेजा ॥१॥

आभास— तर्हि कथमेवं कृतवानित्याशङ्क्याह **त्वं वासुदेवो भगवानिति** ।

आभासार्थ—यों किस लिये किया ? यह 'त्वं वासुदेवो' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः ।
इति प्रस्तोभितो बालैर्मेने आत्मानमच्युतम् ॥२॥

श्लोकार्थ—बालकों ने इसको बहकाया कि जगत् के पति वासुदेव भगवान् आप ही अवतरित हुए हैं, जिससे अपने को अच्युत भगवान् मानने लगा ॥२॥

सुबोधिनी—बाला अनभिज्ञाः दुर्ज्ञमूर्खबालकाः ते वासुदेवो लोके अवतीर्ण इति श्रुत्वा सन्निहितपरित्यागे कारणाभावात् निकटस्थमेव तं वासुदेवं वासुदेवनामानं पौण्ड्रक इत्यपराभिधेयं **त्वं वासुदेव** इत्याहुः । अतो बालकवाक्यात् तौ. प्रस्तोभित आत्मानमच्युतं मेने । वासुदेव इति योगव्यावृत्त्यर्थं **भगवानिति** । तादृशस्य कथं जन्मेत्याशङ्क्याह **अवतीर्ण** इति । किमर्थमवतीर्ण इत्याकाङ्क्षायामाह **जगत्पतिरिति** । जगदुद्धारार्थमवतीर्ण इत्युक्तं भवति । एवं प्रस्तोभितः प्रोत्साहितो बालकवत् आत्मानमच्युतमेव मेने । ॥२॥

व्याख्यार्थ—'बाल' पद का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जो उलटा समझते हैं, मूर्ख और बेसमझ हैं, वे बालक हैं, ऐसे लोगों ने यह सुना था कि वासुदेव ने लोक में अवतार लिया है, जो समीप है उसका बिना कारण त्याग करना योग्य नहीं, निकट स्थित उस वासुदेव को जिसका दूसरा नाम पौंड्रक था, उसको कहने लगे कि तुम ही वासुदेव हो, अतः ऐसों के बहकाने में आकर अपने को अच्युत मानने लगा, केवल वासुदेव अच्युत कैसे ? इसलिये भगवान् विशेषण दिया है, यदि भगवान् है तो उसका जन्म कैसे ? वे तो अजन्मा है, इस पर कहते हैं कि जन्मा नहीं है किन्तु, अवतार धारण किया है, क्योंकि जगत् के पति हैं इसलिये जगत् के रक्षार्थ प्रकट हुवे हैं । इस प्रकार उत्साह दिलाने पर बालक की तरह अपने को अच्युत ही समझने लगा ॥२॥

श्लोक—दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्तवर्त्मने ।
द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः ॥३॥

श्लोकार्थ—जैसे खेल करते हुए द्वारका में बालक किसी बालक को राजा बनाकर मुख्य राजा के पास अपना दूत भेजे, वैसे इस मूर्ख ने भी बालकों के कहने से अपने को अच्युत समझ, जिनकी गति को कोई नहीं जान सकता है, वैसे श्रीकृष्ण के पास अपना दूत भेज दिया ॥३॥

सुबोधिनी - तदा द्वैतबुद्धिर्बाधिकेति अज्ञत्वात् बहिर्मुखत्वात् मुख्याद्वैतमज्ञात्वा बाह्यद्वैतं निराकर्तुं दूतं च प्राहिणोत् । बहिर्मुखस्य तथाभावनमेवैकोपराधः, सुतरां भगवते दूतप्रेषणमिति अपराधसमुच्चयार्थश्चकारः । ननु कथं सद्भिर्न निवारित इति चेत् । तत्राह **मन्द** इति । मन्दस्तुच्छः । हीनबुद्धिरिति यावत् । तेन सद्भिरुपेक्षित इत्यर्थः । तर्हि स्वापेक्षयापि भगवत्युत्कर्षं पश्यन् गोवर्धनोद्धरणादिकमपि शृण्वन् कथं प्रतिस्पर्धां कृतवानित्याशङ्क्याह **अव्यक्तवर्त्मने कृष्णायेति** । भगवन्मार्गः कुत्रापि नाभिव्यक्तः अतो माहात्म्यस्य अस्पष्टत्वात्तथाकरणमुचितमेवेत्यर्थः । तथापि द्वारकायाम् । 'काश्येव द्वारका प्रोक्ता कलौ नान्या कथञ्चने'ति वाक्यात् भ्रान्तपरिकल्पितादन्या द्वारकापि न भवतीति निश्चित्य, द्वारकायामेव स्थिताय भगवते नाट्यक्रीडायामिव उन्मत्तवाक्यमिव प्रेषितवान् । सर्वथा अप्रसिद्धोर्थः पुरःस्फूर्तिकबाधे सर्वसम्मतो न भवतीति । एतादृशोऽपि लोके व्यवहारोऽस्तीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **यथा बालो नृपो बालकृत** इति । सोऽपि स्वक्रीडायामेव स्वकीयेषु वदति, न तु मुख्ये समागत्येति चेत् । तत्राह **अबुध** इति । एतदपि न जानातीत्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ—तब द्वैत बुद्धि बाध करने वाली हुई, ऐसी बुद्धि अज्ञ होने से और बहिर्मुख होने से ही हुई है, अतः मुख्य जो अद्वैत ज्ञान है उसको न जानने से बाहर का जो अद्वैत है उसके निराकरण करने के लिये दूत भेजा, बहिर्मुख का यों करना भी एक अपराध है, सुतरां भगवान् के पास दूत भेजना यों अपराध समुच्चय के लिये 'च' पद दिया है उसने तो भेजा सत्पुरुषों ने उसको क्यों नहीं रोका, इसलिये ही कहा कि वह हीन बुद्धि वाला एवं तुच्छ है इस कारण से सत्पुरुषो ने उसको उपेक्षा की है, स्वयं भी जानता है कि कृष्ण ने गोवर्द्धन धारण आदि बड़े २ कार्य किये हैं, जिससे मुझ से वे बड़े हैं, फिर भी उनसे ईर्षा क्यों की ? कृष्ण के रहस्य को कोई नहीं जान सकता है, जिससे उनका माहात्म्य प्रकट समझ में नहीं आ सकता है, इसलिये उसका यह करना अनुचित नहीं है तथा 'काश्येव द्वारका प्रोक्ता कलौ नान्य कथञ्चन' कलियुग में काशी ही द्वारका कही है दूसरी द्वारका नहीं है इस भ्रान्त परिकल्पित से अन्य कोई द्वारका नहीं है, यह निश्चय कर, द्वारका में स्थित भगवान् को नाट्य क्रीड़ा को भांति अथवा उन्मत्त के वाक्य की तरह यों कहलाया, सर्व प्रकार अप्रसिद्ध जो अर्थ है वह आगे स्फूर्ति बाध कहाने पर सर्व के सम्मत नहीं होता है, यों होने पर भी लोक में ऐसा व्यवहार होता रहता है, इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे खेल में बालक करते हैं, एक बालक को राजा बनाते है वह बालक अपने को राजा समझता है, यों होने पर भी वह सच्चे राजा के पास जाकर कहता नहीं है, फिर इसने कैसे कहा, इस पर कहते हैं कि 'अबुधः' यह ऐसा बेसमझ है जो जितना बालक समझते हैं उतना भी नहीं समझता है, इसलिये दूत भेजा ॥३॥

आभास—दूतोऽपि स इव भ्रान्त इति तस्य कथं गमनमित्याशङ्कां निवारयन् कृत्यमाह **दूतस्त्विति** ।

आभासार्थ—दूत भी उसकी भाँति भ्रान्त था वह कैसे गया ? इस शङ्का को मिटाने के लिये 'दूतस्तु' श्लोक में उसका कृत्य कहते हैं ।

श्लोक—दूतस्तु द्वारकामेत्य सभायामास्थितं प्रभुम् ।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसंदेशमब्रवीत् ।।४।।

श्लोकार्थ—दूत ने द्वारका में पहुँच कर सभा में स्थित कमल नयन, प्रभु कृष्ण को राजा का सन्देश सुनाया ।।४।।

सुबोधिनी—द्वारकां समागत्य,तत्रापि सभायां स्थितम्, प्रभुं तत्र सभायां स एव प्रभुरिति सर्वैरङ्गीक्रियमाणम् । वस्तुतोपि कृष्णं सदानन्दम् । दृष्ट्यैव सर्वतापनाशकं सानुभावं कमलपत्राक्षम्। राज्ञः पौण्ड्रकस्य सन्देशमब्रवीत् । अनेनावश्यकवक्तव्यत्वं दोषाभावश्च सूचितः ।।४।।

व्याख्यार्थ—द्वारका में आकर राजा का सन्देश कृष्ण को सुनाया, कहाँ सुनाया इस पर कहते हैं, सन्देश सुनते समय सभा में बैठे थे, जिससे सिद्ध था कि उनको सबने अपना प्रभु स्वीकार किया है, वास्तविक रीति से वे सदानन्द हैं जिससे दृष्टि से ही सर्व के तापों को नाश करते है, क्योंकि आप के नेत्र कमल पत्र जैसे हैं,राजा पौण्ड्रक का सन्देश कहा, इस प्रकार सन्देश देने से उसकी आवश्यकता दिखलाई और दोष का अभाव सूचित किया ।।४।।

आभास—राजवाक्यमाह द्वयेन ।

आभासार्थ—दूत दो श्लोकों से राजा ने जो वाक्य कहे हैं वे कहता है ।

श्लोक—वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः ।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ।।५।।

श्लोकार्थ—मैं वासुदेव, जीवों पर दया करने के लिए प्रकट हुआ हूँ, मेरे सिवाय कोई दूसरा वासुदेव है ही नहीं, अतः तूँने जो झूठा नाम अपने पर धरा है, उसका त्याग कर दे ।।५।।

सुबोधिनी—**वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमिति** । स एक एव भवितुमर्हति । उभयोः प्रयोजनाभावात्। तर्हीदं वाक्यं विपरीतं कुतो न भवतीत्याशङ्क्याह **न चापर** इति । अपरः यो न राजा सामान्यभावं च प्राप्तः स न भवतीत्याशयः । किञ्च । कार्यमपि त्वयि विरुध्यते, न मयीत्याशयेनाह **भूतानामनुकम्पार्थमिति** । त्वया अक्षौहिणीबधेन भूतानुकम्पा न क्रियत इत्यभिप्रायः । नन्वेवमस्तु, दूतः किमिति प्रेष्यत इति चेत् । तत्राह **त्वं त्विति** । **मिथ्याभिधां** वसुदेवपुत्रत्वेन वासुदेव इति संज्ञाम्। सरस्वती तु 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दित'मिति वाक्यात् शुद्धसत्त्वे आविर्भूतत्वमेव, अतो मिथ्याभिधात्वमिति ।।५।।

व्याख्यार्थ— मैं वासुदेव प्रकट हुआ हूँ, वासुदेव एक ही होता है दोनों का कोई प्रयोजन नहीं है, तब यह वाक्य विपरीत क्यों नहीं समझा जावे । इस प्रकार की शङ्का का उत्तर देता है कि दूसरा कोई नहीं है, दूसरा जो राजा नहीं है, केवल, सामान्य भाव को प्राप्त हुवा है वह वासुदेव नहीं बन सकता है, कहने का यह ही आशय है और विशेष यह है कि अवतार के कार्य से भी तेरे कार्य उलटे हैं, अवतार के कार्य भूतों पर दया करनी है, तुमने अक्षौहिणी सेना के नाश से भूतों पर दया न कर उनको कष्ट दिया है, मैं तो भूतों पर दया करने के लिये प्रकट हुवा हूँ, यदि यो है तो मेरे पास दूत क्यों भेजा है, जिसका उत्तर है कि मैंने दूत, तुमको अच्युत समझ नहीं भेजा है, किन्तु जो केवल वसुदेव नाम वाले का पुत्र हूँ, इसलिये 'वासुदेव' हूँ इस प्रकार जो झूठा नाम धर लिया है उसका त्याग कर दे एतदर्थ दूत भेजा है, वह वासुदेव भगवान् अवतरित मानता है जो विशुद्ध सत्व से प्रकट होता है, अतः तुमने मिथ्या नाम धरा है उसे त्याग दे ।।५।।

आभास—ननु योगस्य विद्यमानत्वात्कथं मिथ्यात्वम्, कथं वा त्यागः कर्तुं शक्यत इति चेत् । सत्यम् । नहि लोके पितृपुत्रत्वेन नाम भवति । अन्यथा नामकरणं व्यर्थं स्यात् । अतो योगो विद्यमानोऽपि व्यवहारे न वक्तव्यः । अयमेव च त्यागः यल्लौकिकवैदिकव्यवहारेषु तन्नामाख्यापनम्, भ्रमजनकत्वात् मिथ्यात्वमिति मन्यते, वासुदेवः परब्रह्मणोऽपि नामेति, अन्यान्यपि चिह्नानि त्यक्तव्यानीत्याह **यानि त्वमस्मच्चिह्नानीति** ।

आभासार्थ—योग के विद्यमान होते हुवे उसको कैसे झूठा माना जावे, अथवा कैसे छोड़ा जा सकता है ? यदि यों कहो तो आपका कहना सत्य है, किन्तु लोक में केवल पिता के नाम सम्बन्ध से पुत्र का नाम नहीं धरा जाता है, यदि यों माना जाय तो शास्त्र में कहा हुआ नामकरण संस्कार करना व्यर्थ हो जावे, अतः योग होने पर भी व्यवहार में वह नहीं लाना चाहिये, यह ही त्याग है, जो लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में वह नाम प्रसिद्ध नहीं हैं, अतः भ्रमजनक होने से उसका मिथ्यापन माना जाता है । 'वासुदेव' परब्रह्म का भी नाम है, यानि त्वमस्मच्चिह्नानि' श्लोक में कहता है कि जो अन्य भी चिन्ह धारण किये वे भी त्याग के योग्य हैं अतः उनको भी त्याग दे ।

श्लोक—यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद्बिभर्षि सात्वत ।
त्यक्त्वैहि मां त्वं शरणं नो चेद्देहि ममाहवम् ।।६।।

श्लोकार्थ—हे यादव ! मूर्खता से जो तूँ हमारे चिन्ह धारण कर रहा है, उन्हें त्याग दे और मेरे शरण में आजा, नहीं तो मुझ से लड़ाई कर ।।६।।

सुबोधिनी—पूर्वं स्वमिन् वासुदेवत्वं सिद्धमिति अस्मच्चिह्नत्वं चक्रादीनाम् । नन्वस्मास्वन्यच्चिह्नानि कथं भवेयुः, अतोऽस्मच्चिह्नान्येव तानीत्याशङ्क्यायाह **मौढ्याद्बिभर्षीति** । अस्मन्मौढ्याच्चिह्नानि बिभर्षीति वास्तवोर्थः । जीवा भगवदाविर्भविऽपि भगवन्तं न जानन्तीति भगवान्

चिह्नानि बिभर्ति । अस्मदिति पञ्चमीबहुवचनम् । अस्मद्धेतोः । तत्रापि प्रयोजकधर्मात् मौढ्याद्धेतुत्वमुद्धारार्थमेव । नाशस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात् । सात्त्वतेति वंशनाम्ना वैष्णवनाम्ना वा सम्बोधनम् । तेन वैष्णवन्यायेन शङ्खचक्रादिधारणं न निषिध्यत इति सूचितम् । सत्त्वप्रधानाः सात्त्वाः । सात्त्वत इति तसिल् । विसर्गपाठो वा । लोपो वा द्रष्टव्यः । भक्तजनानुरोधात् बिभर्षीति । एवं विरुद्धनिराकरणं स्वबुद्ध्योक्त्वा, स्वस्य कृपालुतामाविष्कुर्वन्नाह **एहि मां त्वं शरणमिति** । लौकिकदृष्ट्या सामर्थ्यं न दृष्टमिति यदि नागमनम्, तदा मम आहवं देहि । आ समन्तात् त्वं मामेहि प्राप्नुहि । यथा निकटे गते मम सायुज्यसिद्धिर्भवति । अहमितः त्वत्स्थाने गन्तुमशक्त इति । इदमपि कृपाकार्यं स्वयमागत्योद्धरणम् । नोचेत्, मम वं आह । मह्यमेतावत्सुखं दास्यामीति वद । तदा निश्चिन्ततया सन्देहाभावात् त्वत्समीपागमने यत्नं करिष्यामीति । ६॥

व्याख्यार्थ—हमारे चिन्ह त्याग दे, चिन्हों को हमारे इसलिये कहा कि प्रथम उसने अपने को ही वासुदेव सिद्ध कर रखा है, हमारे चिन्ह चक्र आदि, दूसरे से चिन्ह हम में कैसे होंगे ? जिसके उत्तर में कहता है, कि हमारी मूर्खता के कारण ही धारण करते हो, अर्थात् मैं वासुदेव प्रकट हुवा हूँ वैसा ज्ञान न होने से धारण कर रहे हो, यदि यह ज्ञान होवे तो धारण न करो, जीव, भगवान् के प्राकट्य होने पर भी उनको नहीं जानते हैं, इसलिये भगवान् चिन्हों को धारण करते हैं अतः आपने भी अपने को भगवान् कहलाने के लिये चिन्ह धारण कर लिये हैं, अस्मत् पञ्चमी का बहु वचन है वह हेत्वर्थ में है उसमें प्रयोजक धर्म मूढ़ता है, इनके धारण करने का हेतु तो उद्धार करना ही है, नाश तो प्रथम ही सिद्ध है, 'सात्वत' यह सम्बोधन, वंश वा वैष्णव नाम के कारण दिया है, इससे यह सूचन किया है कि वैष्णव भाव से शङ्खचक्रादि धारण करना ही है,उसका निषेध हो नहीं सकता हैं, सतोगुण जिनमें प्रधान है वे सात्व हैं, सात्वत पद में तसिल् प्रत्यय है, वा विसर्ग पाठ अथवा लोप है यह देखना वा विचारना चाहिये, अथवा भक्त जनों के उद्धारार्थ धारण करते हो, इस प्रकार अपनी बुद्धि से विरुद्ध का निराकरण कह कर अपनी कृपालुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि तू मेरी शरण आ, यदि लौकिक दृष्टि से सामर्थ्य नहीं देखी; इस कारण से नहीं आ सकता है तो मुझ से युद्ध कर, सर्वथा तूँ मुझे प्राप्त हो, मेरे पास आजा, जिससे निकट आने पर मेरी सायुज्य सिद्धि होगी । मैं यहां से आपके स्थान पर आने में असमर्थ हूँ, यह भी कृपा का कार्य है, जो स्वयं आकर उद्धार करो यदि यों न कर सको, तो मुझे कह दीजिये कि तुझे इतना सुख दूँगा, तब निश्चित होने से और सन्देह के अभाव से आपके पास आने का यत्न करूंगा ॥६॥

आभास—एतद्वाक्याद्भगवद्भक्तानां क्रोधे उत्पन्ने तस्य परलोकसिद्धिरपि न भवतीति तेषां तच्छ्रवणेन कौतुकरस एव जात इत्याह **कत्थनं तदुपाकर्ण्येति** ।

आभासार्थ— इसके वचनों से यदि भगवत् भक्तों को क्रोध उत्पन्न होगा तो उसकी परलोक सिद्धि भी न होगी, किन्तु भक्तों को क्रोध के स्थान पर इन वाक्यों के श्रवण से कौतुक रस ही उत्पन्न हुआ जिसका वर्णन 'कत्थनं तदुपाकर्ण्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते है—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**कत्थनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।**
उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥७॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि अल्प बुद्धि पौण्ड्रक की अपनी की हुई प्रशंसा सुनकर, सभा में स्थित उग्रसेन आदि सब सदस्य जोर से हँस पड़े ॥७॥

सुबोधिनी—कत्थनं स्वश्लाघाम् । पौण्ड्रकमिति नाम्ना तस्य हीनत्वमुक्तमेव । पुण्ड्रा हीनाः चण्डालविशेषाः, तद्भावादुत्पन्नः पौण्ड्रः, कुत्सितार्थे क प्रत्ययः, अधमस्वभावोत्पन्नेष्वप्यधम इति । तत्रापि न देह एव तस्य दुष्टः, किन्त्वन्तःकरणमपीति ज्ञापयितुमाह **अल्पमेधस** इति । **सभ्याः** सभार्हाः । उग्रसेनो राजा येषामिति धर्मविचारो निरूपितः । सर्व एव विचारकाः प्रमेयमत्यन्तं बाधितमिति उच्चकैर्जहसुः । **तदेति** विचारात्पूर्वमेव ॥७॥

व्याख्यार्थ— 'कत्थन' शब्द जो श्लोक में आया है जिसका अर्थ है 'अपनी प्रशंसा' अपनी प्रशंसा वह करता है जो हीन, अर्थात् नीच श्रेणी का होता है यह नीचपन उसके पौंड्रक नाम से प्रकट हो रहा है, 'पुण्ड्र' जाति हीन चाण्डाल विशेष है, वैसे भाव से उत्पन्न पौण्ड्र भी वैसे ही हैं, जिसमें फिर 'क' प्रत्यय जुड़ने से विशेष हीनता आगई है, अधम स्वभाव वालों में उत्पन्न भी अधम ही होता है, जिसमें भी इसकी केवल देह दुष्ट नहीं किन्तु अन्ताकरण भी वैसा ही है, यह दिखाने के लिये 'अल्पमेधसः' विशेषण दिया है, अर्थात् उसकी बुद्धि भी नीच जैसी हुई, सभ्य अर्थात् सभा में बैठने के योग्य जिनका राजा उग्रसेन था, जिससे दिखाया कि उस सभा में धर्म विचार ही होता था, वहां जो सब ही विचारक बैठे थे वे ये वाक्य सुन कर जोर से हँसने लगे, क्योंकि ऐसे शब्दों से प्रमेय बाधित होता है 'तदा' पद का भावार्थ विचार करने से पूर्व ही हँसने लग गये अर्थात् वे शब्द अविचारणीय ही थे । ७॥

श्लोक—**उवाच दूतं भगवान् परिहासकथामनु ।**
उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकत्थसे ॥८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार हँसी होने के अनन्तर भगवान् ने दूत को कहा कि हे मूढ! जिन चिन्हों के कारण तूँ यों बक रहा है, वे चिन्ह मैं छोड़ दूँगा ॥८॥

सुबोधिनी—ततः परिहासकथां कृतवन्तः । अज्ञा इव भूत्वा कीदृशोऽयं वासुदेवः, कथं भक्तपरायण इत्यादिप्रस्तोभनावाक्यैः । उपहासकथामुक्त्वा स्थितेषु तेषु भगवान् दूतमुवाच । भगवद्भावं प्राप्तो वदतीति तस्य वाक्याकरणे तस्याग्रे भगवत्त्वमपि न सेत्स्यतीति तद्वाक्यं यथाकथञ्चित्सत्यं करोति । **उत्स्रक्ष्ये मूढ चिह्नानीति** । यैर्धर्मैर्मौढ्यं प्रतीतं भवति, जीवत्वं वा प्राकृतत्वं वा । **मूढेति** सम्बोधनम् । लोकप्रतीत्या यैः कृत्वा त्वमेवं विकत्थसे, आत्मानमेव बहु मन्यसे, यद्यहमज्ञत्वादिधर्मप्राकट्यं न कुर्याम्, तदा तवैवं विकत्थनं न भवतीति । अत एव अस्मच्चिह्नानीति जीवधर्माणां ग्रहणं निरूपितम् । मद्धर्मपरित्यागद्वारा मामेव परित्यज्य मां शरणमेहि । शरणरूपं मां प्राप्नुहि । जीवाश्रयो भगवान् भवतीति जीवाश्रितश्च तिष्ठतीति । शिष्टमङ्गीकृतं न विरुद्धमिति ॥८॥

व्याख्यार्थ— दूत के शब्द श्रवण कर सभा में स्थित सभ्य जोर से हँसते हुवे अज्ञां (अज्ञानियों) की तरह यों कहने लगे, कि किस प्रकार का यह वासुदेव है ? कैसे भक्त परायण है ? इत्यादि उपहास के वाक्यों से ठट्ठा करने लगे जिनके हो जाने के अनन्तर भगवान् दूत को कहने लगे कि भगवद्भाव को प्राप्त हो कर यों वह कहता है, अतः उसका कहना न मानने से उसके पास भगवत्व भी न रहेगा, इसलिये थोड़ा सा सत्य करते हैं, जिन धर्मों से मूढ़ता प्रतीत होती है, वा जीवपन अथवा प्राकृतपन को त्याग दूँगा, हे मूढ़ः ! इस सम्बोधन से उसकी मूढ़ता प्रकट की है, लोक प्रतीति से जिन धर्मों के कारण तूँ यों बक रहा है, अपने को बड़ा मानता है, जो, मैं अज्ञत्व आदि धर्मों को प्रकट न करूं तो तुम यों बकवास न कर सको, इसलिये ही तू ने हमारे चिन्ह कहे हैं अर्थात् जीव धर्म ग्रहण किया है, यों कहा है, मेरे धर्मों के त्याग द्वारा मुझे छोड़ कर मुझे शरण दे, शरण रूप मुझे प्राप्त हो भगवान् ही जीव का आश्रय हैं और जीव का आश्रय बन कर ही रहते हैं, शिष्ट जो अङ्गीकार करते है वह विरुद्ध नहीं है ॥८॥

आभास—यदुक्तमहं शरणार्ह इति, तज्जीवानां नाश्रयत्वम, किन्तु ब्रह्मण एवेति प्रार्थितं च देयमिति शरणे निर्णयमाह **मुखं तदपिधायेति** ।

आभासार्थ— यह जो कहा, मैं शरण के योग्य हूँ, वह जीवों का आश्रय लेना नहीं है किन्तु ब्रह्म की ही शरण लेनी है, इसलिये जो प्रार्थना की है वह ही देने योग्य हैं, इसलिये 'मुखं तदपिधाय' श्लोक से शरण में निर्णय कहते है—

श्लोक— मुखं तदपिधायाज्ञ कङ्कगृध्रबकैर्वृतः ।
शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥९॥

श्लोकार्थ— कङ्क, गीध और बक पक्षियों से घिरा हुआ मुख ढ़क कर, मरा हुआ सोवेगा, तब कुत्तों के शरण जाएगा ॥९॥

सुबोधिनी— तत्रैव काशीनिकटे त्वं शुनां शरणं भविता । अहोरात्रसमसङ्ख्याताः तद्देवताः यमालये श्वानः तिष्ठन्तीति प्रसिद्धिः । जीवाश्च श्वान इत्यपरे । 'गतिसामान्यात्' । 'क्षुत्परीतो यथा दीन' इति वाक्यात् । इन्द्रियाणि वा कुत्सितरतानि । त एव हि तादृशं शरीरमाश्रयन्ति । कालावयवा जीवा इन्द्रियाणि वा । मुखपिधानकर्ता पुत्रादिर्भवति । सर्व एव मारणीया इति सुखस्यापिधानमेव । **अज्ञेति** । ज्ञानिनो ज्ञानेन देहो दग्धो भवतीति शेषप्रतिपत्तिः, यथाकथञ्चिदपि भवतीति अपिधानं 'तदा' न दूषणं भवेत् । अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं संबोधनम् । कङ्कास्तामसाः, गृध्रा राजसाः, बकाः सात्त्विका इति त्रिविधैरपि भक्षकैर्वेष्टितः । आधिभौतिकाद्यभिमानिन्यो देवताः सर्वाश्रातः परं न परिपालयिष्यन्तीति । शरणं हि तेषामनुद्वेजकं भवति, तज्जीवतो न भवतीति, हतः सन् यदा शयिष्यसे, तदा शुनां शरणं भवितेति संस्काराभावोऽप्युक्तः । देहस्य येयं प्रतिपत्तिरुक्ता, साऽस्मृता । अन्ते युद्धसमये तत्रासक्तो न भविष्यतीति बोधनार्था । तदैव तस्य मोक्षो भवेदिति मोक्षदात्रा तथैव वक्तव्यम् ॥९॥

व्याख्यार्थ - वहाँ ही काशी के समीप कुत्तों की शरण होगा दिन रात के समान संख्या वाले उसके देवता यमालय में कुत्ते रहते हैं यह प्रसिद्ध है, दूसरे कहते हैं कि वहाँ जीव कुत्ते कहे जाते हैं 'गति सामान्यात्' 'क्षुत्परीतो यथादीन' इस वाक्य से अथवा कुत्सित पदार्थ में रत इन्द्रियां, वे ही वैसा शरीर धारण करते है, जीव तथा इन्द्रियां काल के अवयव हैं मुख ढ़ांकने वाला पुत्र आदि होते हैं, सर्व ही मारण योग्य हैं, इसलिये मुख को ढांकना ही है, ज्ञानी का लिङ्ग देह ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाता है, शेष की प्रतिपत्ति जैसे तैसे भी होतो है, इसलिये तब न ढांकना दूषण नहीं है, अतः उसकी व्यावृत्ति के लिये 'अज्ञ' संबोधन दिया हैं, कङ्क पक्षी तामस हैं, गीध राजस हैं, बक सात्विक हैं यों तानों प्रकार के भी भक्षकों से वेष्टित होंगे आधिभौतिकादि अभिमानी सब देवताएं इसके बाद पालन नहीं करेंगी, उनका शरण दुःखदायी नहीं होता है, वह जीते हुए नहीं होता है अतः मर कर जब शयन करेगा तब कुत्तों की शरण जायगा इससे यह बताया कि तुम्हारा संस्कार भी न होगा, देह की जो यह प्रतिपत्ति है, वह स्मरण न रहेगी, अन्त में युद्ध के समय उसमें आसक्ति न होगी इसके बोध कराने के लिये यह कहा है, तब ही उसका मोक्ष होवे इसलिये मोक्षदाता को इस प्रकार ही कहना चाहिये ॥९॥

आभास—स दूतस्तथैवोक्तवानिति दूतो गुरुस्थाने जात इत्याह **इति दूत** इति ।

आभासार्थ—उस दूत ने अपने स्वामी पौण्ड्रक को जैसा भगवान् ने कहा, वैसा ही आकर कहा, जिससे वह गुरु के समान हुआ, यह वर्णन 'इति दूत' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इति दूतस्तदक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् ।
कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह ॥१०॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने जो इस प्रकार तिरस्कार के वचन कहे, वे सब दूत ने अपने स्वामी को कह सुनाए, श्रीकृष्ण भी रथ में बैठ काशी को पधारे ॥१०॥

सुबोधिनी— तद्भगवतोक्तमाक्षेपं स्वामिने सपोषक इति तद्धितार्थं सर्वमेवाहरत्, नत्वन्यथाभावं न्यूनं वा कृतवानित्यर्थः । वाक्यं प्रेषयित्वा स्वयमपि प्रस्थित इत्याह **कृष्णोऽपि रथमास्थाये**ति । यद्यपि भगवान् तत्रैव प्रादुर्भूतः तस्य मुक्तिं दातुं शक्तः, तत्रापि कृष्णः फलरूपः भक्तकृपालुर्वा । सोऽप्यभेदमार्गेण भक्तो भवतीति, तत्स्त्रीणां दुःखं भवतीति, यद्यपि भगवता न गन्तव्यम्, तथापि रथमास्थाय रथस्थितः सुस्थो भक्तकार्यं करोतीति काशीमुपजगाम । तामसस्थाने भगवदाविर्भावः सहसा न भवतीति स्वयमपि काश्यां न प्रविष्टः, अन्यथा काशीत्वमेव न स्यात् । अत एव उप समीप एव जगाम ॥१०॥

व्याख्यार्थ – भगवान् के कहे हुए तिरस्कार के सब वचन दूत ने स्वामि को उसके हित के लिये कह सुनाये, क्योंकि स्वामी दूत का पोषण करने वाला है, अतः दूसरी तरह का भाव वा किसी प्रकार की न्यूनता भी नहीं की । श्रीकृष्णचन्द्र इस प्रकार दूत द्वारा संदेश भेज कर आप भी रथ में बैठ काशी को पधारे, यद्यपि भगवान् होने से, वहाँ विराजते हुए भी पौण्ड्रक के हृदय में प्रकट

होकर उस की मुक्ति करने में समर्थ थे इसलिये जाना उचित नहीं भासता है, तो भी पधारे, जिसका कारण आप कृष्ण होने से फलरूप तथा भक्तों पर कृपा करने वाले हैं अतः भक्तों के लिये जाना ही उचित समझ पधारे, वैसा करने से वह भी अभेद मार्ग से भक्त होता जिससे केवल मार्ग का भेद होता भगवत्प्राति में भेद नहीं होता, किन्तु उसकी स्त्रियों को फलरूप कृष्ण के दर्शन न होने से दुःख होता अतः उनको भी दुःख न हो, इस प्रकार सर्व कार्य सुखपूर्वक हो, इसलिये रथ में बैठ सुस्थ हो भक्त कार्य करने के लिये काशी के समीप पधारे, किन्तु काशी में नहीं पधारे क्योंकि काशी तामस स्थान होने से वहां भगवान् का प्राकट्य सहसा नहीं हो सकता है, अतः स्वयं अपनी इच्छा से काशी में प्रवेश नहीं किया यदि प्रवेश करते तो काशीत्व न रहता, इसलिये काशी के समीप ही पधारे ॥१०।

आभास—सोऽपि ग्रामाद्बहिर्भगवन्तं द्रष्टुमागत इत्याह **पौण्ड्रकोऽपीति** ।

आसाभार्थ— 'पोण्ड्रकोऽपि' श्लोक से कहते हैं कि वह भी ग्राम से बाहर भगवान् को देखने आया—

श्लोक—पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ।
अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद्द्रुतम् ॥११॥

श्लोकार्थ—महारथ पौण्ड्रक भी उनका उद्योग देखकर दो अक्षौहिणी सेना लेकर नगर से शीघ्र बाहर आ गए ॥११॥

सुबोधिनी—अन्यथा तस्य काश्यां किं वा भवेदिति **तस्य** भगवत **उद्योगमे**तावद्दूरं समागमनम् । **महारथ** इति युद्धाभिनिवेशात् शौर्यलक्षणः स्वधर्म उक्तः । अक्षौहिणीभ्यां सहितः, तस्य तावत् बलं सहजम् सर्वसामग्र्या सहितो भगवत्समीपं गच्छेदिति । द्रुतं पुरान्निश्चक्रामेति । भगवदिच्छया समागतः कालः तत्रैव शरीरं गृह्णीयादिति भयाद्द्रुतमेव पुरान्निर्गमनम् ॥११॥

व्याख्यार्थ – पौण्ड्रक काशी से शीघ्र दो अक्षौहिणी सेना लेकर बाहर इसलिये आया कि भगवान् का काशी में कोई कार्य नहीं है तो भी इतनी दूर से उद्यम कर आये हैं, तो मैं भी महारथ हूँ, मुझे भी युद्ध करने का साहस है इस प्रकार अपना शौर्य धर्म प्रकट करने के लिये बाहर आया। अक्षौहिणी के साथ आने से दिखाया, मेरा इतना सहज बल है, इसलिये सर्व सामग्री सहित भगवान् के समीप जाना चाहिये अतः शीघ्र नगर से निकले, भगवदिच्छा से आया हुआ काल वहां ही शरीर ग्रहण करे, यों भय से शीघ्र ही नगर से निकलना हुआ ॥११॥

आभास—काशिराजोऽपि तन्मित्रमिति तस्याप्यर्धगतिर्भविष्यतीति तस्याप्यागमनमाह ।

आभासार्थ— काशीराज भी इसका मित्र था अतः उसकी भी अर्ध गति होगी इसलिये वह भी आया—

श्लोक—तस्य काशिपतिर्मित्रं पार्ष्णिग्राहोऽन्वयान्नृप ।
अक्षौहिणीभिस्तिसृभिरपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! इसका मित्र काशीराज भी तीन अक्षौहिणी सेना ले, इसकी सहायता के लिए इसके पीछे आया, उस समय भगवान् ने पौण्ड्रक को देखा ॥१२॥

सुबोधिनी— **तस्य काशिपतिरिति** । मित्रत्वात्पार्ष्णिग्राहो भूत्वा अन्वयात् । **नृपेति** सम्बोधनम् । राजधर्मस्तथाविध इति ज्ञापयितुम् । तिसृभिरक्षौहिणीभिः सहित इति । तस्य तावदेव बलम् । तत्र भगवान् प्रथमं कृपया पौण्ड्रकं दृष्टवानित्याह **अपश्यत्पौण्ड्रकमिति** । भगवज्ज्ञानेन विद्धः स्वाभाविकं दोषं त्यजतीति । यतो हरिः । ॥१२॥

व्याख्यार्थ — काशीपति इसका मित्र था अतः इसकी सहायता के लिये हस्त में शस्त्र लेकर इसके पीछे आया 'नृप' संबोधन देकर यह भाव बताया है कि राज धर्म वैसा ही होता है, न केवल हस्त में शस्त्र लिया किन्तु तीन अक्षौहिणी भी साथ में ले आया था, उसके पास इतना ही बल था, वहाँ भगवान् ने कृपा कर पौण्ड्रक को देखा, भगवत्-ज्ञान से बींधे हुवे के सहज सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि वे हरि होने से पापों को हरण कर लेते हैं ॥१२॥

आभास—तथा कृपायां तस्य जीवत एव सारूप्यं हेतुत्वेन वर्णयति **शङ्खेति** ।

आभासार्थ— उसको जीते ही सारूप्य मिला जिसका कारण भगवत्कृपा है, उसका वर्णन 'शङ्खार्यसि' श्लोक में करते है—

श्लोक— शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गं श्रीवत्साद्युपलक्षितम् ।
बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—शङ्ख, चक्र, गदा और शार्ङ्गधनुष तथा श्रीवत्स आदि से उपलक्षित एवं कौस्तुभमणि को धारण किया हुआ वन मालाओं से सुशोभित था ॥१३॥

सुबोधिनी—कृत्रिमसहजभुजेषु शङ्खं अरिञ्चकं च सहजयोर्धृतवान् । गदाशार्ङ्गौ कृत्रिमयोः । श्रीवत्सादिचिह्नान्यपि कृतवान् । कौस्तुभसमानाकृतिमणिं कृत्वा कण्ठे स्थापितवान् । अन्ये तु श्रीवत्सकौस्तुभौ चर्म छित्वा तत्र स्थापितवानित्याहुः । तथा सत्यकृत्रिमता स्यादिति । **वनमालाविभूषितमिति** । यथैव नित्यनूतना भवति, तथा वनमालां सम्पादयतीति ॥१३॥

व्याख्यार्थ— पौण्ड्रक की चार भुजाओं में दो कृत्रिम थीं और दो स्वभाविक थीं, स्वभाविक दो भुजाओं में शङ्ख और चक्र धारण किये थे, और कृत्रिम (बनावटी) भुजाओं में गदा और शार्ङ्ग धनुष धारण किये थे, श्रीवत्स आदि चिन्ह भी धारण किये हुवे थे कौस्तुभ के समान आकृति वाली मणि कण्ठ में पहनी थी, अन्य कहते हैं, कि चर्म का छेदन कर वहां श्रीवत्स और कौस्तुभ धारण की थी, वैसे सच्ची कृत्रिमता होवे, जिस प्रकार नित्य नवीनता देखने में आवे वैसे वनमाला का सम्पादन करता था ॥१३॥

श्लोक—**कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् ।**
अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—पीले पीताम्बरधारी, गरुड़ध्वज, अमूल्य मुकुट तथा आभूषणधारी और जिसके मकराकृति कुण्डल झलक रहे थे ॥१४॥

सुबोधिनी—कौशेयवाससी पीते, भगवानिव वसानः समागतः, न तु कञ्चुकादिकं परिधाय, अन्यथा अन्ते वेषवशादन्यथा गतिः स्यात् । **गरुडध्वजमिति** । चित्रमयीं दारुमयीं वा गरुडमूर्तिं ध्वजे स्थापितवानिति । भजनीयोऽन्यो नास्तीति, धर्मश्चान्यो न कर्तव्य इति, भक्तैः सह स्वयमात्मानमेव पूजयतीति, अमूल्यमेव मौलिमाभरणानि च सम्पादितवान् । तथैव मकराकृतिकुण्डले । ध्यानेन भगवदावेशाच्च सर्व एव भगवद्धर्मास्तत्राविष्टा इति स्फुरत्पदेन सूचितम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ— पौण्ड्रक, भगवान् के सदृश पीले पट्ट के वस्त्र धारण कर आया, कञ्चुक आदि को धारण नहीं किया,यदि भगवत् समान वेश धारणकर न आते तो अन्त में अन्य प्रकार की गति हो जाय, अपनी ध्वजा में भी भगवत्सदृश गरुड़ का चिन्ह किया था वह मूर्ति चित्रित थी अथवा लकड़ी की थी अन्य भजन करने योग्य नहीं है यो, और अन्य धर्म नहीं करना चाहिये, भक्तों के साथ स्वयं अपने को ही पूजता है, मुकुट और आभरण भी अमूल्य धारण किये थे वैसे ही मकर समान आकृति वाले कुण्डल पहने थे, ध्यान करने से और भगवदावेश से भगवान् के सब धर्मों ने उसमें प्रवेश किया था, यह भाव स्फुरत् पद् से सूचित किया है ॥१४॥

आभास—तस्य रूपं दृष्ट्वा भगवान् संतुष्टः अभिनन्दनं कृतवानित्याह ।

आभासार्थ— उसका वैसा रूप देख कर भगवान् प्रसन्न हुवे और उसका अभिनन्दन करने लगे—

श्लोक— **दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिममास्थितम् ।**
यथा नटं रङ्गगतं विजहास भृशं हरिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—जैसे नट स्वांग बनाकर रङ्गभूमि में आया हो, वैसे अपने सम वेष बनाकर सामने खड़े उस कृत्रिम वासुदेव को देखकर, हरि जोर से हँस पड़े ॥१५॥

सुबोधिनी—दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिममास्थितमिति । परं कृत्रिमम् । आस्थितमिति तत्रासक्तिमहतीति वेषस्य न केनाप्यंशेन भङ्गः सूचितः । कृत्रिमत्वे गतिर्न भविष्यतीत्याशङ्क्य, रसोत्पादकत्वात् 'स्थाय्येव भावो रस' इति 'अधिकं तत्रानुप्रविष्ट'मिति निरूपयितुमाह यथा नटं रङ्गगतमिति । अतिहर्षात् भृशं विजहास । तस्य सर्वं भावं स्मृत्वा सर्वस्यैवाभिनन्दनं कृतवानित्यर्थः । यतो हरिः ॥१५॥

व्याख्यार्थ— सामने खड़े हुए उस कृत्रिम वासुदेव का अपने जैसा वेष देख कर, हरि अति हर्ष से बहुत हँसे 'आस्थित' पद का आशय प्रकट करते है कि इस वेष में उसको बहुत आसक्ति थी इस कारण वेष का कोई भी भाग भङ्ग नहीं था यह सूचन किया है, कृत्रिम था इस से गति न होगी ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि वह वेष कृत्रिम होते हुए भी रसोत्पादक था, रस स्थायी भाव ही होता है, विशेष उसमें उस रसरूप का प्रवेश हो गया था, यह निरूपण करने के लिये कहते हैं, कि जैसे नर स्वांग धारण कर रङ्गभूमि में आता है तो रस प्रकट करता है वैसे ही इसने भी रस प्रकट किया है इससे अति हर्षित हो बहुत हँसे, उसके सर्व भाव का स्मरण कर सर्व का ही अभिनन्दन किया, क्योंकि 'हरि' हैं ॥१५॥

आभास—ततः सेनायाः प्रथमं भगवत्यतिक्रममाह शूलैरिति ।

आभासार्थ—'शूलैर्गदादिभिः' श्लोक से कहते हैं कि सेना ने पहले भगवान् पर आक्रमण किया—

श्लोक—**शूलैर्गदाभिः परिघैः शक्त्यृष्टिप्रासतोमरैः ।**
असिभिः पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—अनन्तर सेना ने भगवान् पर त्रिशूल, गदा, परिघ, बरछी, ऋष्टि, पास, भाला, खड्ग, पट्टिश और बाणों से प्रहार किया ॥१६॥

सुबोधिनी—शिवप्राधान्यात् प्रथमं शूलग्रहणम् । दशभिरायुधैः सर्वप्रकारेण हरिं तूष्णीं स्थितं तान् गणयन्तं प्राहरन् ॥१६॥

व्याख्यार्थ— सेना में शिवजी का प्राधान्य था अतः प्रथम त्रिशूल ग्रहण किया, मौन धारण कर स्थित हरि पर उनको तुच्छ समझ कर दश आयुधों से प्रहार किया ॥१६॥

आभास—ततोऽक्लिष्टकर्मा भगवान् तां सेनां दूरीकृतवानित्याह कृष्णस्त्विति ।

आभासार्थ— पश्चात् अक्लिष्ट कर्मा भगवान् ने उसे सेना से दूर कर दिया यह वर्णन 'कृष्णस्तु' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयोर्बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत् ।**
गदासिचक्रेषुभिरार्दयद्भृशं यथा युगान्ते हुतभुक्पृथक्प्रजाः ॥१७॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र ने भी हाथी, घोड़े, रथ व प्यादों वाली चतुरङ्गिणी पौण्ड्रक और काशीराज की सेना को, जैसे प्रलय समय में अग्नि सब प्रजा का संहार करती है, वैसे गदा, खड्ग, चक्र और बाणों से नाश किया ॥१७॥

सुबोधिनी—तुशब्देन भगवतो जयमाह। तद्बलं प्रहरणकर्तृ। **पौण्ड्रककाशिराजयोरिति** सात्त्विकतामसभावापन्नयोरपि। राजसा एव हन्तव्या इति तयोरमारणमाशङ्क्य नामग्रहणम्। अङ्गानि गणयति **गजेति** तयोरराजसत्वात् सेनाव्यवस्था कदाचिन्न भवेदिति तदर्थं गणना। गदादिभिः चतुर्भिरेव आसमन्तादार्दयत् पीडितवान्। अस्त्रादिसहितैर्बाणैः कृत्वा दाहपर्यन्तं कृतवानिति वक्तुं दृष्टान्तमाह **यथा युगान्त** इति। प्रजानां क्षयो यस्मात् तादृशो हुतभुक् प्रलयाग्निः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द भगवान् की जय का सूचक है, सात्विक तामस भाव को प्राप्त पौण्ड्रक और काशीराज की प्रहार करने वाली जो सेना थी, उसके अङ्ग हाथी, रथ, घोड़े और प्यादे थे जिनसे वह चार अङ्गों वाली थी, राजस ही मारने योग्य हैं इसलिये उनको नहीं मारना चाहिये, ऐसी शङ्का से उनके नाम कहे हैं, पौण्ड्रक और काशीराज सात्विक तामस थे इसलिये उनसे कदाचित् सेना की व्यवस्था न हो सके अतः नाम देकर उनकी गणना की है अस्त्रादि सहित बाणों से दाह पर्यन्त कार्य किया, यह सिद्ध कर बताने के लिये दृष्टान्त देते है, 'यथा युगान्ते' जैसे युग के अन्त में प्रलयाग्नि प्रजा का सम्पूर्ण क्षय करती है वैसे ही भगवान् ने इसकी सेना का नाश किया ॥१७॥

आभास—ननु महादेवः कथं तत्साहाय्यं न कृतवानित्याशङ्क्याह **आयोधनमिति**।

आभासार्थ—महादेवजी ने उनकी सहायता क्यों न की? इसका उत्तर 'आयोधनं' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**आयोधनं तद्रथवाजिकुञ्जरद्विपत्खरोष्ट्रैररिणावखण्डितैः।**
बभौ चितं मोदवह मनस्विनामाक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—भगवान् के चक्र से टूक-टूक किए हुए रथ, घोड़े, हाथी, प्यादे, गधे और ऊँटों से व्याप्त हुई वह रण भूमि ढ़की सी हो गई और शोभा पाने लगी, जिससे शूरवीरों की आनन्द दायिनी हो महादेव के रमण की स्थली बन गई तथा साधारणों को भयङ्कर दीखने में आई ॥१८॥

सुबोधिनी—चक्रेण खण्डितै रथादिभिः कृत्वा आयोधन रणभूमिर्बभौ। तैश्चितं व्याप्तं प्रसारितम्। तर्हि तद्दृष्ट्वा मूलभूतौ पलायितौ भविष्यत इत्याशङ्क्याह **मोदवहं मनस्विनामिति**। मोदं वहतीति भूतपतेर्महादेवस्याक्रीडनं क्रीडास्थानं कृतवान्। तत्राप्युल्बणमत्युत्कटम्, येन भक्तोऽपि न स्मृतः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के चक्र से खण्डित रथ आदि से रंगभूमि सुशोभित होने लगी और उनसे व्याप्त थी, ऐसी रणभूमि को देख कर तो पौण्ड्रक और काशीराज तो भाग गये होंगे? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि ऐसी रणभूमि शूरवीर मनस्वियों को तो आनन्द देती है भगवान् ने भूमि को ऐसी बनाकर महादेवजी का क्रीड़ा-स्थान तैयार कर दिया ऐसा जबर्दस्त क्रीड़ा स्थान हो गया जिसमें खेलते हुए महादेव को, भक्त भी याद न रहा ॥१८॥

आभास—अथ पौण्ड्रकवधार्थमुद्यतः स्वोपदिष्टोर्थस्तेन विस्मृतो मा भवत्विति पुनः स्मारयति **अथाहेति** द्वाभ्याम्।

आभासार्थ—'अथाह' इन दो श्लोकों से पौण्ड्रक के वधार्थ तैयार हुए, भगवान् पौण्ड्रक को फिर दूत से कहलाया हुआ उपदेश याद दिलाते हैं।

श्लोक—**अथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भोभो पौण्ड्रक यद्दूवान्।**
दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते ॥१९॥
त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत्त्वयाज्ञ मृषा धृतम्।
व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् पौण्ड्रक को कहने लगे कि अरे रे पौण्ड्रक! दूत के मुख से जो तूँने मुझे कहलाया था, वे शस्त्र अब छोड़ता हूँ (तुझ पर फेंकता हूँ), हे मूर्ख! तूँने जो मेरा नाम झूठा धारण कर लिया, वह अभी छुड़ा दूँगा, यदि मैं युद्ध करना न चाहूँ तो तेरे शरण आऊँ, मैं तो युद्ध को चाहता हूँ, इसलिए आया हूँ ॥१९-२०॥

सुबोधिनी—शौरिरिति पितृपितामहनाम्ना भगवत उत्कर्षं **पौण्ड्रकेति** तस्यापकर्षं चाह **भो भो पौण्ड्रकेति**। तस्य सहजो दोषः भगवता कीर्तित इति तन्नाशो निरूपितः। यद्दूवान् दूतवाक्येन मामाह, तान्यस्त्राणि सहजानि ते तुभ्यं त्वदर्थं उत्सृजामि, यैस्त्वं सहजस्तादृशो भविष्यसि। मे अभिधानं वासुदेवेति यत्त्वया मृषा धृतम्, भगवद्भावात् पूर्वमेव बालकवाक्येन स्थापितम्, तत्त्याजयिष्ये। सहजं तु दास्यामीति। यदि संयुगे न हनिष्यामि, तदा निकटे समागत्य सायुज्यं दास्यामि। इदानीं युद्धार्थमेवागत इति सारूप्यमेव प्रयच्छामि। अयं दोषः दूतप्रेषणाज्ञातः, अन्यथा सायुज्यमेव भवेत्। यदि तूष्णीं तिष्ठेदित्यर्थः। अनेनैवमपि सूचितम्। इदानीमपि चरणे चेत्पतति, सायुज्यमेव दास्यामीति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—'शौरि' नाम, पितृ, पितामह का द्योतक है जिससे भगवान् का उत्कर्ष प्रकट किया है, पौण्ड्रक नाम से इसका अपकर्ष दिखाया गया है, भो, भो, पौण्ड्रक! कहने से भगवान् ने इसका सहज दोष वर्णन कर इसका नाश निरूपण किया है। भगवान् कहते हैं कि दूत द्वारा जो मुझे कहलाया था, वे सहज अस्त्र तेरे लिये अर्थात् तुझ पर छोड़ता हूँ, जिनसे तू जैसा सहज है वैसा बन

जायेगा, मेरा नाम जो वासुदेव है, वह तूँने अपना धर लिया है, अर्थात् अपने को वासुदेव प्रसिद्ध कर रखा है, वह भी भगवद्भाव से, प्रथम ही बालकों के कहने से किया है, वह अब छुड़ाऊँगा जो सहज है, वह दिला दूँगा,जो लड़ाई में मारूँगा नहीं तो निकट आकर सायुज्य का दान दूँगा, इस समय युद्ध के लिये आया हूँ इसलिये सारूप्य ही देता हूँ, यह दोष दूत भेजने से तूँने किया है, यदि दूत न भेजता तो सायुज्य ही मिलती, अर्थात् चुप रहता तो सायुज्य मुक्ति पाता, इससे यह भी सूचन कर दिया है अब भी यदि चरणों में पड़ो तो सायुज्य ही दूँगा ।।२०।।

आभास—तथाप्यनिवृत्तं भगवान्मारितवानित्याह इति क्षिप्त्वेति ।

आभासार्थ—यों कहने पर भी, वह शरण न आया अतः भगवान् ने मारडाला यह 'इति क्षिप्त्वा' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**इति क्षिप्त्वा सितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् ।**
शिरोऽवृश्चद्रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः ।।२१।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार तिरस्कार कर, तीक्ष्ण बाणों से पौण्ड्रक को विरथ कर, जैसे इन्द्र ने वज्र से पर्वत के पक्ष काट दिए, वैसे आपने चक्र से इसका सिर काट दिया ।।२१।।

सुबोधिनी—क्षेपो दोषस्मारणम्, सितैः तीक्ष्णैर्बाणैः अश्वान् हत्वा विरथीकृत्य चक्रेण शिरश्चिच्छेद । भक्तवधोऽनुचित इत्याशङ्क्य, परोपद्रवकारित्वात् मारितवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **वज्रेणेन्द्र** इति । यद्यपि 'विष्णुः पर्वतानामधिपतिः' इति तेषां पक्षच्छेदोऽनुचितः, तथापि लोकेत्युपद्रवकर्तृत्वाद्धननमिन्द्रद्वारा । पक्षावेव शिरःस्थानीयौ ।।२१।

व्याख्यार्थ—इस तरह उसको दोषों का स्मरण कराते हुए उसे अपमानित किया, अनन्तर तीखे बाणों से घोड़ों का नाश कर उसे बिना रथ वाला बना के, चक्र से शिर भी काटडाला; पौण्ड्रक भक्त था जिसका वध अनुचित था, इसका उत्तर देते हैं कि वह दूसरों को कष्ट देने वाला था इस कारण से मारा गया जिसमें दृष्टान्त देते हैं, जैसे विष्णु पर्वतों का स्वामी है, किन्तु वे पर्वत दूसरों के लिए उपद्रव कर्त्ता बन गये, तब इन्द्र रूप से उनके पक्षों को तोड़ डाला उनके पक्ष शिर के समान हैं ।।२१।।

आभास—सात्त्विकवधमुक्त्वा तामसवधमप्याह **तथा काशिपतेरिति** ।

आभासार्थ—सात्विक वध कह कर 'तथा काशिपतेः' श्लोक से तामस का वध कहते हैं ।

श्लोक—**तथा काशिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्त्रिभिः ।**
व्यपातयत्काशिपुर्यां पद्मकोशमिवानिलः ।।२२।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार काशी के राजा का सिर जैसे वायु कमल कोश को उड़ाता है, वैसे उड़ाया, उसको बाण पर चढ़ाकर काशी में फेंक दिया ।।२२।।

सुबोधिनी विरथीकृत्य तमप्याक्षिप्य । चक्रेण हतो मुक्तो भविष्यतीति, छिन्नमपि शिरश्चेद्भगवान् पश्येत् तथापि मुक्तो भवेदिति कालावयवभूतैः **पत्त्रिभिर्बाणैः** शिर उत्कृत्य काशिपुर्यां व्यपातयत् । साहाय्यं शरीरेणैव कृतमिति शरीरांशः तस्य मुक्तः कृतः । तस्य मध्ये पतनादिक्रमाशङ्क्य दृष्टान्तमाह **पद्मकोशमिवानिल** इति। अनेन व्याजेन भगवान् महादेवे तच्छिरःकमलपूजां कृतवानिति द्योतितम् । २२।।

व्याख्यार्थ—विरथी कर, उसको भी दोषों का स्मरण कराया, वैसे चक्र से मारा जाएगा और यदि कटा हुआ उसका शिर भगवान् देखेंगे तो मुक्त हो जायेगा, इसलिये काल के अवयव रूप बाणों से शिर काट कर और उनके ऊपर चढ़ा के काशीपुरी में गिराया, काशीराज ने पौण्ड्रक की सहायता शरीर से की थी, इसलिये शरीरांश[1] ही मुक्त किया उसका मध्य में गिरने की शङ्का का उत्तर देते हैं कि जैसे वायु से उडाया हुआ कमल कोश बीच में गिर पड़ता है, वैसे यह भी मध्य में गिरा, इस मिष से भगवान् ने इसके शिर रूप कमल से महादेव की पूजा की यह भावार्थ प्रकट किया है ।।२२।।

आभास—युद्धमुपसंहरन् भगवतो द्वारकागमनमाह **एवं मत्सरिणं हत्वेति** ।

आभासार्थ—युद्ध को पूर्ण करते हुए भगवान् द्वारका पधारने लगे जिसका वर्णन 'एवं मत्सरिणं हत्वा' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—**एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः ।**
द्वारकामाविशत्सिद्धैर्गीयमानकथामृतः ।।२३।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार जिसकी कीर्ति सिद्ध पुरुष गा रहे हैं, वैसे भगवान् मत्सरी पौण्ड्रक को सखा सहित मारकर द्वारका पधारे ।।२३।।

सुबोधिनी—भक्तस्यापि हनने मात्सर्यमेव हेतुः, काशिराजवधे तत्सखित्वं हेतुरिति । ततो भगवत्कृतं लोकशास्त्राविरुद्धमिति ज्ञापयितुं **सिद्धैर्गीयमानकथामृत** इत्युक्तम् । एवं सर्वदुःखहर्ता तेषां दुःखं दूरीकृत्य द्वारकामाविशत् ।।२३।।

व्याख्यार्थ—पौण्ड्रक भक्त था तो भी उसको मारा, जिसका कारण मात्सर्य हो था, वैसे ही काशीराज को मारा, जिसका कारण वह मत्सरी पौण्ड्रक का मित्र था, यह भगवान् का कार्य लोक शास्त्र विरुद्ध नहीं है, यह दिखाने के लिये कहते हैं कि सिद्ध पुरुष इस कथामृत का गान कर रहे हैं

१—शरीर से मस्तक पृथक् किया, शरीर पौण्ड्रक के पास, मस्तक काशी में फेंका

जिससे सिद्ध है कि भगवान् का यह कार्य लोक शास्त्र विरुद्ध नहीं है अतः सिद्ध पुरुष इसका गुण गान करते हैं, इस प्रकार सर्व दुःख हर्ता प्रभु उनका दुःख दूर कर द्वारका में प्रविष्ट हुए ॥२३॥

आभास—पौण्ड्रकस्य हननानन्तरं या गतिर्जाता तामाह **स नित्यमिति** ।

आभासार्थ—पौण्ड्रक के मरने के अनन्तर जैसी गति हुई उसका वर्णन 'स नित्यं' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—स नित्यं भगवद्ध्यानप्रध्वस्ताखिलबन्धनः ।
बिभ्राणश्च हरे रूपं स्वरूपं तन्मयोऽभवत् ॥२४॥

श्लोकार्थ—वह पौण्ड्रक नित्य भगवान् का ही ध्यान करता रहता था, जिससे उसके सर्व बन्धन नष्ट हो गए थे और भगवान् का रूप भी धारण किया था, अतः भगवत् स्वरूपमय हो गया ॥२४॥

सुबोधिनी—स तन्मयोऽभवत्, तेन व्याप्तोऽभवत् । आत्मनि परमात्मा आविष्टः तेनावेशी जातः । शरीरेन्द्रियप्राणान्तःकरणसद्भावे आधिदैविकानि शरीरादीनि तत्राविष्टानि, अन्यथा तु स्वतन्त्रावेशीव भगवद्गणो जातः, तत्र च भगवत इव तस्यापि लीला भविष्यतीति मुख्यः पक्षः । विष्णुदेवतानुरूपत्वे तु वैष्णवलोके तथात्वमिति शङ्खचक्रादिभावस्यैव प्राधान्यादिति केचित् । तस्य तथात्वे हेतुमाह । **नित्यं** भगवद्ध्यानेन प्रध्वस्तानि अविद्याकामकर्मादीनि मात्सर्यादीनि च पश्चादुत्पन्नानि उभयविधान्यपि बन्धनानि यस्य । अनेन देहान्तरोत्पादकं कर्म निवर्तितम् । भगवदावेशे हेतुमाह **बिभ्राणश्च हरे रूपमिति** । हरिः रूप्यते अनेनेति शङ्खचक्रादिभावसमुदायः । तं बहिर्बिभ्रत् । स्वरूपं तु मनसा बिभ्रत् । चक्रात्तत्क्रियादीनां सर्वेषामाधानमुक्तम् । एवं सर्वसामग्र्यां तन्मयत्वं युक्तमेव । पौण्ड्रकस्य गतिमुक्त्वा तेन सहागतस्य काशिराजस्यापि कथं सा न गतिरिति शङ्कां वारयितुं तदुत्पन्नानां तदीयानां सर्वेषामेव परमं दोषमाह यावदध्यायपरिसमाप्ति । अर्थात्तेऽपि निरुद्धाः, तीर्थमपि निरुद्धं भवतीति निरूपितम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—वह भगवन्मय हो गया, आर्थात् भगवान् से व्याप्त हो गया, उसकी आत्मा में परमात्मा ने प्रवेश किया, इससे आवेशी हुआ, शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण के होते ही उनमें अधिदैविक शरीरादि प्रविष्ट हो गये, यों न हो तो स्वतन्त्र आवेशी के समान भगवद्गण हुआ, और वहां भगवान् की तरह उसकी भी लीला होगी, यह मुख्य पक्ष है, विष्णु देवता के अनुरूप होने पर तो वैष्णव लोक में ही तथात्व (वैसा पन) होता है, इसलिये वहां शङ्ख, चक्र आदि भाव का ही प्राधान्य है, इस प्रकार कोई कहते हैं, उसके वैसेपन में हेतु कहते हैं, नित्य भगवान् के ही ध्यान करने से जिसके अविद्या काम कर्मादि, और पश्चात् उत्पन्न मात्सर्य आदि ये दोनों बन्धन नष्ट हो गये हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि, अन्य देह को उत्पन्न करने वाले कर्म नष्ट हो गये हैं जिससे इसको दूसरी देह धारण करनी न पड़ेगी, ऐसा भगवदावेश क्यों हुआ ? जिसका कारण बताते हैं कि हरि का शङ्ख,

चक्र, गदापद्म वाला रूप उसने धारण किया था जिससे भगवदावेश उसमें हो गया, इन आयुधों को तो उसने बाहर से धारण किया था किन्तु स्वरूप को तो मन से धारण कर लिया था 'च' शब्द से उसकी क्रिया आदि भी उसमें प्रविष्ट हो गई थी, इस प्रकार सर्व सामग्री सिद्ध हो जाने पर 'तन्मय' पन होना योग्य ही है । पौण्ड्रक की गति कहकर, उसके साथ आये हुए काशिराज को भी वैसी गति क्यों न हुई ? इस शङ्का को मिटाने के लिये उससे उत्पन्न सब के ही परम दोष, अध्याय समाप्ति पर्यन्त कहते हैं अर्थात् वे भी निरुद्ध हुए, तीर्थ भी निरुद्ध हुआ, यह निरूपण किया है ॥२४॥

श्लोक—शिरः पतितमालोक्य राजद्वारे सकुण्डलम् ।
किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशिश्यिरे जनाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—राजद्वार में गिरा हुआ कुण्डल सहित मस्तक देख, काशी के निवासी संशयग्रस्त होकर कहने लगे कि यह क्या वा यह किसका मुख है ? ॥२५॥

सुबोधिनी—यद्भगवता पत्त्रिभिः शिरश्छिन्नम्, तद्राजद्वारि पतितम्, तदालोक्य । राजत्वज्ञापनाय सकुण्डलमिति । मुखं रुधिराविलमिति कुण्डलेऽभिज्ञापके निरूपिते । आदौ पतनसमये किमिदं पतितमिति बुद्धिरुत्पन्ना, ततः शिर इति ज्ञात्वा कस्येति, ततो राज्ञो भविष्यतीति ज्ञातेऽपि वक्तुमयुक्तत्वात्संशिश्यिरे । संशयं प्राप्ताः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने बाणों से जो शिर धड़ से अलग किया था वह काशिराज द्वार पर जाके गिरा, वह देख कर काशी निवासी संशय ग्रस्त हो गये, वह राजा है यह जताने के लिये 'स कुण्डलम्' पद दिया है, वह शिर कुण्डल सहित था, कुण्डल राजा धारण करते हैं मुख तो रुधिर से लिप्त होने से पहचानना कठिन था, अतः कुण्डल पहचान कराने वाले कहे गिरने के समय, यह क्या गिरा ? ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई, बाद में यह है तो शिर किन्तु किसका है ? कुण्डल देखकर समझ गये कि राजा का होगा, यों समझ कर भी निश्चय से कह न सके, इस लिये कहा है कि काशी की जनता शङ्का शील हो गई ॥२५॥

आभास—ततोन्तरङ्गाः समागत्य निश्चयं चक्रुरित्याह **राज्ञः काशिपतेरिति** ।

आभासार्थ—पश्चात् अपने अन्तरङ्ग सम्बन्धी आये, जिन्होंने पहचान कर निश्चय किया कि 'काशीपति' राजा का शिर है जिसका वर्णन 'राज्ञः काशिपते' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—राज्ञः काशिपतेर्ज्ञात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः ।
पौराश्च हा हता राजन्नाथ नाथेति प्रारुदन् ॥२६॥

श्लोकार्थ—रानियाँ, पुत्र, बान्धव और सेवक आदि ने यह काशीपति राजा का सिर है, यह निश्चय किया, तब हे राजन् ! हे नाथ ! हाय हम मर गए, यों कह कर जोर से रोने लगे ॥२६॥

सुबोधिनी—महिष्यः स्त्रियः, बान्धवा गोत्रिणः, पौराः सेवकाः, चकारादन्येऽपि साधारणाः तथा वक्तुमनुचितमित्याशङ्क्य, तेषां तुल्यव्यसनत्वं निरूपयितुमाह **हा हता राजन्निति**। माहात्म्ये राजन्निति। स्नेहे नाथेति। यथा स्ववधे राजा बोध्यते, तद्वद्बोधयांचक्रुरित्यर्थः। चकारात्पितः स्वामिन्नित्याद्यपि। स्ववधे यथा क्लेशेन रोदनम्, तथा मुखतो वदन्त एव रोदनं कृतवन्तः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—'महिष्यः' रानियां, बान्धवा' गोत्र वाले, 'पौराः' सेवक 'च' पद से दूसरे भी, साधारणजन वैसा कहना अनुचित है,यह शङ्का कर उनका समान व्यसनपन कहा है 'हा हता राजन्' हे राजन् आप के जाने से हम मारे गये हैं, राजन् पद कहने से उसका माहात्म्य वर्णन किया, 'नाथ' पद से स्नेह प्रकट किया है, जैसे अपने वध पर राजा को सूचित किया जाता है वैसे सूचित करने लगे, 'च' शब्द से 'पित' 'स्वामिन्' हे पिता हे स्वामी आदि शब्द भी कह दिये, अपने वध होने पर जैसे क्लेश से रोना आता है, वैसे ही इस समय मुख से कहते हुए ही रोदन करने लगे ॥२६॥

आभास—ततः क्षत्रिय इति मानभङ्गार्थं भगवतैवं प्रदर्शितमिति वैरं सिसाधयिषुः विष्णोः समानौ ब्रह्मशिवौ ज्ञात्वा तयोराराधनार्थं प्रवृत्त इत्याह **सुदक्षिणस्तस्य सुत** इति।

आभासार्थ—पश्चात् वह[1] क्षत्रिय है, उसने समझा कि मानभङ्ग करने के लिये भगवान् ने इस प्रकार प्रदर्शन किया है, इस लिये, वैर लेने वाले विष्णु के ही समान ब्रह्मा व शिव हैं यो समझ उनकी आराधना के लिये प्रवृत्त हुआ, जिसका वर्णन 'सुदक्षिणस्तस्य सुतः' श्लोक में करते है।

श्लोक—सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः।
निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपचितिं पितुः ॥२७॥

श्लोकार्थ— उसका पुत्र 'सुदक्षिण' था, वह पिता की उत्तर क्रिया कर, पिता के हत्यारे को मार, पिता का वैर लूँगा तथा पितृ ऋण से उऋण हो जाऊँगा ॥२७॥

सुबोधिनी—ब्रह्ममहादेवौ पितृहन्ता तस्य सहजो देहादिदोष इति तद्वधार्थं प्रयत्नं करोतीति तूष्णीं स्थितौ। जातश्चार्थस्तथैव। बहुदक्षिणयज्ञादुत्पन्नः। **सुदक्षिण** इति वैदिकप्रकारे तस्य श्रद्धा, अन्यथा राज्ञामनुवृत्तिमेव लौकिकीं कुर्यात्। संस्थाविधिः पारलौकिकी क्रिया। पितृत्वात्तदावश्यकम्। ततोऽपि क्षत्रियो न निष्कृतो भवतीति पितृहन्तारं स्वादृष्टशरीरादिकं हत्वैव अपचितिं यास्यामीति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—पिता के मारने वाला, पिता का ही सहज देहादि दोष है; इसलिये उसको मारने के लिये सुदक्षिण प्रयत्न करता हैं, जिस कारण से ब्रह्मा महादेव मौन कर

१—सुदक्षिण, काशिराज का पुत्र,

स्थित हैं, वैसे ही अर्थ[1] सिद्ध हुआ, अर्थात् सुदक्षिण मारा गया, यह सुदक्षिण जिस यज्ञ में बहुत दक्षिणा दी गई थी उस यज्ञ से उत्पन्न हुआ है जिससे इसका नाम सुदक्षिण है और इसकी वैदिक प्रकार की क्रिया में श्रद्धा है, यदि ऐसा न हो तो जैसे राजा लोग वैर लेने के लिये लौकिक क्रिया अर्थात् युद्ध करते हैं वैसे यह भी करता था किन्तु सुदक्षिण होने के कारण वैदिक प्रकार में श्रद्धा होने से यों नहीं किया, पिता की उत्तर क्रिया की, कारण कि पुत्र को यों करना आवश्यक है काशी पति इसका पिता था जिससे प्रथम उत्तर क्रिया की, केवल उत्तर क्रिया करने से क्षत्रिय इस प्रकार मरे हुए पिता के ऋण से उऋण नहीं होता है, इसलिये उसने निश्चय किया कि पिता के हन्ता, अपने अदृष्ट शरीरादि को मारकर ही उऋण बनूंगा तथा पिता का वैर लिया यों समझूंगा ॥२७॥

आभास—स्वबुद्ध्यैं विचारितवानित्याह **इत्यात्मनाभिसंधायेति**।

आभासार्थ—'इत्यात्मनाभिसंधाय' श्लोक में अपने विचारों का वर्णन करते है।

श्लोक—इत्यात्मनाभिसंधाय सोपाध्यायो महेश्वरम्।
सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥२८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार मन में निश्चय कर ब्राह्मण को साथ में लेकर, चित्त एकाग्र कर महादेव की पूजा करने लगा ॥२८॥

सुबोधिनी—सोपाध्यायो ब्राह्मणसहितः। **महेश्वरमिति**। ब्राह्मणादपि महादेवं महान्तं मन्यते। कदाचिद्ब्राह्मणाः, ब्रह्मण्यो भगवानिति पक्षपातं कुर्युरिति। **परमेण समाधिनेति**। योगेन महादेवस्तुष्यतीति। परमः साक्षान्महादेवप्रीतिजनकः। समाधिः चित्तैकाग्र्यम्, तेन तुष्यतीति शैवतन्त्रसिद्धत्वात्तथा कृतवान् ॥२८॥

व्याख्यार्थ - पूजा कराने वाला ब्राह्मण साथ में ले महादेव की पूजा करने लगा, ब्राह्मण (ब्रह्मा) से भी महादेव को विशेष मानता है कदाचित् ब्राह्मण (ब्रह्मा) भी उत्तम हैं, किन्तु भगवान् ब्रह्मण्य होने से उसका पक्षपात करे, इसलिये महादेव का ही अर्चन किया, परम समाधि से अर्थात् योग द्वारा पूजन किया, क्योंकि महादेव योग से प्रसन्न होता है, परम शब्द का भावार्थ है कि इस प्रकार की समाधि से साक्षात् महादेव प्रीति जनक है 'समाधि का आशय चित्त की एकाग्रता है, यह विषय शैव तन्त्र से सिद्ध होने से वैसे ही किया। २८॥

आभास—ततः प्रीतो महादेवः। ननु भगवत्सान्निध्य एव समाधिः फलसाधक इत्याशङ्क्याह **अविमुक्त** इति।

१—अर्थ-मनोरथ. अन्तःकरण भाव

आभासार्थ—यों करने से महादेवजी प्रसन्न हुवे, समाधि तो भगवान् के सान्निध्य में ही फल दायिनी होती है तो यह सान्निध्य के बिना फलीभूत कैसे हुई इस शङ्का का 'प्रीतोऽविमुक्ते' श्लोक में निराकरण करते हैं।

श्लोक—**प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै वरमदाद्विभुः।**
पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमीप्सितम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—अविमुक्त क्षेत्र में काशी विश्वनाथ ने प्रसन्न होकर वर दिया, उसने जिससे पिता के हन्ता का वध हो, ऐसा इच्छित वर पाया ॥२९॥

सुबोधिनी—तत्र हि पूर्वं महादेवः पञ्चमं शिरो ब्रह्मणश्छित्वा, ब्रह्महत्यया व्याप्तः, नारायणाश्रमं गत्वा, पृष्टो बदरीनाथः, कथं ब्रह्मवधाद्विमोक इति, तदाह भगवान्, स्वस्थानं गच्छ, यत्र चास्य कपालस्य पतनम्, ततश्चाव्यावृत्तिः कर्तव्येति। ततः काश्यामागतस्य तथा जातमिति, ततःप्रभृति महादेवेन न तद्विमुक्तम्। अतो नित्यसान्निध्यात् महादेवस्तत्र प्रसन्नः, स च भगवान् भवति। तामसकल्पेषु तद्रूप एव भगवानिति। यत उद्भवरूपः। अतस्तस्मै वरं दत्तवान्। वरं ब्रूहि, दास्यामीत्युक्तवानित्यर्थः। ततः स्वाभिलषितमाह **पितृहन्तुरिति**। ननु कथमस्य वरत्वम्, दुःखाभावसुखरूपत्वाभावात्, तत्राह **ईप्सितमिति**। न हि वरो नाम कश्चित्रियतोऽस्ति। य एव कश्चन मनस्यभिलषितो भवति, स एव वर इति ॥२९॥

व्याख्यार्थ—पूर्व समय में, महादेव ने ब्रह्मा का पांचवाँ शिर काटा था, जिससे महादेव को ब्रह्महत्या लगी थी इस हत्या के निवारणार्थ नारायणाश्रम में जाकर बदरीनाथ से पूछा कि यह ब्रह्महत्या कैसे मिटेगी ? तब नारायण भगवान् ने कहा कि अपने स्थान पर जाके रहो, जहां यह कमल गिरेगा वहां से बाहर न निकलना, पश्चात् महादेव काशी में आये, वैसे ही हुआ, उस दिन से महादेव ने उस स्थान को नहीं छोड़ा है अर्थात् काशी का त्याग नहीं किया जिससे इसको 'अविमुक्त' क्षेत्र कहा जाता हैं, अतः वहाँ नित्य सान्निध्य होने से ही महादेव प्रसन्न हुवे और वह भगवान् है, तामस कल्पों में वह ही भगवान् है क्योंकि उद्भवरूप हैं अतः उसको वर दिया अर्थात् कहा कि वर मांग, मैं दूंगा, इन वचनों को सुनकर उसने, जिससे मेरे पिता के हन्ता का वध हो ऐसा उपाय करो, इस प्रकार का वर मांगा, जो वर महादेव ने दिया, जिस वर से दुःख का अभाव नहीं और सुख की प्राप्ति नहीं वह वर, वर कैसे समझा जावे ? इस शङ्का का निवारण 'ईप्सित' पद से करते हैं कि उसको ऐसा ही चाहिये था 'वर से कोई निश्चित पदार्थ नहीं मिलता है, किन्तु सेवक जो कुछ अपनी इच्छा से चाहता है वह उसकी इच्छानुसार दिया जाता है, वह ही 'वर' है ॥२९॥

आभास—तदा महादेवः उभयथाप्यनिष्टमिति ज्ञात्वा, भक्तहितार्थं व्याजेन साधनमुपदिशति अन्यथा न निवृत्तो भवतीति। शिववाक्यमाह **त्वं दक्षिणाग्निं परिचरेति**।

आभासार्थ—तब महादेवजी ने दोनों तरह अनिष्ट समझ, भक्त के हित के लिये, बहाने से

साधन का उपदेश दिया, नहीं तो निवृत्त न होता 'दक्षिणाग्नि' श्लोक में शिव ने जो कहा वह कहता है।

श्लोक—**दक्षिणाग्निं परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजम्।**
अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः ॥३०॥
साधयिष्यति सङ्कल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः।

श्लोकार्थ—महादेवजी ने सुदक्षिण को कहा कि तूँ ब्राह्मणों के साथ ऋत्विज के समान दक्षिणाग्नि की अभिचार विधि से पूजन कर, वह प्रमथों के सहित तेरा मनोरथ पूर्ण करेगा, यदि वह प्रयोग अब्रह्मण्य पर किया जाएगा, तो पूर्ण होगा ॥३०½॥

सुबोधिनी—'अग्नये रुद्रवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदभिचरन् एषा वास्य घोरा तनूर्यद्रुद्रस्मा एवैनमावृश्चति ता जगतिमार्च्छती'ति श्रुतेः। दक्षिणाग्नावेवाभिचारहोमः। अत आह **त्वं दक्षिणाग्निं परिचरेति**। तत्राप्येकाकिना न कर्तव्यमिति **ब्राह्मणैः सममित्युक्तम्**। ऋत्विजां मध्ये ऋत्विजां सम्बन्धी वा। तेन चातुर्होत्रविधानेन कर्तव्यमिति, तत्राप्यभिचारविधानेन, इष्टिप्रकृतिकश्चेत्, न शरमयादि। पशुप्रकृतिकत्वे तु तूपरः। पशुः स्फ्यो यूपः शरमयं बर्हिः वैभीतिक इध्मः। अत्र तु पुरोडाश एव। यतोऽग्निरेव देवः। स च प्रमथैर्वृतः। अतो रुद्रवानग्निः। अभिचारसामान्यात् शरमयादिर्वा। ततो यद्भविष्यति, तदाह **स चाग्निरिति**। तव कः प्रसाद इति चेत्। अग्निरपि प्रसन्नो मत्कृपया, अन्योऽपि प्रसाद इति वक्तुं प्रमथैर्भूतगणैर्वृत इत्युक्तम्। ततस्ते सङ्कल्पं साधयिष्यति। यदि अब्रह्मण्ये प्रयोजितो भविष्यति, अन्यथा विपरीतो भूत्वा त्वामेव भक्षयिष्यतीति भावः। 'तस्मादग्निचिह्नाभिचरितवे प्रत्यगेनमभिचारस्तृणुत' इति श्रुतेः। सुदक्षिणास्तु भगवन्तं ब्रह्मण्यं न जानाति। चकारात्तदङ्गदेवता अपि कार्यं करिष्यन्तीति सूचितम् ॥३०½॥

व्याख्यार्थ—'अग्नये रुद्रवते' श्रुति के अनुसार दक्षिणाग्नि में ही अभिचार होम किया जाता है, इसलिये महादेवजी ने कहा है कि दक्षिणाग्नि की परिचर्या कर, वह भी अकेले नहीं करनी, किन्तु ब्राह्मणों के साथ करनी। ऋत्विक् ब्राह्मणों के मध्य में वा उनका सम्बन्धी हो कर करनी, अर्थात् चातुर्होत्र विधि से करनी चाहिये यों कहा, उसमें भी अभिचार विधान से करनी, यदि इष्टि प्रकृतिक हो तो शरमयादि विधि से नहीं करनी पशु प्रकृतिक होने पर तो, 'तू पर' करता, जैसे कि कहा है, 'पशुः स्फ्यो यूपः शरमयं बर्हिर्वैभीतिक इध्मः' यहां तो 'पुरोडाश' ही है, क्योंकि यहाँ अग्नि ही देव है और वह प्रमथों से घिरा हुवा है अतः रुद्रवान् ही अग्नि है, अथवा अभिचार की समानता से शरमयादि है,उससे जो होगा वह कहते हैं कि वह तो अग्नि है,जो करना है वह करेगो आपकी कृपा कौनसी हुई ? इस पर कहते हैं कि मेरी कृपा से ही अग्नि देव प्रसन्न होगा इसके सिवाय दूसरी कृपा यह है, कि वह अग्नि मेरे भूतगणों से घिरी हुई है, उनके द्वारा ही तेरा सङ्कल्प सिद्ध करेगो, यदि वह अब्रह्मण्य पर काम में लायेगा तो लाभ होगा, नहीं तो विपरीत हो कर तेरा ही भक्षण होगा, यों

'तस्मादग्निचिन्हाभिचरित' श्रुति में कहा है, सुदक्षिण तो भगवान् को ब्रह्मण्य है यों नहीं जानता है, 'च' पद से वह जताया है कि उसके जो अङ्ग देवता हैं वे भी कार्य करेंगे ॥३०॥

आभास—एवं महादेवेनाज्ञप्तस्तथैव चक्रे, परमुद्देश्यो न तदुक्त इति ज्ञापयितुमाह **कृष्णायाभिचरन्निति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार महादेव से आज्ञा प्राप्त कर वैसे ही करने लगा किन्तु उद्देश्य महादेव का कहा हुआ तथा, यह बताने के लिये कहते हैं कि वह ब्रह्मण्य कृष्ण पर करने लगा ।

श्लोक—**इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् कुधीः ॥३१॥**

श्लोकार्थ—महादेवजी ने इस प्रकार आज्ञा की, किन्तु कुबुद्धि सुदक्षिण वह अभिचार का महादेवोपदिष्ट प्रयोग कृष्ण के ऊपर करने लगा ॥३१॥

सुबोधिनी—कृष्णो ब्राह्मणानां फलरूपः, ब्राह्मणहितश्च । अतः कुधीः ॥३१॥

व्याख्यार्थ श्रीकृष्ण ब्राह्मणों के फल रूप हैं और ब्राह्मणों के हितकारी हैं, ऐसे ब्रह्मण श्री-कृष्ण पर सुदक्षिण अभिचार करने लगा, ऐसा क्यों किया ? इस पर कहते हैं कि 'कुधीः' कुबुद्धि है इस कारण से यों किया ॥३१॥

आभास—उत्पादने वैगुण्याभावात् अग्निरुत्थित इत्याह **अग्निरुत्थितः कुण्डादिति ।**

आभासार्थ—उत्पादन में विगुणता के अभाव से अग्नि उत्पन्न हुई, यों 'अग्निरुत्थितः' श्लोक में कहते है ।

श्लोक—**ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानतिभीषणः ।**
तप्ताम्रशिखाश्मश्रुरङ्गारोद्गारिलोचनः ॥३२॥

श्लोकार्थ—तब कुण्ड में से अतिभयानक मूर्तिमान् अग्नि निकली, जिसके नये ताँबे के समान शिखा, दाढ़ी और मूँछ हैं, जिसके नेत्रों में से अङ्गारे बरस रहे हैं ॥३२॥

सुबोधिनी—दक्षिणाग्निकुण्डात् । ज्वाला-रूपतां वारयति **मूर्तिमानिति** । प्रसन्नदेवतारूपतां वारयति **अतिभीषण** इति । मृत्युरूपतां वक्तुं तं वर्णयति **तप्ताम्रेति** द्वयेन । तप्ताम्रसदृशानि श्मश्रूणि यस्य । अङ्गारानेवोद्गिरन्ति लोचनानि यस्य । यथा कालीयादेः । अङ्गारोद्गारि-लोचनः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—दक्षिणाग्नि कुण्ड में से जो अग्नि निकली वह ज्वालारूप नहीं थी अतः 'मूर्त्तिमान्' पद दिया है, अर्थात् स्वरूप धारण कर प्रकट हुई, अग्निदेव प्रसन्न होने से स्वरूप धारण कर उद्भूत हुए होंगे ? इसकी प्रसन्नता का निवारण करने के लिये कहा है कि अति भयानक रूपधारी प्रकट होने से प्रसन्नता का अभाव प्रकट किया है मृत्युरूपता[1] का वर्णन करने के लिये दो विशेषण दिये हैं १-तपे हुए तांबे के समान शिखा, दाढ़ी और मूछ वाली और दूसरा जिसके आँखों से कालीयादि की भाँति अंगार बरस रहें हैं ॥३२॥

श्लोक—**दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया ।**
आलिहन्सृक्किणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिख ज्वलन् ॥३३॥

श्लोकार्थ—दाढ़ें और उग्र भृकुटि दण्ड से बिकराल मुखवाली वह अग्नि, अपनी जीभ से गलफरों को चाटती थी, नग्न होकर देदीप्यमान त्रिशूल को घुमा रही थी ॥३३॥

सुबोधिनी—दंष्ट्रया उग्रः, भ्रुकुटी च दण्ड-रूपा, एताभ्यां स्वरूपतोऽपि कठोरमास्यं यस्य । **स्वजिह्वया सृक्किणी आलिहन्निति** कार्याभिनिवेशो निरूपितः । **नग्न** इति स्वदेहमपि न जानातीत्यु-क्तम् । तेनाविचार्यैव क्रूरं करिष्यतीति । साधन-मपि तथाविधमाह **विधुन्वंस्त्रिशिखमिति** । **ज्वल-न्निति** क्रोधादिना ॥३३॥

व्याख्यार्थ—दाढ़ों से उग्र, भृकुटी दण्डरूप थी, इन दोनों से यह भान होता था कि स्वरूप से भी इसका मुख कठोर है, अपनी जिह्वा से गलफरों को चाटने से यह जताता था कि मेरा अपने कार्य करने में अभिनिवेश है 'नग्न' पद से जताया कि अपनी देह का भी इसको भान नहीं है, जिसको अपनी देह का भान नहीं है वह बिना विचार के ही क्रूर कर्म करेगी, जिसके पास साधन भी इसी प्रकार का है, त्रिशूल घुमा रही थी, वह त्रिशूल क्रोध आदि से चमक रहा था ॥३३॥

आभास—अग्नित्वात् स्वभावतोऽपि गतिसामर्थ्यार्थमाह **पद्भ्यां तालप्रमाणा-भ्यामिति ।**

आसाभार्थ—अग्नि होने से स्वभाव से भी गति सामर्थ्य उसमें होती है,जिसका वर्णन 'पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्नवनीतलम् ।**
सोऽभ्यधावद्वृतो भूतैर्द्वारकां प्रदहन् दिशः ॥३४॥

१—संस्कृत सुबोधिनी के पुस्तक में यहां टीप्पणी में लिखा है कि 'मृत्युरूप तां वारयति' तप्तता।म्रेति पाठः इस पाठ से अर्थ और भाव बदलता है, अतः विचारणीय है-अनुवादक

श्लोकार्थ—ताल जितने लम्बे पाँवों से पृथ्वी तल को कम्पाता हुआ, भूतगणों से घिरा हुआ, दिशाओं को जलाता हुआ द्वारका के सामने दौड़ा ॥३४॥

सुबोधिनी—अग्रे कार्यं भविष्यतीति ज्ञापयितुमिदानीं तस्य महत्सामर्थ्यमाह **कम्पयन्नवनीतलमिति**। तस्योद्योगमाह **सोऽभ्यधावदिति**। भूतैः प्रमथगणैर्वृतः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—आगे कार्य होगा यह जताने के लिये, उसका महान् सामर्थ्य कहते हैं—**कम्पयन्** अवनीतलं' पृथ्वी तल को कम्पाता था, उसके उद्यम का वर्णन करते हैं कि प्रथम गण भूतों से घिरा हुआ द्वारका के सामने दौड़ता था ॥३४॥

आभास—ततो द्वारकायामपि तद्दर्शनेन भयं जातमित्याह **तमाभिचारदहनमिति**।

आभासार्थ—उसके देखने से द्वारका को भी भय हुआ, जिसका वर्णन 'तमाभिचारदहनं' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः।**
विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे मृगा यथा ॥३५॥

श्लोकार्थ—उस अभिचार की अग्नि को आती देख सब द्वारकावासी जैसे वन में आग लगने पर पशु डरते हैं, वैसे ही ये भी डरने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी—यतो दिशः प्रदहन् समागतः। अतस्तं दृष्ट्वा उत्पत्तिविचारेणापि आभिचारदहन इति। तत्राप्यायान्तम्। **द्वारकौकस** इति पूर्वमेव स्थानं त्यक्त्वा यथाकथञ्चिदत्र स्थितम्। अत्रापि भये किं कर्तव्यमिति विलोक्यैव तत्रसुः। अहन्यमाना अपि। तत्र बलिष्ठाः शूरा न तथा भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **सर्व** इति। उपजीव्यनाशात् प्रतिक्रियायामसामर्थ्यात् महतोऽपि भयमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह **वनदाहे यथा मृगा** इति। ॥३५॥

व्याख्यार्थ—डरने का कारण बताते है, कि वह अग्नि दिशाओं को जलाती हुई आ रही थी, अतः उसको देख डरे और इसकी उत्पत्ति का विचार किया तो यह 'अभिचार' की अग्नि थी तथा वह यहां आरही है। द्वारकावासी विचारने लगे कि पहले ही अपना स्थान छोड़ कर जैसे तैसे यहां स्थित हुवे हैं, यदि यह आकर जला देगी तो हम कहां जायेंगे ? अब क्या करना चाहिये यों विचार करते थे इतने में वह पास में आ गई, उसको देखते ही डर गये, मारे नहीं गये थे तो भी डर गये, वे बलिष्ठ और शूरवीर थे तो क्यों डरे ? वीर और बलिष्ठ तो कभी डरते नहीं फिर भी सब डर गये, कारण जो द्वारका हमारी रक्षा कर रही है, यदि वह जल गई तो, हमारे लिये आपत्ति हो जायेगी। आप डरते क्यों हो ? उसकी रक्षा कर लेना, इस पर कहते हैं कि प्रतिक्रिया करने की हम लोगों में सामर्थ्य नहीं है, जैसे बन में आग लगती है तो पशु डर जात हैं, क्योंकि वे उस वन की आग को बुझाने में असमर्थ होते हैं वैसे ही हम भी हैं ॥३५॥

आभास—अन्यत्रालब्धशरणाः निश्चिन्तं भगवन्तं विज्ञापयामासुरित्याह **अक्षैः सभायां क्रीडन्तमिति**।

आभासार्थ—दूसरा कोई रक्षक देखने में नहीं आया इसलिये निश्चित् भगवान् की शरण जाकर प्रार्थना करने लगे उस समय भगवान् सभा में पासों से खेल रहे थे।

श्लोक—**अक्षैः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं भयातुराः।**
पाहि पाहि त्रिलोकेश वह्नेः प्रदहतः पुरम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—वे सब भय से आतुर हो गए, अतः सभा में पासों से खेलते हुए भगवान् के समीप जाकर प्रार्थना करने लगे कि हे त्रिलोकीनाथ ! पुरी को जलाने-वाली इस अग्नि से रक्षा करो ॥३६॥

सुबोधिनी—अनेनान्तर्बहिः चिन्ताभावो निरूपितः। सभ्याधानार्थं क्रीडयतीति ज्ञापयितुं **सभायामित्युक्तम्**। यत उत्थानं न सम्भवति। **भगवन्तमिति** सर्वथा समर्थम्। **भयातुरा** इति न तेषामवसरानवसरपरिज्ञानमिति सूचितम्। भीतानां वाक्यमाह **पाहि पाहि** इति। **त्राहि** त्राहीति क्वचित्पाठः। तत्रापि परस्मैपदं छान्दसमिति केचित्। उभयपदो धातुरित्यपरे। **त्रिलोकेशेति**। महादेवादिनिराकरणेऽपि सामर्थ्यं सूचितम्। पुर प्रदहतो वह्नेः सकाशात् पालयेति, यथा पुरदाहो न भवति, तथा यत्नं कुर्विति ।३६।

व्याख्यार्थ—भगवान् उस समय पासों से सभा में खेल रहे थे, इससे यह जताया, कि प्रभु अन्दर और बाहर निश्चिन्त होने से आनन्द मग्न हैं, भगवान् सभा में खेलने से सभा के सभ्य हैं, जिस कारण से, सभा से उठ भी नही सकेंगे, इस विचार के अनन्तर कहने लगे, कि भगवान् होने से सर्व समर्थ हैं, वहां बैठे हुए ही कार्य पूर्ण कर देगे, वे तो भय से आतुर हो गये थे, आतुरों को प्रार्थना करने का वह अवसर है वा नहीं, इसका ज्ञान नहीं रहता है। डरे हुओं के वे वचन कहते हैं, जो भगवान् को कहे हैं, हे त्रिलोकीनाथ अग्नि से जलने वाली इस पुरी की पालना करो, जैसे पुर का दाह न हो, वैसा यत्न करो मूल में 'पाहि पाहि' पाठ है किसी पुस्तक में 'त्राहि त्राहि' पाठ भी है, यहां त्राहि परस्मैपद दिया है, इस शङ्का के निवारण के लिये कितने ही कहते हैं, कि यह पद छान्दस है दूसरे कहते हैं कि यह धातु 'उभयपदी' है, त्रिलोकीनाथ पद से यह सूचित किया है, कि महादेवादि के निराकरण करने की आप में सामर्थ्य है ।३७॥

आभास—क्षणं चेत्तो न वदेयुः, तदा भगवान् तूष्णीं स्थितः दाहप्रारम्भपर्यन्तम। पश्चादतिक्रोधे पक्षान्तराणां मूलच्छेदमेव कुर्यात्। यथा न कदापि भगवद्विपक्षाणामुद्गमः स्यात्। तावद्विलम्बं लोका न सहन्त इति भगवान् भक्तकृपालुः तद्वैकृव्यात् सामिकायमेव कृतवानित्याह **श्रुत्वा तज्जनवैकव्यमिति**।

आभासार्थ—यदि वे द्वारकावासी एक क्षण भी प्रार्थना करने में विलम्ब करते तो भगवान् तब तक चुप रहते जब तक नगर को आग न लगती, आग लग जाने पर, भगवान् को विशेष क्रोध आता, जिससे शत्रुओं की जड़ ही काट डालते, जैसे कभी भी भगवान् के विपक्षी पैदा न होते। आग लगने पर्यन्त सहने की शक्ति लोकों में नहीं थी, इसलिये पहले ही आकर रक्षा के लिये प्रार्थना की, भगवान् तो भक्तों पर कृपा करने वाले हैं,उनकी विक्लवता देख आधा कार्य ही किया, जिसका वर्णन 'श्रुत्वा तज्जन' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानां च साध्वसम् ।**
शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—अपने भक्तों की व्याकुलता और भय देख, शरणागत की रक्षा करने में प्रवीण परमात्मा ने हँस कर कहा कि डरो मत, मैं आपका रक्षक हूँ ॥३७॥

सुबोधिनी—तत्प्रसिद्धं जनानां वैक्लव्यं दृष्ट्वा च निमित्तं तेषां साध्वसं भयं च दृष्ट्वा स्वयं शरणार्हः प्रहस्याह स्वनाशार्थं कृतवानिति। **मा भैष्टेत्याह**। हेतुवाक्यव्यतिरेकेण भयस्यानिवृत्तावाह **अवितास्म्यहमिति** ॥३७॥

व्याख्यार्थ—भक्तों की प्रकट व्याकुलता देख और उसका कारण तथा भय भी देख, स्वयं शरण के योग्य भगवान् हँसकर कहने लगे, कि इसने यह सब अपने नाश के लिये किया है, आप डरो मत, क्योंकि मैं आपका रक्षक बैठा हूँ ॥३७॥

आभास—निदानापरिज्ञानेऽपि सुदर्शनं सर्वार्थमिति सुदर्शनावलम्बनेनैव कदाचित्प्रतीकारं कुर्यादित्याशङ्क्याह **सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षीति** ।

आभासार्थ—कारण, कि न जानने पर भी, 'सुदर्शन चक्र' सब के लिये है, इसलिये सुदर्शन के आश्रय से ही कदाचित् उपाय करे, यों शङ्का कर रहे थे इतने में भगवान् ने जो किया इसका 'सर्वस्यान्तर्बहिः' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—**सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः ।**
विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् ॥३८॥

श्लोकार्थ—अन्दर और बाहर सबके साक्षी विभु भगवान् ने महादेव की कृत्या को जानकर, उसके कार्य को नष्ट करने के लिए पास में स्थित चक्र को आज्ञा दी ॥३८॥

सुबोधिनी—माहेश्वरीं कृत्यां विभुत्वाद्विज्ञाय तद्विघार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत्, चक्रं हि सचेतनं चक्ररूपेणैव। विभुत्वान्न चक्रसामर्थ्येन किञ्चित्, किन्तु स्वसामर्थ्येनवेत्युक्तम्। तस्य विघातः अग्नेः कार्यप्रतिघातः, न तु स्वरूपनाशः। **पार्श्वस्थ** इति स सर्वथा हृदयाभिज्ञः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—आप विभु हैं, इसलिये जान गये कि यह महादेव की कृत्या है; उसके वध के लिये पास में रहे हुए सुदर्शन चक्र को आज्ञा दी, चक्र, चक्र रूप से ही चेतनोंवाला था, श्रीकृष्ण विभु अर्थात् सर्व प्रकार समर्थ हैं, अतः जो कुछ कार्य हुआ जैसे पुर को न जला सकना और सुदक्षिण का नाश वह अपनी अर्थात् प्रभु की सामर्थ्य से ही हुआ न कि चक्र की सामर्थ्य से, उसका विधान पद का आशय है उसके कार्य पुर को जलाना जिसका नाश चक्र ने किया न कि कृत्या का स्वरूप से नाश किया, चक्र समीप में स्थित होने से भगवान् का हृदय सर्व प्रकार से जानता था ॥३८॥

आभास—ततो भगवदिच्छानुसारेण चक्रकृत्यमाह **तत्सूर्यकोटिप्रतिममिति** ।

आभासार्थ—'तत्सूर्य कोटि प्रतिमं' श्लोक में भगवान् की इच्छानुसार जो किया वह चक्र का कृत्य कहते है।

श्लोक—**तत्सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम् ।**
स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी चक्रं मुकुन्दास्त्रमथाग्निमार्दयत् ॥३९॥

श्लोकार्थ—करोड़ सूर्य के समान, प्रलय की अग्नि के सदृश कान्तिवाला, अपने तेज से आकाश, दिशा, स्वर्ग और पृथ्वी को पीड़ा करता हुआ, वह मुकुन्द का चक्र कृत्या के पीछे पड़ा ॥३९॥

सुबोधिनी—सूर्यकोटिसमानतेजस्त्वं स्वाभाविकी शक्तिः। **जाज्वल्यमानमिति** तस्योत्साहो निरूपितः। **प्रलयानलप्रभमिति** तस्य क्रोधावेशः। ततः क्रोधवशादुक्तदृष्टान्तसधर्मा जात इत्याह **स्वतेजसा खं ककुभो रोदसी च अर्दयदिति**। अन्तरिक्षं दश दिशः द्यावापृथिव्यौ च ज्वालयतीव। एतत्सामर्थ्यं न स्वस्य, किन्तु भगवत इति वक्तुं **मुकुन्दास्त्रमित्युक्तम्**। एवं सर्वं दग्ध्वैव, पश्चाद्भिन्नप्रक्रमेण **अग्निमार्दयत्**। **आ** सर्वतः सर्वथैव भग्नसङ्कल्पं कृतवान् ॥३९॥

व्याख्यार्थ—चक्र का करोड़ सूर्य के समान जो तेज था वह उसकी स्वाभाविकी शक्ति थी, चमक रहा था इससे उसका उत्साह प्रदर्शित किया है, उसकी प्रभा प्रलय की अग्नि के समान थी जिससे दिखाया है, कि वह क्रोध पूर्ण है, पश्चात् क्रोध पूर्ण होने से दिये हुए दृष्टान्तों के समान धर्म इसमें भी प्रकट है, यह बताया है, जैसा कि कहते हैं, अपने तेज से आकाश, दिशा, स्वर्ग और पृथ्वी को पीड़ा करने लगा, मानो उनको जलाने लगा यह सामर्थ्य चक्र की अपनी नहीं थी, किन्तु (वह) भगवान् की है, इसलिये 'मुकन्दास्त्र' पद दिया है, जिसका आशय है कि 'चक्र' साधारण अस्त्र नहीं है किन्तु मोक्षदाता भगवान् का अस्त्र है जिससे इसमें इतनी सामर्थ्य हुई है, इस प्रकार सब को

दग्ध कर पश्चात् भिन्न प्रकार से अग्नि को पीड़ा देने लगा अर्थात् अग्नि के सब सङ्कल्प नष्ट कर दिये ॥३९॥

आभास—ततो यज्ञातं तदाह **कृत्यानलः प्रतिहत** इति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'कृत्यानलः प्रतिहतः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**कृत्यानलः प्रतिहतः स रथाङ्गपाणे-**
रस्त्रौजसा स नृप भग्नमुखो निवृत्तः ।
वाराणसीं परिसमेत्य सुदक्षिणं तं
सर्त्विग्जनं समदहत्स्वकृतोऽभिचारः ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! भगवान् के तेज से प्रतिहत, भग्न मुख वह अग्नि पीछी लौटती हुई काशी में आकर, अभिचार करने वाले सुदक्षिण तथा ऋत्विज आदि जनों को भस्म करने लगी ॥४०॥

सुबोधिनी—स स्वतन्त्रोऽपि कृत्यानलः श्रुत्या साधितोऽपि । **रथाङ्गपाणेरिति** तस्य लौकिकवैदिकसामर्थ्यनाशकत्वमुक्तम् । तत्रापि अस्त्रत्वात् अप्रतिहतरूपमेव । तत्रापि तस्य ओजः तेन हतः सन् भग्नमुखो भूत्वा निवृत्तो जातः । ततो वाराणसीमपि महानिति प्रति समेत्य व्याघुट्य समागत्य स्वस्थाने समागत्य सुदक्षिणं तं स्वोत्पादकं सर्त्विग्जनं ऋत्विग्जनसहितं सम्यगदहत् । अनेन ब्राह्मणा हता इति न भगवद्दोषः कोऽपि । यतः स्वकृत एवाभिचारः,आत्मीयश्चेद्बाणः स्वात्मानं विध्यति, तदा न कस्यापि दोष इति ते सर्वे कृत्यानलेन भस्मसात्कृता इत्यर्थः ॥४०॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि वह कृत्यानल स्वतन्त्र तथा श्रुतियों से सिद्ध की हुई है, तो भी, भगवान् के सुदर्शन चक्रास्त्र के सामने उसका तेज निर्बल पड़ गया, क्योंकि वह अस्त्र भगवान् का था, भगवान् के होने के कारण लौकिक वैदिक सामर्थ्य को नाश करने में समर्थ है और अस्त्र होने से उसके रूप को कोई दमन नहीं कर सकता, इस प्रकार के होते हुवे भी उसका तेज ऐसा था जिससे मारा हुआ एवं भग्न मुख ही निवृत्त होने लगा और लौटते २ वाराणसी को घेर लिया, वहां पहुँच कर उस सुदक्षिण को तथा उसके उत्पादक ऋत्विग्जन सहित सब को पूर्ण रीति से जला दिया, इस प्रकार ब्राह्मण आदि जल गये जिसका दोष भगवान् पर कुछ भी नहीं है, क्योंकि यह अभिचार सुदक्षिण के कहने पर इन ब्राह्मणों ने किया था, अतः अपना छोड़ा बाण अपने को लगे, जिसमें दूसरे का दोष नहीं, वैसे यहां अभिचार करने वालों का ही दोष है इसलिये वे अपने उत्पादन किये हुए कृत्यानल से भस्म हुवे हैं ॥४०॥

आभास—ततः सुदर्शनं भगवद्धृदयं जानातीति काशीमपि पीडितवदित्याह **चक्रं च विष्णोरिति** ।

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् के हृदय को जाननेवाले सुदर्शन ने काशी को भी पीड़ित किया, जिसका वर्णन चक्रं श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं वाराणसीं साट्टसभालयापणाम् ।**
सगोपुराट्टालककोष्ठसंकुलां सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—उस कृत्यानल के पीछे भगवान् का चक्र भी गया, जिसने मंच, सभा, घर, हाट, दरवाजे, अट्टालिकाएँ, भण्डार, हस्तीशाला, अश्वशाला, रथशाला, अन्न के कोठे आदि सबको जला दिया ॥४१॥

सुबोधिनी—तदनु कृत्यानलमनुप्रविष्टं सत् वाराणसीं समदहदिति सम्बन्धः । विष्णोश्चक्रत्वान्न तस्य भयम् । छदींष्येव दग्धानि इति शङ्कां वारयितुं **साट्टसभालयापणामित्युक्तम्** । अट्टादयः सौधगृहाः । सभास्थानान्यपि । तथा आपणः पण्यवीथी । एते अद्यापि लोके सुधाधवलिता भवन्ति । साधारणा एत इति विशिष्टानामपि दाहं निरूपयति **सगोपुरेति** । पुरद्वारसहिताम्, अट्टालकाः हर्म्याः धनिनां गृहाः । कोष्ठानि दुर्गादावन्नसंग्रहस्थानानि । **सगोकुलाट्टालसगोष्ठसंकुलामिति** पाठे गोष्ठादीनां गोकुलस्य । तत्रापि प्रसिद्धगोपानां अट्टालकसहितस्य कदाचिद्दाहं न कुर्यादिति शङ्का स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थमेवमुक्तम् । लक्ष्म्या आयतनं न पीडयिष्यतीत्याशङ्क्याह **सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालामिति** । कोशा भाण्डारगृहाः । हस्त्याद्यन्नान्तानां च शालाः । रथनिर्माणं यत्र क्रियते, सा रथशाला । स्थापिता अपि रथा गृहेष्वेव तिष्ठन्ति । अन्यथा धर्माद्युपद्रवो भवतीति ॥४१॥

व्याख्यार्थ—उस कृत्यानल के पीछे प्रविष्ट सुदर्शन ने वाराणसी को जला दिया, वह विष्णु का चक्र है, इसलिये निर्भय है, अल्प ही जलाये होंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिये ही 'साट्टसभालयापणाम्' कहा है, राजभवन, सभास्थान, तथा बाजार जहां दुकानें लगी रहती हैं ये सब जला दिये, ये इस समय भी, लोक में सुधा से धवलित अर्थात् स्वच्छ किये जाते हैं, ये जो जलाये वे तो साधारण थे, अब जो विशेष बड़े स्थान जलाये उनका वर्णन करते हैं, नगर के जो भीतर जाने के बड़े दरवाजे थे वे साहूकारों के सुन्दर महल, कोठे, दुर्ग आदि में जो अन्न के सङ्ग्रह के स्थान थे, किसी पुस्तक में 'सगोकुलाट्टाल सगोष्ठसंकुलां' यह पाठ है गौकुल जहां गौ आदि के रहने के स्थान हैं, जिसमें प्रसिद्ध गोपों के अट्टालकों (बड़े २ सुन्दर घर) के साथ सब को कदाचित् जलावें, इस शङ्का के मिटाने के लिये यों कहा है लक्ष्मी के निवास स्थान तो नहीं जलाये होंगे ? इस शङ्का का निवारण करने के लिये कहते हैं कि 'सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालां' अर्थात् लक्ष्मी के निवास स्थान भी जलाये जैसे कोषागृह (खजाने) जहां थे वे स्थान, हस्ती, घोड़े रथ और अन्न आदि के गृह भी जला दिये, जहाँ रथ बनाये जाते हैं, वे रथ शालाएं होती हैं । बनाए गये रथ तो घरों में स्थापित किये जाते हैं, वहाँ ही पड़े रहते हैं, यों नहीं करें तो धर्मादि उपद्रव हो जाता है ॥४१॥

आभास—एवं सामान्यविशेषप्रकारेण दाहमुक्त्वा सर्वदाहो न भविष्यतीत्याशङ्क्य, विशेषं वदन्नुपसंहरति **दग्ध्वा वाराणसीं सर्वामिति** ।

आभासार्थ—यों सामान्य तथा विशेष प्रकार से जलाने को कहा, जिससे यह शङ्का होती है कि इससे समग्र काशी नहीं जली अतः विशेष 'दग्ध्वा वाराणसीं' श्लोक में कह कर विषय का उपसंहार करते हैं।

श्लोक— दग्ध्वा वाराणसीं सर्वां विष्णुचक्रं सुदर्शनम् ।
भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत्कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः ॥४२॥

श्लोकार्थ— विष्णु का सुदर्शन चक्र इस प्रकार समग्र वाराणसी को जलाकर फिर अक्लिष्टकर्मा श्रीकृष्ण के पास शीघ्र ही आ गया ॥४२॥

सुबोधिनी—विष्णुचक्रत्वात् कार्यसिद्धिः। सुदर्शनमिति। एवं कर्तुरपि दोषाभावः। पुनरग्रेऽपि कार्यं एतादृशं भविष्यतीत्याशङ्क्या कृष्णस्यैव पार्श्वमुपातिष्ठत्। ननु भगवान् स्वयमेव करिष्यति, किं सुदर्शनेनेत्याशङ्क्याह अक्लिष्टकर्मण इति। न हि भगवान् क्लिष्टं करोति, कदाचित्त्व तथा कर्तव्यं भवति, तदा गतः, अनेन सुदर्शनस्यापि निरोधो निरूपितः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—द्वारकावासियों की इच्छित कार्य-सिद्धि हो गई अर्थात् कृत्यानल तथा उसके उत्पादक सब जल कर नष्ट हो गये, यह कार्य-सिद्धि इसलिये हुई कि सुदर्शन विष्णु का चक्र है, यों कर्त्ता को भी दोष न लगा, फिर आगे भी ऐसा कार्य होगा ? इस शङ्का निवारण के लिये कहते हैं कि फिर नहीं होगा, क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्र के पास लौट आया, भगवान् स्वयं करेंगे, सुदर्शन की क्या आवश्यकता है ? भगवान् क्लिष्टकर्म नहीं करते हैं और कदाचित् वैसा कर्त्तव्य होता है, यह कार्य पूर्ण किया तब सुदर्शन भगवान् के पास गया जिससे सुदर्शन का भी निरोध निरूपण किया ॥४२॥

आभास—कदाचिदियं कथा काशीदाहं प्रतिपादयतीति स्वधर्महेतुभिः न श्रोतव्या भवेत्, तदर्थमाह **य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य** इति।

आभासार्थ—यह कथा काशी के दाह का वर्णन करती हैं, जिससे अपने धर्म के हेतु वालों को अर्थात् काशी के भक्तों को यह कथा नहीं सुननी चाहिये, इस शङ्का का निवारण 'य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य उत्तमश्लोकविक्रमम् ।
समाहितो वा शृणुयात्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्य भगवान् के पराक्रम का यह चरित्र सुनाता है और जो एकाग्र हो सुनता है, वे दोनों सर्व पापों से छूट जाते हैं अर्थात् उनके सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—हेत्वपेक्षायामाह **उत्तमश्लोकस्य विक्रममिति**। उत्तमैः श्लोक्यते इति स्वभावत एव भगवच्चरित्रं श्रोतव्यम्। तत्रापि विक्रमः पराक्रमोऽयम्। यः श्रावयेत्, यो वा समाहितः शृणुयात्, अवहेलां न कुर्यात्, स सर्वपापैः प्रमुच्यत इति। भक्तैरिव धर्मपरैरपि श्रोतव्यमिति निरूपितम् ॥४३॥

व्याख्यार्थ—ये भगवान् उत्तम श्लोक हैं; जिसकी उत्तम पुरुष, भक्त, ज्ञानी सदैव प्रशंसा करते हैं अतः स्वभाव से ही भगवान् के चरित्र श्रवण करने योग्य हैं, जिसमें भी फिर यह चरित्र तो पराक्रम का है इसलिये जो मनुष्य यह चरित्र अन्य को सुनाता है और जो यह चरित्र एकाग्र होकर सुनता है, और जो तिरस्कार नहीं करते हैं, वे दोनों सर्व पापों से छूट जाते हैं, अर्थात् उनके पाप नष्ट हो जाते है, इससे यह निरूपण किया है कि जैसे यह चरित्र भगवद्भक्त सुनते हैं, वैसे ही, धर्म परायणों को भी सुनना चाहिये ॥४३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६३वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण का तीसरा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

इस अध्याय के वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"पौण्ड्रक वध"

राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ। हरि कैं सत्रु मित्र नहिँ होइ॥
ज्यौं सुमिरैं त्यौं ही गति होइ। हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ॥
पौंड्रक अरू कासी के राइ। हरि कौं सुमिरयौ बैर सुभाइ॥
अह निसि रहे यहै लवलाइ। क्यों करि जीतौं जादवराइ॥
द्वारावति तिनि दूत पठायौ। ताकौं ऐसौ कहि समुझायौ॥
चारि भुजा मम आयुध चारि। बासुदेव मौं ही निरधारि॥
यौं ही कहि जदुपति सौं जाइ। कपट तजौ कै करौ लराइ॥
दूत आइ हरि सौं यह कह्यौ। हरि जू तिहिँ यह उत्तर दयौ॥
जो तैं कही सो सब हम जानी। पौंड्रक की आयुस सियरानी॥
कहौ जाइ करै जुद्ध बिचार। साँच झूठ ह्वै है निरधार॥
दूत आइ निज नृपहिँ सुनायौ। तब उन मन मैं जुध ठहरायौ॥
जहाँ तहाँ तैं सैन बुलाई। तब लगि जदुपति पहुँचे जाई॥
पौंड्रक सुनि तब सन्मुख आयौ। पाँच छ्रोहिनी दल सँग ल्यायौ॥
सेना देखि सस्त्र संभारे। जदुपति के लोगनि परहारे॥
हरि कह्यौ तू अजहूँ संभारि। साँच झूठ जिय देखि बिचारि॥
ताकी मृत्यु आइ नियरानी। जो हरि कही सो मन नहिँ आनी॥
तब जदुपति निज चक्र संभारयौ। ताकी सेना ऊपर डारयौ॥
सैन मारि पुनि ताकौं मारयौ। तासु तेज निज मुख मैं धारयौ॥
ऐसे हैं त्रिभुवनपति राइ। जिनकी महिमा वेदनि गाइ॥
कोउ भजै काहू परकार। सूरदास सो उतरे पार॥

"सुदक्षिण वध"

राग मारू

नृप सुदच्छिन महादेव ध्यायौ।
नाथ तुव कृपा पितु बैर लीयौ चहौं, पाइँ परि बहुरि यौं कहि सुनायौ॥
अगिनि के कुण्ड तैं असुर परगट भयौ, द्वारिका देस ताकौं बतायौ।
आइ उन दुंद जब कियौ हरि पुरी मैं, चक्र ताकौ ह्वा तैं भगायौ॥
हति सुदच्छिन दई जारि बारानसी, कह्यौ ते मोहिँ ह्वाँ क्यौं पठायौ।
सूर के प्रभु सौं बैर जिन मन धरयौ, आपुनौ कियौ तिन आपु पायौ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ६७वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ६४वां अध्याय
उत्तरार्ध का १८वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"४४१ अध्याय"

द्विविद का उद्धार

कारिका—**बलस्य चरितं वक्ष्यन् तदभावात्तु पौण्ड्रकः।**
तथोक्तवानिति ह्युक्तं अर्थादेतद्बलस्य हि ॥१॥

कारिकार्थ—पूर्वाध्याय १७वें में जो यह चरित्र वर्णन हुआ है, वह बलरामजी का ही है; पौण्ड्रक ने जो कहा, वह बलरामजी का वहाँ न होना समझकर ही कहा; बलदेवजी के वहाँ प्रकट स्थिति के अभाव में जो कुछ चरित्र हुआ, वह वास्तव में बलरामजी का ही माहात्म्य है ॥१॥

कारिका—**बलरूपहरेः कार्यं न समाप्तमिति स्थितिः।**
अतो विशेषतो वक्तुं प्रश्नो राज्ञो निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ--कारण कि बलाविष्ट हरि का कार्य अभी तक सम्पूर्ण नहीं हुआ है, इसलिए पूर्वाध्याय में कहा हुआ माहात्म्य भी बलाविष्ट हरि का ही है, यह मर्यादा अर्थात् स्थिति है, इस कारण से अर्थात् पूर्वाध्याय में सामान्य प्रकार से कहा, अब विशेष प्रकार से कहने के लिए राजा के प्रश्न का निरूपण किया जाता है; क्योंकि बलरामजी के कार्य की समाप्ति नहीं हुई है ।।२।।

कारिका--**अष्टादशे तु द्विविदवधः सम्यङ् निरूप्यते ।**
गोपिकानामिवात्रापि स्त्रीणां माहात्म्यबोधने ।।३।।

कारिकार्थ--यहाँ अठारहवें अध्याय में भी बलराम की स्त्रियाँ जो गोपियाँ हैं, उनकी भाँति माहात्म्य ज्ञान की सिद्धि के लिए द्विविद के वध का सम्यक् प्रकार से निरूपण किया जाता है ।।३।।

कारिका--**बलस्त्रियोऽन्यथा त्वत्र निरुद्धा न भवन्ति हि ।**
तदा विभागो व्यर्थः स्यान्निरोधानुपयोगतः ।।४।।

कारिकार्थ--यहाँ दूसरे प्रकार से अर्थात् आवेशी स्वरूप के बिना केवल साक्षात् भगवत्स्वरूप से बल की स्त्रियों का निरोध होना सम्भव नहीं था, यदि निरोध सिद्ध न होवे तो शक्ति का विभाग प्रथम किया हुआ है, वह व्यर्थ किया, यों सिद्ध होगा अर्थात् निरोध का न होना स्कन्ध के अर्थ से विरुद्ध होगा, यह बताने के लिए ही 'वि' उपसर्ग दिया है ।।४।।

कारिका--**ततः सर्वजनीनं च चरित्रं हि करिष्यति ।**
यस्यावेशस्य चरितमेवं तस्य किमद्भुतम् ।।५।।

कारिकार्थ--ऊपर गुप्त चरित्र कहा, उसके बाद लक्ष्मणा के प्रसङ्ग में सर्वजनीन चरित्र करेंगे, इसी तरह विशेष निरोध के प्रकरण में ४ अध्यायों से बलदेवजी के चरित्र का वर्णन किया है, जिसके आवेश स्वरूप का चरित्र ऐसा है तो आवेशी का स्वरूप कैसा अद्भुत होगा ? यह इससे ही समझा जा सकता है, कैमुतिक न्याय से यह भगवच्चरित्र ही है, यह भाव है ।।५।।

— इति कारिका समाप्त —

आभास--पूर्वाध्याये 'नन्दव्रजं गते राम' इति रामे विद्यमाने नैवं पौण्ड्रको वक्तुं शक्त इति प्रतिभातम् । अतो बलस्य विशेषं (चरित्रं) पृच्छति **भूयोऽहमिति** ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में 'नन्दव्रजं गते रामे' से बलरामजी का व्रज में जाना कहा, जिससे द्वारका में बलरामजी विद्यमान नहीं थे अतः पौण्ड्रक यों कहने में शक्तिमान् हो सका, यों भासने से 'भूयोऽहमिति' श्लोक से बल का विशेष चरित्र पूछता है ।

श्लोक—राजोवाच–**भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः ।**
अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत्कृतवान् प्रभुः ।।१।।

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि मैं, अद्भुतकर्मा अनन्त और अप्रमेय बलरामजी ने समर्थ होने से जो अन्य चरित्र किए हैं, वे भी सुनना चाहता हूँ ।।१।।

सुबोधिनी—यमुनाकर्षणादि माहात्म्यं श्रुतम्। अन्यदपि श्रोतुमिच्छामि । **अद्भुतकर्मण** इति । अलौकिकचरित्रं तस्य वर्तत एव तद्वक्तव्यमिति प्रभः । यथा भगवतः कार्यकरणार्थं गते तस्मिन् बह्वेव कार्यं भगवत आपतितम्, तथान्यदपि भविष्यतीत्याशयेन अद्भुतकर्मत्वमुक्तम् । **अनन्तस्येति** । चरित्राणामप्यनन्तता, तेन तादृशचरित्रबाहुल्यम् । **अप्रमेयस्येति** । स्वतः कल्पयितुमशक्यम् । अत एव तादृशस्य अन्यदपि चरित्रं श्रोतुमिच्छामि । तच्च चरित्रं दैवाज्ञातं न वक्तव्यम्, किन्तु समर्थो भूत्वा यत् कृतवान्, तदेव वक्तव्यमिति ।।१।।

व्याख्यार्थ—यमुना का आकर्षण आदि माहात्म्य वाले चरित्र सुने हैं, दूसरे भी सुनना चाहता हूँ, क्योंकि बलरामजी के चरित्र अद्भुत हैं, उनके चरित्र अलौकिक ही हैं वे कहने योग्य हैं इस कारण से राजा ने प्रश्न किया है, जैसे भगवान् के कार्य करने के लिये जाने के अनन्तर भगवान् के ऊपर बहुत कार्य आपड़े अर्थात् भगवान् को बहुत कार्य करने पड़े, वैसे दूसरे भी होंगे ? इस आशय से बलराम को अद्भुत कर्म कहा है, चरित्र एक नहीं अनन्त हैं, कारण कि आप अनन्त हैं, इसलिये उनके वैसे अद्भुत चरित्र भी बहुत हैं आप अप्रमेय हैं, जिससे उनके चरित्रों की भी कल्पना नहीं हो सकती है, अतएव वैसे बलरामजी के अन्य चरित्र सुनना चाहता हूँ और वे चरित्र दव से हुवे न कहने चाहिये, किन्तु स्वयं समर्थ हो कर जो किये हैं वे ही कहने चाहिये ।।१।।

आभास--निरोधे स्त्रिय एव मुख्या इति तदर्थमेवान्यदिति निरूपयन् द्विविदवधमाह **नरकस्य सखा कश्चिदिति** ।

आभासार्थ– निरोध में स्त्रियाँ ही मुख्य हैं, इसलिये उनके लिये ही दूसरा चरित्र किया है यों निरूपण करते हुए द्विविद वध का चरित्र 'नरकस्य सखा कश्चित्' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**नरकस्य सखा कश्चिद्द्विविदो नाम वानरः ।**
सुग्रीवसचिवः सोऽथ भ्राता मैन्दस्य वीर्यवान् ।।२।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि नरकासुर का मित्र कोई द्विविद नाम वाला वानर था, वह रामावतार में सुग्रीव का सचिव था और मैन्द का भ्राता था तथा शूरवीर था ॥२॥

सुबोधिनी—नरकासुरो भगवता हत इति, स्त्रीणामेवार्थ इति च, तत्सख्याप्येवमेव मारणीय इति, वध्योऽपि स एतावत्कालमुपेक्षित इत्युक्तम्। **कश्चिदिति** विशेषतः दैत्यत्वेन वा देवत्वेन वा न निर्वक्तव्यः। **द्विविद** इति। द्विधा वित् ज्ञानं यस्येति द्विःस्वभावोऽयम्। तेन रामावतारे भक्तोऽप्ययं सांप्रतमन्यथा जात इति। अनेन द्वि स्वभावा अपि वध्या एवेति निरूपितम्। **वानर** इत्युपेक्षायां हेतुः। भगवतैवार्धनराः कृताः, पुनः किमर्थं वध्या इति। तर्हि तद्बधे रामस्य किं माहात्म्यमित्याशङ्क्य माहात्म्यमाह। **अथ** भिन्नप्रक्रमेण। सुग्रीवसचिवः। चत्वारो मन्त्रिणस्तस्य हनुमदादयः, तन्मध्ये परिगणनात् तत्तुल्यतापि निरूपिता। **स** इति। स्वभावतोऽपि रामायणे प्रसिद्धः। **मैन्दस्य भ्रातेति** रामायणे मैन्दशौर्यं निरूपितम्। तद्भ्रातापि तत्तुल्य इति। ततोऽपि विशेषमाह **वीर्यवानिति** ॥२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने नरकासुर को मारा वह भी स्त्रियों के लिये ही, उसका मित्र भी उसी तरह मरना चाहिये, वह मारने योग्य होते हुए भी इतने समय तक उसकी उपेक्षा की, यों कहा 'कञ्चित्' पद कहा, स्पष्ट नहीं कहा कि दैत्य था वा देव था, जिसका नाम 'द्विविद' कहा जिससे यह जताया है कि उसका स्वभाव दो प्रकार का था क्योंकि उसको दो प्रकार का ज्ञान था, इसी कारण से रामावतार में भक्त होने पर भी इस जन्म में अभक्त हो गया, इससे यह बताया कि जो दो स्वभाव वाले हों वे मारने योग्य ही हैं। इतना समय उपेक्षा करने का कारण उसका वानर पन था; भगवान् ने ही उनको आधा मनुष्य बना दिया है तो फिर वे किस लिये मारने योग्य हैं? उसका यदि बध किया जावे तो फिर रामचन्द्र का क्या माहात्म्य रहेगा? यों उनके न मारने से राम का माहात्म्य बताया है, अब दूसरे प्रकार से कहते हैं, सुग्रीव के हनुमान् आदि ४ सचिव थे जिनमें एक द्विविद भी था जिससे इसको उनसे समानता बताई, स्वभाव से भी रामायण में प्रसिद्ध हैं मैन्द का भ्राता था, रामायण में मैन्द की शूरवीरता निरूपण की गई है, उसका भ्राता भी उसके समान है उससे भी विशेष होने से 'वीर्यवान' विशेषण दिया है। २॥

आभास—तर्ह्येतादृशो महान् प्रसिद्धश्च कथं विरुद्धो जात इति चेत्, तत्राह **सख्युः सोऽपचितिमिति**।

आभासार्थ—यदि कहो, कि ऐसा महान् और प्रसिद्ध विरुद्ध कैसे हो गया? इसका उत्तर 'सख्युः सोऽपचितिं' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—**सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम्।**
पुरग्रामाकरान् घोषानदहद्वह्निनोत्सृजन् ॥३॥

श्लोकार्थ—वह बन्दर अपने मित्र का बदला लेने के लिए राष्ट्र में उत्पात करने लगा, जैसे कि पुर, गाँव, खान, घोष इनको जला देता था ॥३॥

सुबोधिनी—नरको भगवता मारित इति अपचितिं कुर्वन् क्षुद्रः केनापि न प्रतिपक्षतया विचार्यत इति राष्ट्रविप्लवं कृतवान्। यथा सर्वमेव राष्ट्रं नष्टं भवति। नाशमेवाह **पुरग्रामेति**। राष्ट्रविप्लवो यथा भवति, तथेति सर्वक्रियासु सम्बध्यते। **पुराणि** नगराणि। **ग्रामा** अल्पाः। **आकरा** रत्नादिस्थानानि। **घोषा** आभीरग्रामाः। लौकिकाख्विविधा निरुक्ताः। वैदिकातिदोषसिद्ध-चर्थं घोषा उक्ताः। **वह्निना** वह्निदाहेन। अनेन चौर्येण दाहो निरूपितः। अन्यथा वह्निपदं व्यर्थं स्यात् ॥३॥

व्याख्यार्थ—नरक को भगवान् ने मारा था वह द्विविद का मित्र था इसलिये उसका बदला लेने लगा, क्षुद्र (नीच) बदला लेते समय यह विचार नहीं करता है, कि किस प्रकार बदला लेना चाहिये, जैसा मैं बदला लेता हूँ वह योग्य है कि नहीं। तुच्छ होने से, इसका कुछ भी ध्यान नहीं करता है, शत्रु होने से जैसा भी भावे वैसा अयोग्य रीति से बदला लेने लगता है, अतः यह द्विविद भी तुच्छ होने से, राष्ट्र का विनाश करने लगा। किस प्रकार किया? जिसका वर्णन करते है, बड़े नगर, छोटे ग्राम, रत्न आदि की खान, गोपालों के ग्राम, जहाँ गोधन आदि रहता है। तीन प्रकार के लौकिक कहे, घोष जो कहे उससे वैदिक दोष की सिद्धि बताई। इन सब को छुप कर आग लगादी, नहीं तो वह्नि पद व्यर्थ हो जाता ॥३॥

आभास—अग्निना उपद्रवमुक्त्वा पर्वतैराह **क्वचित्स शैलानुत्पाट्येति**।

आभासार्थ—वह्नि से किये हुए उपद्रव का वर्णन कर, अब क्वचित्स शैलानुत्पाट्य' श्लोक से पर्वतादि से किये हुए उपद्रवों का वर्णन करते है।

श्लोक—**क्वचित्स शैलानुत्पाट्य तैर्देशस्थानचूर्णयत्।**
आनर्तान्सुतरामेव यत्रास्तेऽमित्रहा हरिः ॥४॥

श्लोकार्थ—कहीं बड़े पर्वतों को उखाड़ कर देशों में स्थित मनुष्यादि को चूर्ण-२ कर देता था, आनर्त (देश) में तो विशेष उपद्रव करता; क्योंकि इसके मित्र का हन्ता हरि यहाँ विराजते हैं ॥४॥

सुबोधिनी—स्थानादुत्पाट्य देशोपरि पातयित्वा देशस्थानचूर्णयदिति। सुतरामेव भगवदीयानित्याह **आनर्तान् सुतरामेवेति**। तत्र हेतुः। यत्रास्ते नरकघातो गोविन्दः ॥४॥

व्याख्यार्थ—पर्वतों को स्थान से उखाड़ कर देश के ऊपर फेंक देशस्थों को चूर्ण कर देता था, अधिकतर तो भगवदीय अर्थात् जो आनर्त देश में रहते थे, (उनको) कारण कि, आनर्त देश में इसके मित्र नरकासुर का हन्ता हरि का निवास है ॥४॥

आभास—जलकृतोपद्रवमाह **क्वचित्समुद्रमध्यस्थ** इति ।

आभासार्थ—'क्वचित् समुद्र मध्यस्थ' श्लोक जल से किये हुए उपद्रवों को कहते हैं ।

श्लोक—**क्वचित्समुद्रमध्यस्थो दोर्भ्यामुद्धृत्य तज्जलम् ।**
देशान्नागायुतप्राणो वेलाकूलानमज्जयत् ॥५॥

श्लोकार्थ—कभी समुद्र के बीच में जाकर दोनों हाथों से उसके जल को उछाल-उछाल कर तीर पर स्थित देशों को डूबा देता, यों इसलिए कर सकता था; क्योंकि इसमें दस हजार हस्तियों का बल था ॥५॥

सुबोधिनी—दोर्भ्यामुद्धृत्येति बाह्वोः स्थूलता निरूपिता । देशान् समुद्रतीरस्थान् । आपाततः केनापि मारयितुं न शक्य इति वक्तुं **नागायुत-प्राण** इत्युक्तम् । दशसहस्रहस्तिबलः । वेलाकूले यस्येति मज्जने सौकर्यमुपपत्तिश्चोक्ता ॥५॥

व्याख्यार्थ 'दोर्भ्यामुद्धृत्य' इससे भुजाओं की स्थूलता दिखाई हैं, 'देशान्' पद से समुद्र के किनारे पर स्थित देशों को कहा है 'नागायुतप्राणः' पद से दश हजार हस्तियों के समान बल वाला था जिससे कोई भी उसको मार नहीं सकता, किनारे पर स्थित कहने से डुबाने में सरलता कही है ।५।

आभास—साधारणानामुपद्रवमुक्त्वा वैदिकानामप्युपद्रवमाह **आश्रमानृषिमुख्या-नामिति** ।

आभासार्थ—साधारणों का उपद्रव कहकर 'आश्रमान्' श्लोक से वैदिकों का भी उपद्रव कहते हैं ।

श्लोक—**आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भग्नवनस्पतीन् ।**
अदूषयच्छकृन्मूत्रैरग्नीन् वैतानिकान् खलः ॥६॥

श्लोकार्थ—ये खल, इतने उपद्रवों से तृप्त न हुआ, फिर मुख्य ऋषियों के आश्रमों के वृक्ष, वनस्पतियों को तोड़ डालता और आश्रम में जाकर विष्टा, मूत्र आदि से उनकी यज्ञ सामग्री तथा अग्नि को अपवित्र करता ॥६॥

सुबोधिनी—तेषां पूर्तस्येष्टस्य च नाशं करोतीति वक्तुं **भग्नवनस्पतीन् कृत्वा वैतानिकान्** वैदिकान् अग्नीन् गार्हपत्यादीन् अदूषयत् । नन्वेवं कृते स्वस्य कः पुरुषार्थः, न हि ब्राह्मणा नरक-स्थान्यस्य वा द्विष्टा भवन्ति, तत्राह **खल** इति । दुरात्मायम् । अतो निष्प्रयोजनमपि परोपतापार्थं करोतीति ॥६॥

व्याख्यार्थ—ऋषियों के यज्ञ का नाश करता था, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वनस्पति को तोड़ता था, गार्हपत्य जो वैदिक अग्नि को मुत्रादि से अपवित्र करता था, यों करने से उसका कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध होता था ? कारण कि ब्राह्मण तो नरक वा दूसरे किसी के शत्रु नहीं होते हैं ? फिर इसने ऐसों को क्यों कष्ट दिया ? जिसके उत्तर में कहते है 'खल' दुष्ट अन्तःकरण-वाला था, इसलिये बिना प्रयोजन भी दूसरों को दुःख देने के लिये यों करता है ॥६॥

आभास—देशोपद्रवं पृथिव्यग्नेजोभिरुक्त्वा, वैदिकान् देशस्थानपि निरूप्य, अन्यान् स्त्रीपुरुषसाधारण्येन तदुपद्रुतान् निरूपयति **पुरुषान्योषितो दृप्त** इति ।

आभासार्थ—पृथ्वी, जल और तेजों से किये हुए देश के उपद्रवों को और देशस्थ वैदिकों से किये हुए उपद्रवों को कह कर, अब स्त्री पुरुषादि अन्य साधारणों को जो दुःख दिये, उनका वर्णन 'पुरुषान् योषितो दृप्तः' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**पुरुषान् योषितो दृप्तः क्ष्माभृद्द्रोणीगुहासु सः ।**
निक्षिप्य चाप्यधाच्छैलैः पेशस्कारीव कीटकम् ॥७॥

श्लोकार्थ—वह अभिमानी वानर फिर स्त्री और पुरुषों को पर्वतों की गुफा और दरारों में डालकर बड़ो-२ शिलाओं से वैसे बन्द कर देता, जैसे मकड़ी कीड़े को घर में डालकर रोक रखती है ॥७॥

सुबोधिनी—सहस्थितान् तत्सङ्गभङ्गार्थं रसं च बीभत्सयितुम् । दृप्त उच्छृङ्खलः । क्ष्माभृतः पर्वतस्य द्रोणीगुहासु द्रोण्यां उभयपर्वतमध्ये गुहासु च 'अत्र रमध्व'मिति उपहसन्निक्षिप्य अप्यधात् । शैलैस्तदुपरि पर्वतान् आरोपयति । तथाकरणे हेतुमाह **पेशस्कारीव कीटकमिति** । स हि स्वस्मरणेन स्वतुल्यः कीटो भवत्विति तथा करोति, तथायमपि विश्वस्यैव मदात्मकता भवतु, न भगवदात्मकतेति तथा कृतवान् ॥७॥

व्याख्यार्थ—वह उच्छृङ्खल मनमानी करने वाला (उद्दंड) साथ में रहने वाले स्त्री पुरुषों के सङ्ग का भङ्ग करने के लिये तथा रस में विघ्न डालने के लिये, एवं उनको डराने के लिये, पर्वत के गुफाओं में और दरारों में फेंक कर कहता था, कि अब यहां रमण करो यों हंसी करता हुआ शिलाओं से बंद कर देता,यों करने का कारण बताते हैं कि जैसे मकड़ी कीड़े को अपने जैसा बनाने के लिये बंद करती है, वैसे इसने भी सारे विश्व को अपने समान बनाने के लिये यों किया है । यों न समझा कि विश्व भगवदात्मक स्वरूप है, वह मदात्मक कैसे होगा ? क्यों न समझा ? जिसका हेतु है कि उच्छृङ्खल था इसलिये 'दृप्त' विशेषण दिया है । ७॥

आभास—एवं सह्यमुपद्रवं निरूप्य, तदुपसंहरन् असह्यं निरूपयति **एवं देशान्वि-प्रकुर्वन्निति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार सहने योग्य उपद्रव कह कर उनका उपसंहार करते हुए एवं देशान्' श्लोक से असह्य उपद्रवों का वर्णन करते हैं।

श्लोक—एवं देशान् विप्रकुर्वन् दूषयंश्च कुलस्त्रियः।
श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरिं रैवतकं ययौ ॥८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार देशों में उपद्रव करता हुआ और कुल-स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करता हुआ, सुन्दर गीत सुनकर रैवतक पर्वत पर गया ॥८॥

सुबोधिनी—असह्यमेतत् **दूषयंश्चे**ति। इतरदूषणं न दोषायेति कुलपदम्। अनेन नरकगृहाद्भगवता समानीतास्ता इति तथा करोतीति सूचितम्। एवमुत्कृष्टे पापे तेनैव मरणार्थं स्वयमेव समुद्यत इत्याह **श्रुत्वा सुललितं गीतमिति**। यथा सर्वे विषयास्तेन निराकृताः सर्वेषाम्, तथा सुललितमपि गीतम्। मयि स्थिते को वा गायतीति तन्निराकरणार्थं रैवतकं ययौ। तेनैव गीतानुमानात् ॥८॥

व्याख्यार्थ—उसका कुल की स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करने वाला कार्य असह्य था, सामान्य स्त्रियों को दूषित करे तो इतना दोष नहीं, किन्तु ये स्त्रियाँ कुल की थीं, जिनको यह दूषित करता था, उन स्त्रियों को भगवान् नरक के गृह से लाये थे, इसलिये यों करता है, यह सूचन किया है। इस प्रकार कार्य करने से इसके पाप बढ़ गये अर्थात् पाप का घड़ा पूर्ण भर गया जिससे स्वयं ही मरने के लिये उद्यत होने लगा। उस समय इसने सुन्दर गीत सुना यद्यपि पशु होने से गाने के स्वर आदि का ज्ञान न था, तो भी सुन्दरता के कारण प्रत्येक मन का आकर्षक होने से गीत कहा है, जैसे इसने सर्व के सर्व विषयों का निराकरण किया है वैसे इस सुललित गीत का भी निराकरण करने के लिये रैवतक पर गया, क्योंकि मेरे उपस्थित होते हुए अन्य कौन है ? जो गान कर रहा है, अतः इसका निराकरण करना ही चाहिये, यों निश्चय कर पर्वत पर गया ॥८॥

आभास—ततो गीतकर्तारं दृष्टवानित्याह **तत्रापश्यदिति**।

आभासार्थ—वहाँ जाकर गानेवाले को देखा, जिसका वर्णन 'तत्रापश्यद्यदुपतिं' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तत्रापश्यद्यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम्।
सुदर्शनीयसर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ॥९॥

श्लोकार्थ—वहाँ तो कमलों की मालावाले, सुन्दर अङ्गवाले स्त्रियों के यूथ के मध्य में स्थित यदुपति राम को इसने देखा ॥९॥

सुबोधिनी—तस्य मात्सर्योत्पत्त्यर्थं रामस्य दशगुणान्वर्णयति। एतावन्त एव गुणा इति। तत्रादावैश्वर्यं दृष्टवानित्याह **यदुपतिमिति**। यादवानां स्वामी। स्वामिचिह्नानि बिभर्तीति। तथा ज्ञानं परिचयोऽप्यस्तीति वा। अनेन कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सामर्थ्यमुक्तम्। इदं लौकिकम्। अलौकिकमाह **राममिति**। विभक्तवीर्यत्वात्। सर्वलोकानुरञ्जनमपि तस्यासाधारणो गुणः। स्वरूपतः कार्यतश्चोत्कर्ष उक्तः। **पुष्करमालिनमिति**। कमलमालया लक्ष्म्या वृत इति ज्ञापयन् भूषितत्वमाह इत्यैश्वर्यादियुक्त्य उक्ताः। **सुष्ठु दर्शनीयानि सर्वाण्यङ्गानि यस्ये**ति। सौन्दर्येण शारीरकीर्तिरुक्ता। **ललनायूथमध्यगमिति**। बहिःकीर्तिरुक्ता। शोभाजनितेयं कीर्तिरिति ॥९॥

व्याख्यार्थ—उसको मात्सर्य उत्पन्न हो जिसके लिये श्री बलरामजी के दश गुणों का वर्णन करते हैं इतने ही गुण हैं, उनमें प्रथम ऐश्वर्य गुण को देखा, वह कहते हैं कि यादवों के स्वामी हैं, स्वामी के चिन्ह धारण किये हुवे थे जिनसे ज्ञान हुवा तथा परिचय भी है ही, इससे कर्तुं अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं, सामर्थ्य इनमें है यों कहा, यह लौकिक है, अब अलौकिक गुण कहते हैं 'राम' राम हैं, वीर्य के विभक्त होने से, सर्व लोकों को रमण से प्रसन्न करना इनका असाधारण गुण है, जिससे स्वरूप और कार्य से उत्कर्ष कहा, कमलों की माला से आवृत थे, जिससे अलङ्कृतत्व दिखाया, इस प्रकार ऐश्वर्य आदि तीन गुण कहे, जिनके सर्व अङ्ग देखने योग्य हैं, इस सौन्दर्य से शरीर की कीर्ति कही 'स्त्रियों' के यूथ के मध्य में स्थित कहने से बाहिर की कीर्ति बताई (जो) यहाँ की शोभा से उत्पन्न हुई है ॥९॥

श्लोक—गायन्तं वारुणीं पीत्वा मदविह्वललोचनम्।
विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—वारुणी मदिरा पीकर गान करते, मद से घूर्णित नेत्रवाले, मद झरते हुए हाथी के समान श्रीअङ्ग से शोभते हुए बलरामजी को देखा ॥१०॥

सुबोधिनी—**गायन्तमिति**। स्वानन्दपूर्णता ज्ञानफलरूपा निरूपिता। **वारुणीं पीत्वेति**। देहविस्मरणं ज्ञानफलं द्विविधमप्युक्तम्। मदेन विह्वले लोचने यस्येति बहिर्ज्ञानदृष्टिः विह्वला वैराग्यफलरूपा निरूपिता। **विभ्राजमानं वपुषेति**। विगतभ्राजनं वा विशिष्टभ्राजनं वा विकलतया उभयमपि वैराग्यकार्यं भवति। शरीरेण विराजमानम्। ततो वैराग्यस्वरूपमाह **प्रभिन्नमिव वारणमिति**। स ह्यमर्यादो भवति, यः प्रकर्षेण भिन्नः स्रवन्मदः। एवं कारणफलसहिताः षड्गुणा भगवति निरूपिताः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—'गायन्तं' विशेषण से ज्ञान की फल रूप स्वानन्द की पूर्णता दिखाई 'वारुणी पीत्वा' वारुणी पीकर गा रहे थे, इससे ज्ञान का फल जो देह की विस्मृति है, यह दिखाया, इसी प्रकार दो प्रकार का ज्ञान फल कहा, मद से लोचन विह्वल हो रहे थे, वैराग्य की फलरूप बाहर की ज्ञान दृष्टि निरूपण की है। 'विभ्राजमानं व पुषा' इस पद से शरीर से पूर्ण शोभायमान कह कर यह बताया है कि दोनों वैराग्य के कार्य हैं, पश्चात् वैराग्य का स्वरूप वर्णन करते है 'प्रभिन्नमिव-वारणम्' वह हस्ति जिसका मद जल स्रव रहा है अमर्यादित होता है, इसी भांति आप भी अमर्यादित थे, ऐसे बलरामजी में कारण फल सहित छ गुण निरूपण किये ॥१०॥

आभास—एतादृशमपि दृष्ट्वा स्वदौष्ट्यं प्रकटितवानित्याह **दुष्टः शाखामृग** इति ।

आभासार्थ—ऐसे बलरामजी को देख कर भी अपनी दुष्टता प्रकट करने लगा जिसका वर्णन 'दुष्टः शाखामृगः' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—**दुष्टः शाखामृगः शाखामारूढः कम्पयन् द्रुमान् ।**
चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदर्शयन् ॥११॥

श्लोकार्थ—दुष्ट वानर शाखा पर चढ़कर वृक्षों को कम्पाने लगा और अपना गुप्त अङ्ग दिखाता हुआ किलकिला ध्वनि करने लगा ॥११॥

सुबोधिनी—भगवन्तं दृष्ट्वा किलकिलाशब्दं चक्रे । तज्जातीयशब्दः तादृशः । यदा स्वस्मिन्महत्त्वबुद्धिर्भवति,तदा स्वजातिशब्दं कुर्वन्ति । प्रकृते तु भगवन्तमपि दृष्ट्वा तथाकरणे हेतुर्दुष्ट इति । दोषस्तस्य सहज इति ख्यापयितुं **शाखामृग** इति । भूमिं भूरुहं वा नाश्रयति, किन्तु शाखा एव । शाखां चारूढ इति स्वल्पः स्वस्थाने स्थितो मत्तो भवतीति सूचितम् । **द्रुमान् कम्पयन्निति** । स्वाश्रयाश्रयाणामप्यवगणना निरूपिता । तादृशस्येश्वरावगणना युक्तेति । निलीय रसजननार्थमपि तथा कुर्यादिति पक्षं व्यावर्तयितुमाह **आत्मानं सम्प्रदर्शयन्निति** । स्वस्वरूपं गुह्यदेशं वा ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् राम को देख कर किल किला शब्द करने लगा, यह किल किला शब्द उसकी जातीय ध्वनि है जब अपने को वे महान् समझते हैं तब इस प्रकार ध्वनि करते हैं, प्रकृत विषय में तो भगवान् को भी देख कर वैसे ही करने का कारण इसकी दुष्टता है, इसलिये इसको 'दुष्ट.' दुष्ट विशेषण दिया है, यह इसका स्वाभाविक दोष है इसलिये इसको शाखा मृग कहा है, पृथ्वी वा वृक्ष का आश्रय नहीं करता है, किन्तु शाखा का आश्रय लेता है, इसलिये शाखा पर बैठा, क्योंकि तुच्छ, छोटे स्थान पर स्थित होकर भी मदवाला हो जाता है, यों कहने से यह सूचन किया है, पेड़ों को कम्पाने लगा, इससे यह सूचित किया है कि दुष्ट जो होते हैं अपने आश्रय देने वालों को भी जो आश्रय देते है उनका भी तिरस्कार करते हैं अर्थात् उनकी भी अवगणना करते हैं-ऐसे को ईश्वर की अवगणना करना योग्य ही है, अर्थात् उसने अपनी योग्यतानुसार कार्य किया हैं, छिप कर रस पैदा करने के लिये भी वैसा करे वा करना चाहिये इस पक्ष को बदलने के लिये कहते हैं 'आत्मानं सम्प्रदर्शयन्' अपना स्वरूप अथवा गुह्य (गुप्त) भाग दिखाता हुआ यों करने लगा ॥११॥

आभास—अल्पस्यैवंकरणमयुक्तमिति भण्डमिव तं दृष्ट्वा केवलेन तेन क्षोभो न भवेदपीति स्त्रीणां हास्यमाह **तस्य धाष्टर्यं कपेर्वीक्ष्येति** ।

आभासार्थ—तुच्छ जीव को यों करना योग्य नहीं है, उसको भण्ड समझ कर केवल इस कार्य से श्री राम को क्षोभ न भी होवे, इसलिये स्त्रियों से हास्य करने लगा, जिससे राम को क्षोभ होवे जिसका वर्णन 'तस्य धाष्टर्यं श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**तस्य धाष्टर्यं कपेर्वीक्ष्य तरुण्यो जातिचापलाः ।**
हास्यप्रिया विजहसुर्बलदेवपरिग्रहाः ॥१२॥

श्लोकार्थ—स्वभाव से चपल वे तरुण स्त्रियाँ उस कपि की धृष्टता देखकर हँसने लगी; क्योंकि उनको हास्य प्रिय था एवं बलरामजी की स्वीकृत स्त्रियाँ थीं ॥१२॥

सुबोधिनी—तस्यापराधकरणाद्वध्यस्य । **कपेः**-स्तुच्छजीवस्य । धाष्टर्यं तथाकरणम् । वीक्ष्य । तरुण्यो जात्यैव चपलाः, वयोऽपि स्वभावोऽपि तासामस्थिरतां सम्पादयतीति । हास्यमेव प्रियं यासामिति इन्द्रियान्तःकरणधर्मोऽपि तादृश इति। बलदेवस्य निर्भयस्य पूर्वोक्तस्य वा परिग्रहाः विवाहिताः स्त्रियः सर्वथा निर्भयाः । अनियमकानां चतुर्विधगुणानां विद्यमानत्वात् विजहसुः । रामस्तु न किञ्चिदुक्तवान्, गणनाया एवाभावात्। ॥१२॥

व्याख्यार्थ—अपराध करने से, वधार्ह उस तुच्छ जीव कपि का यों करना देख कर, तरुण स्त्रियां जो जाति से ही चञ्चल होती हैं, और उनका वय तथा स्वभाव भी अस्थिरता पैदा करता है, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण का धर्म भी उनका वैसा ही हैं, जिससे उनको हास्य ही प्रिय है और वे निर्भय अथवा पूर्वोक्त बलदेवजी की विवाहित स्त्रियाँ होने से, सर्व प्रकार से निर्भय थीं, नियम को उल्लङ्घन करनेवाले चार प्रकार के गुण उनमें विद्यमान थे, जिससे वे अच्छी तरह हँसने लगीं, श्री राम ने तो कुछ भी नहीं कहा क्योंकि वानर के इस कार्य को ध्यान के योग्य न समझ उपेक्षा करदी ॥१२॥

आभास—उभयमपि स्वस्य हीनत्वापादकमिति तासामवगणनां कृतवानित्याह **ता हेलयामासेति** ।

आभासार्थ—स्त्रियों का यों करना एवं अपने कार्य की श्री बलदेव ने उपेक्षा की ये दोनों अपनी हीनता के द्योतक हैं, यों समझ उन स्त्रियों की अवगणना करने लगा, जिसका वर्णन 'ता हेलयामास' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—**ता हेलयामास कपिर्भ्रूक्षेपैः सम्मुखादिभिः ।**
दर्शयन् स्वगुदं तासां रामस्य च निरीक्षतः ॥१३॥

श्लोक—वह वानर श्रीराम के देखते हुए उन स्त्रियों को अपनी गुदा दिखाकर भौंह चढ़ाने और सन्मुख आने आदि क्रियाओं से उनका अपमान करने लगा ॥१३॥

सुबोधिनी—अवहेला मुखतः जातिचेष्टाभिरित्याह । भ्रूक्षेपैः तिर्यक् निरीक्षणयुक्तैः । सम्यक् मुखं यत्रेति सम्मुखादिभिर्विकारैः । परितोऽग्रतश्च हेलनमुक्त्वा पृष्ठतोऽप्याह **दर्शयन्स्वगुदं तासामिति** । तूष्णींभावेनावगणित इति रामस्याप्यवहेलनं कृतवानित्याह **रामस्य च निरीक्षत**

इति । निरीक्षतः सतस्तासामपि निरीक्षतीनां सतीनाम् । दर्शने सर्वेषां साधारणस्यापि सङ्कोचो भवति । अस्य तु तथात्वेऽपि न जातमिति दोषं वक्तुं वर्णितम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ – उन स्त्रियों का तिरस्कार वा अपमान मुख से तथा जाति की चेष्टा से करने लगा, जैसे कि भौंह चढ़ाने से सन्मुख आकर विकृत चेष्टाओं से, इस प्रकार का सन्मुख अपमान कह कर, अब पीठ से भी करने लगे वह कहते हैं कि उनको अपनी गुदा दिखाने लगा, जिससे राम का भी मानो तिरस्कार किया क्योंकि यह सब चेष्टाएँ राम देख रहे थे और वे भी इस प्रकार की अयोग्य चेष्टाएँ देख रही थीं, ऐसी चेष्टाओं के देखने से साधारण जीव को भी सङ्कोच (लज्जा, हिचक) होता है, इसको तो यों करने में किसी प्रकार हिचक न आई. इसलिये इसका अपराध दिखाने के लिये ऐसी क्रिया का वर्णन किया । १३॥

आभास—ततो विचारमकृत्वैव अल्पदोषे अल्पैव शिक्षेति वा ज्ञापयितुं पाषाणप्रक्षेपमात्रं कृतवानित्याह **तं ग्राव्णेति** ।

आभासार्थ—श्री राम विचार करने के बिना अपने अल्प अपराध के लिये अल्प ही शिक्षा देनी चाहिये, इसलिये वानर पर पाषाण फेंकने लगे, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तं ग्राव्णा प्राहरत्क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः ।
स वञ्चयित्वा ग्रावाणं मदिराकलशं कपिः ॥१४॥
गृहीत्वा हेलयामास धूर्तस्तं कोपयन् हसन् ।
निर्भिद्य कलशं धृष्टो वासांस्यास्फोटयद्बलम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—प्रहार करनेवालों में उत्तम क्रुद्ध बलरामजी ने उस पर पाषाण से प्रहार किया, वह धूर्त वानर अपने को पत्थर प्रहार से बचाकर श्रीराम का मदिरा का कलश ले गया और यों करने से बलराम का अपमान कर यों हँसने लगा, जैसे बलरामजी को क्रोध उत्पन्न हो, फिर उस कलश को तोड़ डाला और स्त्रियों के वस्त्र फाड़ने लगा एवं बलदेवजी के सामने मल्लों के समान भुजाओं पर थपेड़ करता हुआ लड़ने के लिए उनको बुलाने लगा ॥१४-१५॥

सुबोधिनी—वानराः कृतोपकारा दयाविषयाश्चेति उपेक्षां परित्यज्य किमिति ग्राव्णा प्राहरत्, तत्राह क्रुद्ध इति । क्रोधे तस्याल्पस्य महदतिक्रमो हेतुः । अनावेशात् हलमुशलस्मरणात्पूर्वं सर्वं कृतवान् । तेन नाविचारकृतो दोषः । बल इति । तस्य माहात्मयं ज्ञात्वापि स्वस्य बलिष्ठत्वादेव तथा कृतवान् । काकादिष्विव केवलं निवारणार्थंतां प्रहरणस्य निवारयति प्रहरतां वर इति । ततस्तेनैव व्यथितो भवेदिति तथा प्रकारं कृतवान् । स तु पूर्वं परमेश्वरस्य भक्त आसीदिति भगवत्कृपयैव तस्य जातं सामर्थ्यमनुवदति स वञ्चयित्वेति । तस्योद्धतस्य स्वत एव मरणार्थं प्रवृत्तस्य अपराधे असह्ये क्रोधान्मारणमिति वक्तुं तादृशमतिक्रममाह **ग्रावाणं वञ्चयित्वा मदिराकलशं गृहीत्वा हेलयामासेति** । यतो धूर्तः । पानव्यसनिनां तदपहारे महान् क्रोधो भवतीति जानाति । अपकारार्थं नेदं करणम्, किन्तु कोपयन् । केवलं कोपार्थतापदर्शनार्थं हसन् । तर्हि पानार्थं नयन भविष्यतीत्याशङ्क्य अग्रे तत्कृतं चरित्रमाह **निर्भिद्येते** । कलशं निर्भिद्य । तथा कृते जीवनमपि गमिष्यतीति शङ्काभावायाह । ततः स्थापितानि जलक्रीडोत्तरं परिधेयानि स्त्रीणां बलस्य च वासांसि च निर्भिद्य, बहुधा छित्त्वा, ततो बलमास्फोटयत् । मल्ल इव युद्धाकारणार्थं बाहुस्फोटं कृतवान् ॥१४॥१५॥

व्याख्यार्थ—वानरों ने तो राम का बहुत उपकार किया है और जाति से दया के पात्र हैं इस लिये उनके दोषों की तो उपेक्षा करनी चाहिये, वह न कर, उस पर पाषाण से प्रहार करने लगे, इस पर कहते हैं, कि उसके इस प्रकार के अयोग्य कार्य देख क्रोध में आ गये छोटा होकर बड़े का अपमान करना ही क्रोध होने का कारण है. उस समय आवेश न होने से हल मुसल को स्मरण करने से प्रथम यह सर्व किया, जिससे बिना विचार से किये हुए कार्य का दोष नहीं, क्योंकि स्वयं बलदेव हैं, उसका माहात्म्य जान कर भी आपने उससे बलिष्ठ होने से ही यों किया, जैसे काकों को भगाने के लिये केवल पाषाण फैंकना ही अलं (काफी) है वैसे आप प्रहार करनेवालों में श्रेष्ठ होने से पाषाण प्रहार ही किया, यह इसलिये भी किया कि इससे ही थकित हो जाय तो अच्छा है विशेष दण्ड न देना पड़े । वह तो पहले भगवान् का भक्त था, इसलिये भगवत्कृपा से उसमें उत्पन्न सामर्थ्य का वर्णन करते हैं, वह उस सामर्थ्य से उद्गत हो गया था, जिससे मरण के लिये ही वह ऐसे दूषित कार्य करने में प्रवृत्त हुवा है जिससे वह ऐसा अपराध करने लगा जो असह्य हो । उससे उत्पन्न क्रोध से मार डाले, यह कहने के लिये उसके ऐसे कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं-कि पाषण के प्रहार से अपने को बचा कर श्रीबलदेवजी के मदिरा का कलश लेकर उनका उपहास करने लगा क्योंकि धूर्त है, जो मदिरा पान करते हैं, वे मदिरा को चुराने वाले पर बहुत क्रोध करते हैं इस बात को वह धूर्त जानता है अपने अपकार के लिये यों नहीं किया, किन्तु क्रोधित करने के लिये अर्थात् चिढ़ाने के लिये यों किया है, बलरामजी क्रोध प्रदर्शित करें इसलिये ही हँसने लगा, तो मदिरा पीने के लिये वह कलश लिया होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, वह घड़ा तो फोड़ दिया जिससे मदिरा बह गई, यों करने से जीवन भी जायगा ? इस शङ्का के मिटाने के लिये कहते हैं कि ऐसा विचार उस वानर को नहीं आया जिससे वह अन्य अपराध करने लगा । बलराम और स्त्रियों ने जल क्रीड़ा के अनन्तर पहनने के लिये जो वस्त्र रखे थे वे उठा कर फाड़ डाले, पश्चात् मल्लों के समान भुजाओं पर थपकी करता हुआ बलरामजी को युद्ध के लिये आह्वान करने लगा ॥१४-१५॥

आभास—नन्वल्पः कथमेवं करोतीत्याशङ्क्याह **बलवानिति** ।

आभासार्थ—अल्प होकर इस प्रकार कैसे करता है ? इस शङ्का की निवृत्ति बलवान् कह कर करते है ।

श्लोक—कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः ।
तं तस्याविनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ॥१६॥

श्लोकार्थ—वह वानर अपने को बलवान् समझकर मद से उद्धत हो गया, जिससे बलदेवजी का अपमान करने लगा उसका यह अविनय (घमंड) देख और देशों में किये उपद्रवों का भी स्मरण कर विचार किया ॥१६॥

सुबोधिनी—ननु बलोऽपि बलवान्, नहि तुल्येऽप्येवं क्रियते, तत्राह **कदर्थीकृत्येति** । तुच्छीकृत्य । तदपि स्वमनस्येवेति वक्तुमाह **मदोद्धत** इति । **विप्रचक्रे** अपकारं कृतवान् । ततो बलः विचारपूर्वकं भगवदाविष्टः तद्वधार्थं यत्नं कृतवानित्याह **तं तस्याविनय**मिति । वस्तुतस्त्विदं द्वारमात्रम्, मुख्यस्तु अपराधः तदुपद्रुतान् देशान् विलोक्येति । यद्यपि पूर्वं दृष्टम्, तथापीदानीं स्मृतमित्येके । इदानीमेव भगवदावेश इति । तस्य चापरोक्षज्ञानमेव सर्वत्रेति इदानीमेव दृष्ट्वेति युक्तम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—यदि यह बलवान् है तो बलदेवजी भी तो बलवान हैं, अतः समान बल वालो में भी इस प्रकार अवहेलना नहीं की जाती है, इस पर कहते हैं कि वह वानर मद से उद्गत हो गया था जिससे अन्तःकरण में बलदेवजी को मन में ही तुच्छ समझ, अपमान करने लगा, यों होने के अनन्तर बलराम भगवान् से आविष्ट हो विचारपूर्वक उसके वध के लिये प्रयत्न करने लगे. उसकी अनम्रता देखी, किन्तु यह अपराध तो द्वार मात्र है, मुख्य अपराध तो वह है, जो इसने देशों में उपद्रव किये थे, 'ये देश द्रोह तो पहले ही देखे थे अब तो स्मरण हो आये यों कोई कहते हैं' इस काल में ही बलराम में भगवदावेश हुआ है, उनको तो सर्वत्र अपरोक्ष ज्ञान है ही, इसलिये 'इदानीमेव दृष्टवा' कहना उचित ही है ॥१६॥

आभास—भगवता सहैव मुसलादीनामप्यागमनात् मुसलं हलं च तज्जिघांसया आधत्त । आयुधवच्चिह्नार्थमग्रहणमाह क्रुद्ध इति ।

आभासार्थ—भगवान् के आवेश होने के साथ ही मुसल आदि भी आ गये, इसके मारने की इच्छा से उनको धारण किया । आयुध की तरह चिन्ह के लिये ये धारण नहीं किये, जिसका वर्णन 'क्रुद्धो मुसलमाधत्त' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—क्रुद्धो मुसलमाधत्त हलं चारिजिघांसया ।
द्विविदोऽपि महावीर्यः शालमुत्पाट्य पाणिना ॥१७॥

श्लोकार्थ—क्रोधित श्री बलरामजी ने शत्रु को मारने की इच्छा से मुसल और हलको धारण किया, द्विविद ने भी एक हस्त से शाल वृक्ष को उखाड़ कर यह दिखाया कि मैं भी महान् पराक्रमी हूँ और लड़ने के लिये उसको ले लिया ॥१७॥

सुबोधिनी—भक्तत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थमरीति । चकारात् अन्येऽपि धर्मा भगवता आविष्कृता इति द्विविदोऽपीति । युद्धं वक्तुं तस्य प्रसिद्धनामग्रहणम् । **महावीर्य** इति । रामायणादौ तत्पराक्रमो निरूपितः स्मार्यते, युद्धस्मरणाभिनिवेशाय । अलौकिकं बलमपि ज्ञातव्यम् । तावतापि न निवृत्त इति अक्लिष्टकर्मत्वं भगवतो वदन्नाह एकेन पाणिना शालवृक्षमुत्पाट्येति बलस्य कार्यम्, न तु केवलं प्रशंसापरमिति ज्ञापयितुम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'अरि' शब्द देकर यह सूचित किया है कि द्विविद इस समय भक्त नहीं है किन्तु शत्रु है, 'च' पद से यह बताया है कि भगवान् ने अपने अन्य धर्म भी प्रकट किये हैं इसलिये अलौकिक बल भी है यों समझना चाहिये, इतने से भी वह निवृत्त न हुआ, इस प्रकार भगवान् का अक्लिष्ट कर्मत्व बताते हुए कहते हैं कि 'द्विविदोऽपि' द्विविद भी बली है, उसको युद्ध करना है, इसलिये उसका प्रसिद्ध नाम कहा है, रामायण आदि में उसके पराक्रम कहे गये हैं उनका स्मरण कराने के लिये 'महावीर्यः' विशेषण दिया है, अर्थात् यह महान् पराक्रमी बलवान् है, युद्ध का स्मरण हो आने से यों कहा है-एक हस्त से शाल वृक्ष को उखाडना बल का कार्य है, यह कहना वास्तविक है न कि प्रशंसा के लिये है ॥१७॥

श्लोक—अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् ।
तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा ॥१८॥

श्लोकार्थ—उस द्विविद ने शीघ्र निकट आकर वह वृक्ष बलरामजी के मस्तक पर पटका, मस्तक पर पटके हुए वृक्ष को बलदेवजी ने यों समझा जैसे पर्वत पर वृक्ष गिरा ॥१८॥

सुबोधिनी—**अभ्येत्य** निकटे समागत्य, **तरसा** रामोद्यमात्पूर्वमेव **तेन** शालेन **मूर्ध्नि प्रदेशे अताडयत्**, गृहीत्वैव लकुटेनेव ताडितवान् । बलपदाच्छ्रोतुर्भयाभावः **सूचितः** । ततस्तन्निराकरणमाह तं तु सङ्कर्षण इति । पर्वते वृक्षप्रक्षेपः न पर्वतस्य भयजनक इति । मूर्ध्नि पतन्तमपि वृक्षं यथा **अचलः** पर्वतो गृह्णाति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—पास आकर राम के उद्यम करने से प्रथम ही उस शाल से बलदेवजी के मस्तक पर चोट की, शाल को लकड़ी की तरह लेकर प्रहार किया, राम का नाम बल इसलिये दिया है कि श्रोता को भय न हो, पश्चात् उसके निराकरण के लिये कहा कि 'तं तु सङ्कर्षण' उस प्रहार को बलदेवजी ने यों समझा जैसे पर्वत पर वृक्ष गिरे तो पर्वत को किसी प्रकार भय पैदा नहीं करता है वैसे सङ्कर्षण को भी इससे कुछ भी भय न हुआ ॥१८॥

श्लोक—प्रतिजग्राह बलवान् सुनन्देनाहनच्च तम् ।
मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ॥१९॥

श्लोकार्थ—द्विविद के इस वृक्ष को बलदेवजी ने हाथ से पकड़ लिया, और अपने सुनन्द नामक मुसल से उस पर प्रहार किया, जिससे उसके मस्तक की अस्थि भी टूट गई इसलिये रक्त की धारा से वह सुशोभित हो गया ॥१९॥

सुबोधिनी– तस्य हि वृक्षा लोमप्रायाः तं हस्तेन गृहीतवान्, वञ्चनेऽपि भूमिस्ताडिता भवतीति । ततः सुनन्देन मुसलेन **तमाहनत्** हतवान् । चकारात् वृक्षमपि तेनैव हत्वा तदुपरि प्रक्षिप्तवान् । तस्य वृक्ष इव मुसलमपि कार्यव्यभिचारि भविष्यतीत्याशङ्क्याह **मुसलाहतमस्तिष्क** इति । मस्तिष्कं मस्तकास्थि । ततो रुधिरप्रवाहोऽपि जातः । तेनापि विरेजे, ननु मूर्च्छितः, हतो वा ॥१९॥

व्याख्यार्थ– उसके वृक्ष प्रायः रोवांवाले थे, उनको बलरामजी ने हाथ से थाम लिया, यदि न थामते तो भूमि ताडित होती, भूमि भी ताड़ित न हो इसलिये थामना ही उचित था, पश्चात् सुनन्द मुसल से उसको पीटा, 'च' शब्द का आशय है कि वृक्ष को भी तोड़कर उस पर फेंका, उसके वृक्ष की तरह मुसल भी कार्य व्यभिचारी होगा ? यह शङ्का मिटाने के लिये कहते हैं कि मुसल ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया जिससे वह कार्य व्यभिचारी नहीं, जैसे की द्विविद के मस्तिष्क की अस्थि तोड़ डाली, उस से रुधिर की धारा भी बहने लगी, उस धारा से वह द्विविद शोभा पाने लगा, न मूर्छित हुआ और न मरा ॥१९॥

आभास––ननु प्रहारेण सकार्येण कथं शोभेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **गिरिर्यथा गैरिकयेति**

आभासार्थ—जिस प्रहार ने अस्थि प्रहार कर रक्त धारा बहायी उससे शोभा कैसे ? जिसके उत्तर में 'गिरिर्यथा गैरिकया' श्लोक में दृष्टान्त देकर समझाते है ।

श्लोक—गिरिर्यथा गैरिकया प्रहार नानुचिन्तयन् ।
पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पत्रमोजसा ॥२०॥

श्लोकार्थ—जैसे पर्वत गेरु की धारा से शोभा देता है वैसे यह भी शोभित हुआ, कपि ने प्रहार पर ध्यान न देकर दूसरा शाल का वृक्ष उखेड़, पराक्रम से उसके पत्ते तोड़ डाले ॥२०॥

सुबोधिनी—नन्वाकृतिसाम्येऽपि अन्तर्दुःखानुभवात् म्लानतैव युक्ता, न तु शोभेति चेत्, तत्राह **प्रहारं नानुचिन्तयन् रेज** इति पूर्वेण सम्बन्धः । उत्तरत्र वा **पुनरन्यं समुत्क्षिप्येति** । 'त्रिषत्या देवा' इति समानमपि युद्धं वारत्रयमुच्यते । त्रिर्यजुषेतिवत् । अन्यं मूलात्समुत्क्षिप्य निष्पत्रं च कृत्वा, अन्यथा सर्वाः शाखा अग्रभागे हस्ते धर्तुं न योग्या भवन्तीति मूलभागेन च ताडयितुं निष्पत्रकरणम् । **ओजसेति** शीघ्रम् । ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि पर्वत और मस्तक की साम्यता से शोभा कही जा सकती है तो भी अन्तःकरण में दुःख के अनुभव से म्लानता ही कहना उचित था, न कि शोभा, यदि यों कहते हो तो इसका यह उत्तर है, कि वानर ने प्रहार पर कुछ भी ध्यान न दिया जिससे उसको अन्तःकरण में दुःख का

अनुभव हुवा ही नहीं, इसलिये कहा कि 'रेजे' शोभावान् हुआ, पश्चात् फिर दूसरा वृक्ष मूल से उखाड़कर उसके पत्तों को तोड़ कर हाथ में ले लिया, यदि पत्र न तोड़ता तो सर्व शाखाओं को हस्त में ले नहीं सकता, वृक्ष को शाखाओं से पकड़ने का आशय यह था कि मूल भाग से प्रहार करना था, वह प्रहार भी शीघ्र किया, 'त्रिषत्या देवाः' के अनुसार, समान भी युद्ध तीन वार कहा जाता है ।२०।

श्लोक—तेनाहनत् सुसंक्रुद्धस्तं बलः शतधाभिनत् ।
ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाभिनत् ॥२१॥

श्लोकार्थ—वानर ने वृक्ष की जड़ से बलदेव पर प्रहार किया जिससे बलराम बहुत क्रोधित हो गये अतः उसके सैंकड़ों टुकड़े किये, पश्चात् उस वानर ने क्रोध में आकर दूसरे पेड़ से उनको मारा, बलदेवजी ने उसके भी सैंकड़ों टुकड़े बना दिये ।२१।

सुबोधिनी—सुतरां सम्यक् क्रुद्धः । प्रहारवीर्ययोराविर्भूतत्वात्तस्य प्रतिग्रहो न पौरुषायेति बलस्तं शतधाभिनत् विदीर्णं कृतवान् । तृतीयपर्याये पुनराह **ततोऽन्येनेति** ॥२१॥

व्याख्यार्थ– विशेष क्रुद्ध हुए, यह क्रोध, प्रहार तथा वीर्य दोनों से आविर्भूत होने के कारण से उसका प्रतिग्रह पौरुष के लिये नहीं था इसलिये बलरामजी ने उसके सैंकड़ों टुकड़े किये, तीसरी वार भी क्रोध से दूसरे पेड़ से मारने लगा, उसके भी सैंकड़ों खण्ड बनाये ॥२१॥

आभास—ततोऽनन्तयुद्धमतिदिशति एवं युध्यन्निति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर 'एवं युध्यन्' श्लोक से अनन्त युद्ध कहते है ।

श्लोक—एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः ।
आकृष्य सर्वतो वृक्षान्निर्वृक्षमकरोद्वनम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार लड़ते हुए भगवान् फिर फिर पेड़ तोड़ देते थे, जिससे उस वानर ने चारों ओर से वृक्षों को उखाड़ सम्पूर्ण वन पेड़ों से शून्य कर दिया ॥२२॥

सुबोधिनी—भगवता सह युध्यन् भगवतैव वृक्षे भग्ने क्रमेण सर्वेष्वेव वृक्षेषु पुनः पुनराकृष्य इक्षुदण्डमिव मूलादुत्पाट्य सर्वत्र एवंकरणेन वनं वनभूमिं निर्वृक्षमकरोत् । लतागुल्मादीनां विद्यमानत्वात् वृक्षमात्रमेव गतम्, न तु वनमेव ।२२।

व्याख्यार्थ– भगवान् से लड़ना था, इससें भगवान् ने ही क्रम से वृक्ष तोड़ डाले, जिससे उस वानर ने ईख के समान बार बार वृक्षों को जड़ से उखाड़ दिये, सब जगह यों करने से वन भूमि को वृक्ष रहित कर छोड़ा; लता गुल्म आदि के विद्यमान होने से वन तो रहा किन्तु पेड़ एक भी नहीं रहा ॥२२॥

आभास—ततः पाषाणवृष्टिं भग्नोद्यमः सन् कृतवानित्याह ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षमिति।

आभासार्थ—यों उद्यम के निष्फल होने पर पाषाण वृष्टि करने लगा, जिसका वर्णन 'ततोऽमुञ्चत्' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमर्षितः।
तत्सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ॥२३॥

श्लोकार्थ—पश्चात् वह बलराम पर चट्टानों की वर्षा करने लगा, मुसलायुधधारी बलरामजी ने उन सब चट्टानों को खेल से चूर्ण कर दिया ॥२२॥

सुबोधिनी—तत् प्रक्षिप्तं सर्वमेव चूर्णयामासेति तस्य साधनस्य भगवत्प्रतिकूलस्य पुनः साधनतां निवारयति। तत्र क्लेशमाशङ्क्याह **लीलयेति**। अलौकिकप्रकारं वारयितुमाह **मुसलायुध** इति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—वे फैंकी हुई सब चट्टानें चूर्ण कर दी, भगवत्प्रतिकूल उस साधन की, साधनता ही न रही, उनको साधन हीन बनाने में क्लेश तो हुआ होगा? जिसके उत्तर में कहते हैं कि लीलया' खेल से, अर्थात् जैसे खेल किया जाता है उसमें क्लेश नहीं होता है, वैसे ही चूर्ण करने में भी आपको क्लेश नहीं हुआ, तो, क्या अलौकिक प्रकार से यों किया? तो कहते हैं कि नहीं, 'मुसलायुधः' मुसल आयुध धारण किया था, जिससे यह खेल खेला है ॥२३॥

आभास—ततो भग्नसाधनो बाहुयुद्धार्थमागत इत्याह **स बाहू इति**।

आभासार्थ—अनन्तर जब सब साधन निष्फल हो गये तब भुजाओं से युद्ध करने के लिये आया, जिसका वर्णन 'स बाहू' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—स बाहू तालसाङ्काशौ मुष्टीकृत्य कपीश्वरः।
आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरूरुजत् ॥२४॥

श्लोकार्थ—उस कपिराज ने ताल वृक्ष के समान अपने भुजाओं के हस्तों को मुट्ठी बान्ध बलदेवजी के समीप आकर उनसे उनके वक्षःस्थल पर प्रहार किया ॥२४॥

सुबोधिनी—तालसङ्काशाविति दीर्घस्थौल्यपरुषत्वव्युक्तानि। मुद्गरवन्मुष्टीकरणम्। तथोद्यमे मोहितत्वं शङ्कितं व्यावर्तयितुमाह **कपीश्वर** इति। मारणपर्यन्तं तूष्णीं स्थित इति **रोहिणीपुत्रमित्युक्तम्**। ताभ्यां हस्ताभ्यां मिलिताभ्यां वक्षसि अरूरुजत्। पीडां कारितवान् ॥२४॥

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

द्विविद-उद्धार

व्याख्यार्थ—ताल के समान भुजा कहने का आशय यह है कि उसके सदृश भुजाएँ स्थूल, दीर्घ और कठोर थी, मुद्गर की तरह मुट्ठी बांधी, उद्यम करने में उसको कुछ भी भ्रम न हुआ, क्योंकि वानरों का राजा है, मारने तक (बलदेवजी) शान्त रहे, इसलिये रोहिणी पुत्र कहा है, बान्धे हुए मुक्के से छाती पर प्रहार किया, जिससे उनको पीडा होवे ॥२४॥

आभास—ततः स्वयमपि, अशस्त्रेण सह सशस्त्रो न युध्येदिति, स्वयममि त्यक्त्वा मुसललाङ्गल दोर्भ्यां जत्रावभ्यर्दयत्,तथा सामर्थ्ये धर्मज्ञाने च लौकिकमेव साधनमित्याह **यादवेन्द्र** इति ।

आभासार्थ—बलदेवजी को धर्म का ज्ञान है, इसलिये वे जानते थे कि जिसके पास शस्त्र न हो उससे शस्त्र वाले को शस्त्र से नहीं लड़ना चाहिये, वानर के पास शस्त्र नहीं था इसलिये आपने भी मुसल और हल त्याग दिये, सामर्थ्य होने पर बिना शस्त्र लड़ने लगे, जिसका वर्णन 'यादवेन्द्रोऽपि' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक— यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्भ्यां त्यक्त्वा मुसललाङ्गले ।
जत्रावभ्यर्दयत्क्रुद्धः सोऽपतद्रुधिरं वमन् ॥२५॥

श्लोकार्थ—बलरामजी ने भी हल मुसल त्याग, क्रोधकर, दोनों हाथों से हँसलियों को तोड़ डाला, जिससे वह रक्त उगलते हुए गिर पड़ा ॥२५॥

सुबोधिनी—यतः पूर्वमपि स रामभक्त इति तथा करणम् । **जत्रुः** कण्ठाधःस्थितमस्थि । तस्मिन्भग्ने म्रियत एवेति । अतो रुधिरं वमन् पतितः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—क्योंकि पहले भी वह राम भक्त था यों करना पड़ा, 'जत्रु' कण्ठ के नीचे स्थित अस्थि (हँसली को कहते है उसके टूटने पर प्राणी मरता ही है, अतः रुधिर उगलता हुआ गिर पड़ा ॥२५॥

आभास—तस्य पराक्रममुक्त्वा देहस्यापि महत्त्वमाह **चकम्प** इति ।

आभासार्थ—उसके पराक्रम को कह कर उसके देह का भी महत्व 'चकम्पे' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—चकम्पे तेन पतता सटङ्कः सवनस्पतिः ।
पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवाम्भसि ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे कुरुशार्दूल ! वह गिरने लगा, तब जैसे जल में वायु से नाव काम्पती है, वैसे ही शिखर और वनस्पतियों के साथ पर्वत काम्पने लगा ॥२६॥

सुबोधिनी—सटङ्कः प्रसिद्धः पर्वतः वनस्पतिसहितः । सम्यक् परिज्ञानार्थमेतदुक्तम् सर्वतश्चकम्पे । टङ्कशब्देन उपरितनो भागः वल्मीसदृशः वप्रापरपर्यायः । तत्सहितः पर्वत एव भवति । स पवत इति पाठस्तु सुगमः । विश्वासार्थं सम्बोधनम् । अधिकदोलनार्थं दृष्टान्तः । तत्रत्यानां भयोत्पादनार्थं वा । तेन तस्मिन् पतिते सर्वाः स्त्रियो रामभालिङ्गितवत्य इति कामरसेन मध्ये न विघ्नः, किन्तु तत्पोषक एव जात इति फलितार्थः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—वनस्पति सहित वह प्रसिद्ध पर्वत, उसका पूर्ण परिज्ञान हो, इसलिये यों कहा है, चारों तरफ काम्पने लगा टङ्क शब्द ऊपर का भाग शिखरादि समझना, शिखरादि होने पर ही पर्वत कहा जाता है, 'स पर्वत' यह पाठ तो सरल है, 'कुरुशार्दूल' यह सम्बोधन विश्वास के लिये दिया है, जैसे जल में वायु से नौका काम्पती है यह दृष्टान्त, वहां स्थिति करने वालों को भय उत्पादन करने के लिये दिया है अथवा पर्वत बहुत काम्पने लगा इसलिये दिया है उसके गिरने से जब पर्वत काम्पने लगा, तब डर कर सर्व स्त्रियों ने राम का आलिङ्गन किया. यों करने से काम रस से मध्य में विघ्न न पड़ा, किन्तु वह भय रस का पोषक ही हुआ यों फलितार्थ निकला ॥२६॥

आभास— भक्तत्वादल्पत्वाच्च कदाचिदयुक्तो भवेदिति देवानां सम्मतिमाह **जयशब्द** इति ।

आभासार्थ – भक्त होने से तथा अल्प होने से कदाचित् यह कार्य अनुचित हो, तो दिखाते हैं कि अनुचित नहीं है, क्योंकि देवताओं की इस कार्य में सम्मति है, वह 'जयशब्दो' श्लोक से स्पष्ट वर्णन करते हैं ।

श्लोक—जयशब्दो नमःशब्दः साधु साध्विति चाम्बरे ।
सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत्कुसुमवर्षिणाम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—उस समय आकाश में देवता, सिद्ध और मुनि श्रेष्ठ जय शब्द, नमः शब्द और साधु साधु शब्द करने लगे और उन्होंने पुष्प बरसाये ॥२७॥

सुबोधिनी—उत्कृष्टानां जयशब्दः, मध्यमानां नमःशब्दः, शिष्टः साधुशब्द इति त्रिविधानामपि सम्मतिरुक्ता । पूर्वं जयशब्दः आशीरूपः, पश्चान्मारणार्थं प्रार्थनारूपो नमःशब्दः,साधु साध्विति मारणानन्तरम् । दिवीत्यन्यथावचने ततः पात एव भवेदिति सूचितम् । **सुरसिद्धमुनीन्द्राणामिति** त्रिविधानामपि तथात्वम् । **कुसुमवर्षिणामिति** । कायिको व्यापारः । एवं सर्वात्मना देवानामनुमोदनमुक्तम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—बलदेवजी के द्विविद को मारने में देव आदि सर्व की सम्मति है जिससे उत्कृष्टों ने जय शब्द का उच्चारण किया, मध्यमों ने नमः शब्द कहा शेष साधु साधु कहने लगे, प्रथम जो जय शब्द कहा वह आशीर्वादरूप है, अर्थात् देवता आदि ने आशीर्वाद दी है, अनन्तर जो नमः शब्द कहा जिससे वानर को मारने के लिये बलदेवजी को प्रार्थना की है और मरने के बाद 'साधु साधु' शब्द

बधाई एवं हर्ष का द्योतक है, 'आकाश' में यदि असत्य बोलें तो पात हो जाय देव, सिद्ध और मुनिवर तीनों का भी वैसा ही है, तीनों ने ही कुसुम बर्साये, यह उनका कायिक[1] व्यापार था, इस तरह सब प्रकार से देवों ने अनुमोदन किया, यह कहा है ॥२७॥

आभास—भूमिष्ठानामप्याह एवं निहत्य द्विविदमिति ।

आभासार्थ—भूमि पर स्थिती का भी अनुमोदन एवं निहत्य' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम् ।
संस्तूयमानो भगवान् जनैः स्वपुरमाविशत् ॥२८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब लोक नाश करने वाले द्विविद को मार कर अपनी पुरी की तरफ आते थे तब जनता ने आपके यश का गान किया, उसको सुनते हुए पुरी में प्रवेश किया ॥२८॥

सुबोधिनी—हनने हेतुर्जगतो व्यतिकरं नाशमावहतीति । अत एव जनैः संस्तूयमानः । एतावत्त्वोपपत्तिर्भगवानिति । पूर्वं तस्य प्रत्यापत्तिरुक्तेति । मध्ये भगवतः कार्यं पतितम् । अग्रेऽपि तथा पतिष्यतीत्याशङ्क्य तस्य द्वारकाप्रवेश उच्यते स्वपुरमाविशदिति ॥२८॥

व्याख्यार्थ—द्विविद के मारने का कारण दिखाते हैं कि जगत् को पीड़ा करने वाला तथा नाशकर्ता था इस कारण से जनता ने स्तुति की है, इतना ऐसा कार्य करने में उपपत्ति यह है कि 'भगवान्' हैं प्रथम उसकी प्रत्यापत्ति नहीं कही है, मध्य में भगवान् का कार्य आके पड़ा, आगे भी पड़ेगा, यह शङ्का कर, उसकी निवृत्ति के लिये कहा है कि आपने अपनी पुरी द्वारका में प्रवेश किया ।२८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे सप्तदशोध्यायः ॥१८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६४वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्विक प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का चौथा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

१—शरीर से यह कार्य हुआ, ऊपर जय शब्द आदि वाणी का व्यापार है ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

"द्विविद वध"

राग मारू —

द्विविद करि क्रोध हरिपुरी आयौ ।
नृप सुदच्छिन जरयौ, जरी बारानसी,
घाइ घावन जबै कहि सुनायौ ।
द्वारिका माहिं उतपात बहु भाँति करि,
बहुरि रैवत अचल गयौ धाई ॥
तहाँ हूँ देखि बलराम की सभा कौं,
करन लाग्यौ निडर ह्वै ढिठाई ॥
लख्यौ बलराम यह सुभट बलवंत कोउ,
हल मुसल सस्त्र अपनौ सँभारयौ ।
द्विविद लै साल कौ वृच्छ सनमुख भयौ,
फुरति करि राम तन फटकि मारयौ ॥
राम हल मारि सो वृच्छ चुरकुट कियौ,
द्विविद सिर फूटि गयौ लागत ताकैं ।
बहुरि तरु तोरि पाषान फेंकन लग्यौ,
बल मुसल करत परहार वाकैं ॥
वृच्छ पाषान कौ नास जब ह्वाँ भयौ,
मुष्टिका जुद्ध दोऊ प्रचारी ॥
राम मुष्टिक लगैं गिरयौ सो धरनि पर,
निकसि गए प्रान सुधि बुधि बिसारी ॥
सुरनि आकास तैं पुहुप बरषा करी,
करि नमस्कार जै जै उचारे ।
देवता गए सब आपनें लोक कौं,
सूर प्रभु राम निज पुर सिधारे ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ६८वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ६५वाँ अध्याय
उत्तरार्ध १९वाँ अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"पञ्चम अध्याय"

कौरवों पर बलरामजी का कोप और साम्ब का विवाह

कारिका—**अत्यलौकिकमाश्चर्यचरित्रमधुनोच्यते ।**
एकोनविंशे रामस्य सर्वलोकातिशायिनः ॥१॥

कारिकार्थ—अब इस उन्नीसवें अध्याय में सर्व लोकातीत श्रीराम का अति अलौकिक और आश्चर्य उत्पन्न करने वाला चरित्र कहा जाता है ॥१॥

कारिका—**एवं रामस्य कृष्णस्य त्रितयं त्रितयं द्वयोः ।**
चरित्रमीरितं च स्यात् षड्गुणानां विभागकृत् ॥२॥

कारिकार्थ—इस प्रकार राम और कृष्ण दोनों के षड्गुणों के विभाग करने वाले तीन-तीन प्रकार के चरित्र कहे हुए हैं ॥२॥

कारिका—**धर्मः सिद्धो भगवति कामः सिद्धस्तथापरे ।**
अद्वितीयहरित्वं तु कृष्णे सिद्धं फलत्वतः ।।३।।

कारिकार्थ—भगवान्[1] में धर्म सिद्ध है, वैसे अन्य[2] में काम सिद्ध है, फलत्व से अद्वितीय हरित्व तो कृष्ण में सिद्ध है ।।३।।

कारिका—**जगद्दोषनिवृत्तिस्तु रामे सिद्धा हि साधने ।**
अलौकिकं साधनस्थं रामे कृष्णे फलं तथा ।।४।।

कारिकार्थ—साधन द्वारा जगत् के दोष की निवृत्ति राम में ही सिद्ध है, जैसे साधन में स्थित अलौकिकत्व राम में है, वैसे कृष्ण में अलौकिक फल स्थित है ।।४।।

कारिका—**अत्रावान्तरभेदानां धर्मिणः पृथगीरिताः ।**
विभागज्ञापनार्थाय यथैवं विनिरूप्यते ।।५।।

कारिकार्थ—यहाँ अवान्तर भेदों के विभागों को समझाने के लिए जैसे धर्मी पृथक् कहे हैं, वैसा विशेष प्रकार निरूपण किया जाता है ।।५।।

कारिका—**यमुनायां पर्वते च कृतं पूर्वं निरूपितम् ।**
गङ्गायामपि यत्कार्यं तदत्र स्फुटमुच्यते ।।६।।

कारिकार्थ—यमुनाजी और पर्वत पर जो किया, वह पहले निरूपण किया है, गङ्गा पर जो कार्य किया है, वह अब स्पष्ट कहा जाता है ।।६।।

कारिका—**लक्ष्मणोद्वहने बद्धः साम्बो रामेण मोचितः ।**
निगृहीता विपक्षाश्च तदत्र विनिरूप्यते ।।७।।

कारिकार्थ—लक्ष्मणा को ले आने पर साम्ब का जो बन्धन हुआ, उससे उसको राम ने छुड़ाया और शत्रुओं को पकड़ा, वह चरित्र यहाँ वर्णन किया जाता है ।।७।।

—: इति कारिका सम्पूर्ण :—

१—बलराम में, २—श्रीकृष्ण में

आभास—पूर्वाध्याये दुष्टनिवारणलक्षणं चरित्रमुक्त्वा शिष्टशिक्षणरूपं चरित्रमाह । तत्र साम्बाहृतलक्ष्मणा प्रसङ्गभूता निरूप्यते **दुर्योधनसुतामिति** ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में दुष्टों का निवारण किया, ऐसे चरित्र को कहा, अब शिष्टों को शिक्षा दी है वह चरित्र कहते हैं उस प्रसङ्ग में साम्ब ने जो लक्ष्मणा का हरण किया जिसका निरूपण 'दुर्योधन सुतां' श्लोक में करते हैं

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**दुर्योधनसुतां राजन्लक्ष्मणां समितिंजयः ।**
स्वयंवरस्थामहरत्साम्बो जाम्बवतीसुतः ।।१।।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! युद्ध में विजय पाने वाले जाम्बवती के पुत्र साम्ब ने स्वयंवर में स्थित दुर्योधन की कन्या लक्ष्मणा का हरण किया ।।१।।

सुबोधिनी—राजन्निति राजकन्यायाः स्वयंवर एव धर्म इति ज्ञापयति । लक्षणैर्विशिष्टेति लक्ष्मणा । सर्वत्र भगवदीयाः स्वयंवरे गच्छन्ति, तत्र सकामामकामां वा बलं विचार्याविचार्य वा हरन्ति । तथायमपि अविचार्यैव स्वयंवरस्थाने तूष्णीं स्थितामहरत् । **समितिंजय** इति तस्य धार्ष्ट्ये हेतुः । **जाम्बवतीसुत** इत्यविचारे ।।१।।

व्याख्यार्थ—राजन् ! इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि राजकन्या का स्वयंवर ही धर्म है, अतः उत्तम लक्षणों से युक्त होने से लक्ष्मणा नाम वाली दुर्योधन की कन्या भी स्वयंवर स्थान पर आकर मौन हो के स्थित थी, सब स्थानों पर जो भगवदीय क्षत्रिय है वे स्वयंवर में जाते हैं, वहां जाकर चाहने वाली अथवा न चाहने वाली को, अथवा बल और अबल का विचार किये बिना उसका हरण करते हैं, वैसे इस साम्ब ने भी बिना विचार के ही स्वयंवर स्थान में जो लक्ष्मणा चुप खड़ी थी उसका हरण किया, इस धृष्टता का कारण यह है कि सेना को जीतने वाला है, किन्तु विचार क्यों नहीं किया ? इस पर कहते हैं कि जाम्बवती ऋक्ष की पुत्री थी जिसका यह पुत्र है ऋक्ष जाति अविचारी होती है ।। १ ।।

आभास—एवं हरणे निमित्ते जाते कौरवाणां भगवन्मार्गोल्लङ्घनजातं अपराधं निरूपयति **कौरवाः कुपिता ऊचुरिति त्रिभिः** ।

आभासार्थ—साम्ब ने लक्ष्मणा का हरण किया, इस निमित्त से कौरवों ने भगवन्मार्ग उल्लङ्घन-रूप अपराध किया है, जिस का निरूपण 'कौरवाः कुपिता' से तीन श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—**कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्विनीतोऽयमर्भकः ।**
कदर्थीकृत्य नः कन्यामकामामहरद्बलात् ।।२।।

श्लोकार्थ—कौरव कुपित होकर कहने लगे कि यह बालक बहुत अविनीत है, हमको ध्यान में भी न लाकर बलपूर्वक उस कन्या का हरण कर गया है, जो इसको नहीं चाहती है ॥२॥

सुबोधिनी – पाण्डवा अपि कौरवाः, तथापि ते न तत्र तिष्ठन्ति यद्यपि भीष्मादयः भगवद्भक्ताः, तथापि मर्यादास्थिता इति शास्त्रव्यतिरेकेण भगवदीयानपि न मन्यन्ते। वरणानन्तरमेव कन्या तदीया भवतीति बलाद्धरणं सम्भाव्य कुपिता जाताः। कौरवा महान्तः कुलकर्मभ्यां श्रेष्ठाः। ऊचुः स्वगोष्ठ्यामेव। **दुर्विनीतोऽयमर्भक** इति। महतो बालकस्य विनयोऽपेक्ष्यते, तदत्र नास्तीति बन्धनेऽपि न दोष इति। अथवा। कैश्चिदुक्तं **दुर्विनीतोऽयमिति, कैश्चिदर्भक** इति। दोषाभावार्थमनेन हृतापि न दुष्यतीत्यपि सूचितम्। नहि बालकस्पृष्टा दुष्यति। ननु को दोषः, कुतो निवार्यत इति चेत्, तत्र दोषमाह **कदर्थी**कृत्येति। अस्मान् तिरस्कृत्य, क्षत्रियाणां मानं हृत्वा, नोऽस्माकं कन्या कुलीनानाम्। अनेन ऋक्षनप्ता न कुलीन इति सूचितम्। किञ्च। कन्याप्यकामा। वरणं दूरे, इच्छापि तस्या नास्ति। नन्ववश्यं केनचिन्नेया, देयैव च कन्या, तत्राह **बलादिति**। क्षत्रियाभासेभ्य एव बलिष्ठैर्नीयते बलात् ॥२॥

व्याख्यार्थ – पाण्डव भी कौरव हैं किन्तु वे वहाँ नहीं थे, यद्यपि भीष्म आदि भगवद्भक्त हैं, तो भी मर्यादा में स्थित हैं, इसलिये बिना शास्त्र मर्यादा के भगवदीयों को भी नहीं मानते हैं स्वीकार करने के बाद ही कन्या उसकी होती है, इस कारण बलात् हरण देख कर वे भी क्रोध में आ गये। कौरव महान् पुरुष हैं, कुल तथा कर्म दोनों से श्रेष्ठ हैं, अपनी ही भाषा में बोलने लगे, कि यह बालक अविनीत है। महान् बालक में विनय चाहिये, वह नम्रता इसमें नहीं है, इसलिये इसको बान्धने में दोष नहीं है, अथवा कोई इसको दुर्विनीत कहने लगे तो कोई कहने लगे कि यह बालक है। यों कहने से, यह सूचित किया, कि बालक होने से, इसने लक्ष्मणा का हरण किया है, इसलिये वह दूषित नहीं हुई, क्योंकि बालक के स्पर्श से दूषण नहीं लगता है, इसमें कौनसा दोष है। क्यों लौटाया जाता है ? यदि यों कहते हो, तो इस पर दूसरे कहते हैं, कि वह बालक के स्पर्श से दूषित न भी है किन्तु हमारा तिरस्कार कर अर्थात् क्षत्रियों का मान भङ्ग कर हम कुलीनों की कन्या एक अकुलीन ऋच्छ की कन्या का पुत्र ले जा रहा है, यह बड़ा दोष इसने किया है, और फिर वह कन्या जिसकी इच्छा भी नहीं, वरण तो दूर की बात है। कन्या तो देने के ही योग्य है कोई तो ले जायगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'बलात्' (जबरदस्ती से) ले जाना बलिष्ठ होकर क्षत्रियाभासों से ही बल से कन्या हरण कर सकते हैं, यह अकुलीन होने से सर्वथा दोष-पात्र है अतः इसको बान्धना चाहिये जिसका स्पष्ट वर्णन निम्न श्लोक में करते है—

आभास—तर्ह्येवं सति किं कर्तव्यम्, तत्राहुः **बध्नीतेमं दुर्विनीतमिति**।

आभासार्थ – तो इस प्रकार होने पर क्या करना चाहिये ? जिसका उत्तर 'बध्नीतेमं' श्लोक में कहते है –

श्लोक—बध्नीतेमं दुर्विनीतं किं करिष्यन्ति वृष्णयः।
येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम् ॥३॥

श्लोकार्थ—इस दुर्विनोत को बाँधो, वे यादव क्या करेंगे, जो यादव कृपा कर दी हुई हम लोगों की पृथ्वी से अपना पोषण करते हैं ?

सुबोधिनी—दुर्विनय एव बन्धने हेतुः। नन्वेवं कृते यादवाः क्रोधं करिष्यन्तीति चेत्, तत्राहुः **किं करिष्यन्ति वृष्णय** इति। कथं न करिष्यन्तीत्याशङ्कायामाहु **येऽस्मत्प्रसादोपचितामिति**। उपजीव्यत्वात् अस्मासु क्रोधं न करिष्यन्ति। स्वयमागत्य युद्धादिकरणसम्भावनैव नास्तीत्याहुः **येऽस्मत्प्रसादोपि ताम्**। जीवनपर्याप्ता तु सेवायामपि प्राप्यते। कृष्यादिना च। अतः पुष्टा प्राप्तव्या। सा यादवानां स्वाभाविकी न भवतीति परकीया ग्राह्या। तत्र परस्य दुर्बलत्वेऽपि न्यायसिद्धत्वात् बलिष्ठैः सेवया रक्ष्यते। तत्र पक्षपाते भूमिस्तस्य गच्छति। तथा यादवानामस्मत्प्रसादोपचिता भूमिर्भवति। किञ्च। मण्डलेश्वरराज्ञा तत्तद्भूमिस्तेभ्यस्तेभ्यो दीयते, यदाभिषिक्तो भवति। अतो वयं पूरुवंशोद्भवत्वात् राजानः। अतः सामान्यविशेषप्रकारेण अस्मद्दत्तामेवं भूमिं भुञ्जते ॥३॥

व्याख्यार्थ- इसके बान्धने का कारण ही दुर्विनीतपन है, यदि कहो कि यों करने से यादव क्रोध करेंगे ? इसका उत्तर देते हैं कि यादव हमारा क्या करेंगे ? क्यों न करेंगे, जिसका उत्तर देते हैं कि, यादव हम लोगों की कृपा से जीवन धारण कर रहे हैं अतः हम पर क्रोध नहीं करेंगे, स्वयं आकर युद्ध आदि करने की सम्भावना ही नहीं है, कारण कि, हम लोगों की कृपा से प्राप्त भूमि द्वारा ही पोषित हो रहे हैं, सेवा करने पर भी, जीवन पर्यन्त आजीविका कृषि आदि द्वारा प्राप्त की जाती है, अतः जो वैसी यह भूमि यादवों की अपनी नहीं होती हैं इसलिये वह पराई है यों समझना चाहिये। यदि (कोई) दुर्बल हो जावे तो भी वह भूमि न्याय से प्राप्त होने से सेवा के कारण उससे छीनते नहीं, किन्तु वह यदि पक्षपात करे तो उसकी भूमि छीनी जाती है इसी प्रकार यादवों की यह भूमि हमारे प्रसाद से ही उनके पास अब तक रही है, और विशेष यह है कि मण्डलेश्वर जब सिंहासन पर अभिषिक्त होता है अर्थात् सिंहासनारूढ हो राज्य तिलक करके राज्य की कार्यवाही हस्त में लेता है तब माण्डलिक भूपों को पोषणार्थ भूमि प्रदान करता है अतः पुरुवंश में उत्पन्न होने से हम राजा हैं इसलिये सामान्य वा विशेष प्रकार से हमारी दी हुई भूमि पर ही अपना पोषण कर रहे हैं ॥ ३ ॥

आभास—ननु पुत्रे धृते भूम्यपेक्षामपि त्यक्ष्यन्तीति चेत्, तत्राहुः **निगृहीतं सुतं भुवेति**।

आभासार्थ—यदि कहो कि पुत्र के पकड़े जाने पर भूमि की अपेक्षा छोड़ देंगे और लड़ने के लिये आएंगे, इसका 'निगृहीत' श्लोक में उत्तर देते हैं—

श्लोक—**निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः ।**
भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः ॥४॥

श्लोकार्थ—यदि पुत्र को कैद किया है, यह सुनकर यादव आवेंगे तो अपना गर्व नष्ट कराके वैसे शान्त हो जायेंगे, जैसे योगी के संयत प्राण शान्त हो जाते हैं ॥४॥

सुबोधिनी—भग्नो दर्पो यैरिति स्तुतिः । येषामिति निन्दा । **यदीति** श्रुत्वापि नायास्यन्त्येव यथा कृपयास्माभिर्भूमिर्दीयते । तत्र पुत्रमपि प्रेषयिष्यन्तीति विश्वासात्, तदा प्रेषयिष्यन्ति इति हृदयम् । अथ यदि अस्मास्वविश्वासं कृत्वा, स्वस्य वा बलोत्कर्षं मत्वा, आयास्यन्ति, तत्रापीह विषमदुर्गे, तदा पूर्वसिद्धोऽपि दर्पः अत्रोपक्षीणो भविष्यतीति **शमं** शान्तिमेव **यान्ति** । ते नूनमुपजीवका इति न निराकार्याः, किन्तु बहुकालं निरुद्धाः सन्तः गतदर्पाः प्रार्थनया गृहं गमिष्यन्तीति भावः । वशे वा स्थास्यन्ति । तत्र दृष्टान्तमाह **प्राणा इवेति** । यद्यप्यन्येषां प्राणाः स्वतन्त्रा भवन्ति, तथापि योगिनः संयता एवेति स्वात्मानं योगिस्थानीयं मन्यन्ते ॥४॥

व्याख्यार्थ—आचार्य श्री 'भग्नदर्पाः' पद के दो अर्थ करते हैं एक–जिन्होंने शत्रु का दर्प तोड़ दिया है । इस अर्थ के करने से उनकी स्तुति होती है । दूसरा–जिनका दर्प शत्रुओं ने तोड़ा है वैसे वे हैं, इस अर्थ से उनकी निन्दा होती है, यदि पद का भावार्थ प्रकट करते हैं कि क्या हम पर वे ऐसा विश्वास न करेंगे कि पुत्र को वे कैद से निकाल कर यहाँ भेज देंगे क्योंकि जैसे कृपा कर भूमि दी है। वैसे पुत्र भी दे देंगे, ऐसा विश्वास न कर अपने को बलिष्ठ समझ कर युद्ध के लिये आ जायेंगे तो भी यहां इस विषम दुर्ग में उनके पूर्व-सिद्ध गर्व की उपेक्षा की जायेगी । इस प्रकार वे शान्त ही हो जावेंगे । वे निश्चयपूर्वक हमारे भरोसे पर ही जीवन धारण कर रहे हैं उनका निराकरण नहीं करना चाहिये, किन्तु बहुत समय यहां रोक रखने से जैसे इंद्रियों के दमन से योगी से प्राण संयत शान्त हो, स्थान पर स्थित हो जाते हैं, वैसे ही ये भी शान्त हो जावेंगे, तब प्रार्थना करने पर घर जावेंगे, अथवा हमारे अधीन होके रहेंगे इस प्रकार अपने को योगी की तरह मानते हैं ॥ ४ ॥

आभास—एतादृशं वावयं भीष्मादीनामपि चेत्, तदा सम्बद्धार्थमपि भवेदिति वक्तॄन् गणयन्ति **इतीति** ।

आभासार्थ—यदि भीष्म आदि के भी ऐसे वचन हों तो उनको युक्त अर्थवाला समझना चाहिये, इसलिये कहनेवालों के नाम 'इति कर्णः,' श्लोक में गिनते हैं—

श्लोक—**इति कर्णः शलो भूरिर्यज्ञकेतुः सुयोधनः ।**
साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः ॥५॥

श्लोकार्थ—कुरु वृद्धों से अनुमोदित कर्ण, शल्य, भूरि यज्ञकेतु, सुयोधन; ये सब साम्ब को बाँधने लगे ॥५॥

सुबोधिनी इतिशब्दः प्रकारवाची । एवं विधान्यन्यान्यपि वाक्यानि । दुष्टाश्चत्वारोऽत्र वक्तारः ये भारते, कर्णः, शलः शल्यः भूरिश्रवसो भ्राता भूरिः, यज्ञकेतुश्च तेषु मेव प्रधानभूतः । त्रय एते मध्ये दोषरूपा गणिताः । चतुर्णां प्रधानभूतावाद्यन्तयोर्गणितौ । दुःशासनोऽप्यत्रानुसन्धेयः । अग्रे 'षड्भ्या'नित वचनात् । साम्बं बद्धुमारेभिरे । परितः समागत्य धृत्वा बन्धनीय इति । ननु जामातायं जात एव, तथा सति बन्धने कुले दूषणं भवेदित्याशङ्क्याह **कुरुवृद्धानुमोदिता** इति । अनेनेतत्कथानिरूपणस्य दशमे प्रयोजनमुक्तम् । यतो भक्ता अप्येते बहिर्मुखा जाताः । अतः सात्त्विका अपि निरोधयोग्या इति । अन्यथा निरोधो न युक्तः स्यात् ॥५॥

व्याख्यार्थ—'इति', शब्द, साम्ब को जिस प्रकार बान्धा गया वह बताता है, इस प्रकार के अन्य वाक्य भी हैं यहां इस प्रकार कहनेवाले भारत में जो चारों दुष्ट थे वे हैं १. कर्ण, २. शल्य ३- भूरिश्रवा का भ्राता भूरि, उनमें प्रधान यज्ञकेतु है ४- सुयोधन, जो तीन मध्य में नाम कहे हैं वे दोष रूप हैं, आदि और अन्त वाले इनमें प्रधान हैं यहां दुःशासन का भी अनुसंधान करना चाहिये, क्योंकि आगे 'षड्भ्यान्' यह वचन कहा है, साम्ब को चारों तरफ से घेर कर उसको पकड़ के बान्धना चाहिये, यह कार्य तो कुल पर कलङ्क जैसा है, क्यों कि साम्ब तो अब जामाता है, जामाता तो आदरणीय है जिसके बान्धने से कुल, कलङ्कित होगा, इस पर कहते है कि कुरुवंश के वृद्धों से यह कार्य अनुमोदित है, इस कारण से कलङ्क का विचार न कर उसको बान्धने लगे, इससे दशम में इस कथा कहने का प्रयोजन बताया है, क्योंकि ये भक्त भी बहिर्मुख हो गये हैं, अतः सात्विक भी निरोध के योग्य हैं यों । यदि यों न होवे, तो निरोध उचित न होवे ॥ ५ ॥

आभास—ततोऽस्य साम्बस्य त्रिधा गतिः सम्भवति । कन्यया सह पलायनम्, तां त्यक्त्वा वा सम्मुखतया युद्धम्, दैन्यं वेति । तत्र पलायनदैन्ये अकृत्वा युद्धार्थमुद्युक्त इत्याह **दृष्ट्वानुधावत** इति ।

आभासार्थ—इससे साम्ब तीन काम कर सकता है, १- कन्या को लेकर भाग जावे २- उसको दूर कर सन्मुख आकर युद्ध करे, ३- दीनता प्रदर्शित करे, इनमें से भागना और दीनता दिखाना योग्य न समझकर, उन दोनों में से एक भी नहीं किया किन्तु युद्ध के लिये उद्यत हुआ, जिसका वर्णन 'दृष्ट्वानुधावतः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**दृष्ट्वानुधावतः साम्बो धार्तराष्ट्रान्महारथः ।**
प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ॥६॥

श्लोकार्थ—महारथी साम्ब धृतराष्ट्र के पुत्रों को अपने पीछे दौड़ते हुए आते देख, सुन्दर धनुष लेकर जैसे सिंह खड़ा रहता है, वैसे अकेला खड़ा हो गया ॥६॥

सुबोधिनी—स्वपृष्ठभागे स्वात्मानं धर्तुमनुधावतः षड्रथान् दृष्ट्वा साम्बः। तेऽपि पुनः पितुरेव पुत्रा धार्तराष्ट्राः। स्वयं तु महारथः, न पितुर्न मातुरग्रे बद्ध इति इदानीं युध्यतीति। रुचिरं स्वाभिलषितं चापं परिगृह्य स्वान्तरङ्गसेवकेष्वपि पलायितेषु एकल एव तस्थौ। शङ्काभावाय सिंह इवेति न हि सिंहः सहायमपेक्षते ॥६॥

व्याख्यार्थ—साम्ब ने देखा कि मुझे पकड़ने के लिये मेरे पीछे छः रथ दौड़ते आ रहे हैं, वे रथी भी धृतराष्ट्र के पुत्र ही हैं। स्वयं तो महारथी है, पिता वा माता के आगे भी नहीं बन्धा है, इसलिये अब युद्ध करता हैं सुन्दर अपना अभिलषित धनुष लेकर अपने अन्तरङ्ग सेवकों के भाग जाने पर अकेला ही युद्ध के लिये खड़ा हो गया। मन मे किसी प्रकार की शङ्का वा भय उत्पन्न न हुआ, अतः सिंह की तरह खड़ा हुआ, जिसका आशय है, कि इसको किसी की सहायता की भी अपेक्षा नहीं ॥ ६ ॥

श्लोक—ते तं जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः।
आसाद्य धन्विनो बाणैः कर्णाग्रण्यः समाकिरन् ॥७॥

श्लोकार्थ—कर्ण है नेता जिनका, ऐसे क्रोधित, उसको पकड़ने की इच्छा वाले वे धनुषधारी, ठहर ! ठहर ! कहते हुए निकट आकर, उस पर बाणों की वर्षा करने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—ततस्ते स्थितमपि स्वप्रौढिख्यापनार्थं ग्रहणेच्छया न मारणीय इति दूराद्बाणप्रयोगमकृत्वा, आसाद्य निकटे समागत्य, धन्विनो भूत्वा, कर्ण एवाग्रणीर्येषां ते धनुर्विद्यायामतिनिपुणाः पश्चाद्बाणैः समाकिरन् ॥७॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् इन्होंने इसको मारने के लिये दूर से ही बाणों का प्रयोग नहीं किया, क्योंकि इनकी इच्छा थी, कि हम अपनी वीरता प्रकट कर दिखावें कि हमने इसको पकड़ लिया है, अतः समीप आकर कर्ण जिनमें अग्रणी है ऐसे धनुर्विद्या में निपुण कौरवों ने बाणों की वर्षा की ॥७॥

आभास—ततो भीतस्य दैन्यमाशङ्क्य निराकरोति **सोऽपि विद्ध** इति।

आभासार्थ—बाण वर्षा से डर कर इसने दीनता प्रकट की होगी ? इस शङ्का का 'सोऽपि विद्ध' श्लोक से निराकरण करते है—

श्लोक—सोऽपि विद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः।
नामृष्यत्तदचिन्त्यार्भः सिंहः क्षुद्रमृगैरिव ॥८॥

श्लोकार्थ—हे कुरुश्रेष्ठ ! कौरवों के बाणों से बींधा हुआ भगवान् का बालक यदुनन्दन साम्ब इनके इस कार्य को सहन न कर सका, जैसे क्षुद्र मृगों के प्रहार को सिंह सहन नहीं कर सकता है। ८॥

सुबोधिनी—न केवलं परितो बाणप्रक्षेपः, किन्तु सोऽपि विद्धः। अपिशब्दादश्वाः सारथिश्च। निपुणास्त इति न कन्या विद्धा। स्ववंशस्य हीनतां श्रुत्वा श्रवणे विरक्तो भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं सम्बोधनं कुरुश्रेष्ठेति। ते तु कौरवमात्रम्, अत एव कुरुभिरिति। अग्रे पौरुषं करिष्यतीति यदुनन्दनः। तत्तेषां वेधनं नामृष्यत्। यतः अचिन्त्यस्य भगवतः अर्भो बालकः, यस्य पिता अन्यैरपि न चिन्त्यः, स कथं स्वयं चिन्तां कुर्यात्, मौढ्यादप्येवं भवति, ज्ञानादपीति, तत्क्षद्वयं निराकर्तुं दृष्टान्तमाह सिंहः क्षुद्रमृगैरिवेति। न हि शृगालादिपीडां सिंहो मन्यते ॥८॥

व्याख्यार्थ—इनके बाण इसके चारों तरफ आके गिरे यों नहीं, किन्तु उन बाणों से यह और इसके घोड़े तथा सारथी भी विद्ध गये। वे बाण फेंकने में निपुण थे इसलिये कन्या का कुछ न हुआ अपने वंश की हीनता सुनकर, सुनने से विरक्त होगा ? इसलिये उसका निराकरण करने के लिये 'कुरुश्रेष्ठ' संबोधन दिया है, वे तो केवल कौरव हैं श्रोता तो कुरुश्रेष्ठ हैं। साम्ब को यदुनन्दन कहकर बताया है, कि यह आगे चलकर वीरता दिखाएगा, इसलिये उनके बीन्धने को सहन न कर सका। क्योंकि, अचिन्त्य भगवान् का बालक है, जिसका पिता अन्यों से भी अचिन्त्य है वह स्वयं कैसे चिन्ता करे ? मूर्खता एवं ज्ञान दोनों से भी चिन्ता का अभाव होता है, इन दोनों पक्षों के निराकरण के लिये दृष्टान्त देते हैं कि 'सिंहः क्षुद्र मृगैरिव' जैसे शृगाल आदि की पीडा को सिंह ध्यान में न लाके निश्चिन्त रहता है, वैसे ही साम्ब भी इनको क्षुद्र समझ निश्चिन्त था ॥ ८ ॥

आभास—ततस्तस्य पौरुषमाह **विस्फूर्ज्य** इति।

आभासार्थ—अनन्तर 'विस्फूर्ज्य' श्लोक से उसका उद्यम कहते हैं—

श्लोक—विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान् विव्याध सायकैः।
कर्णादीन्षड्रथान्वीरस्तावद्भिर्युगपत्पृथक् ॥९॥

श्लोकार्थ—इस वीर ने अपने सुन्दर धनुष का टंकार कर, कर्ण आदि छः रथियों को साथ में और पृथक् पृथक् इतने ही बाणों से बींधा ॥९॥

सुबोधिनी—वरो हि क्षत्रियाणां शौर्येणोत्कृष्टो भवति। अतः स्वपरीक्षां प्रयच्छन्निव लघुहस्ततां प्रदर्शयति। सर्वान् कर्णादीन् षड्भिः षड्भिर्बाणैः एकैकं युगपदविध्यत् ॥९॥

व्याख्यार्थ—क्षत्रिय जाति में वर की उत्तमता शूरवीरता दिखाने से मानी जाती है, अतः मानों परीक्षा देता हुआ साम्ब अपनी लघु हस्तता[1] दिखाने लगा, कर्ण आदि सबको छ छ बाणों से एक एक को साथ में बीन्धा ॥ ९ ॥

१- हलके हाथ, अर्थात् बाणों को जल्दी-जल्दी चलाना

आभास—षड्बाणानां विनियोगमाह **चतुर्भिश्चतुरो वाहा**न्निति ।

आभासार्थ—'चतुर्भिश्चतुरो वाहान्' श्लोक से षड् बाणों का उपयोग कहते है—

श्लोक—चतुर्भिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन् ।
रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन् ॥१०॥

श्लोकार्थ— चार-चार बाण चार घोड़ों के लगाए एक-एक सारथी के और एक-एक बड़े धनुषधारी रथियों को लगाए, साम्ब के इस कार्य की वे भी प्रशंसा करने लगे ॥१०॥

सुबोधिनी—एतदपि कौशलम्, यथा सर्वं एव विद्धा भवन्ति समागताः । अन्यथा तं तथा न स्मरेयुः । एकैकेन सर्वानेव सारथीन्, एकैकेनैव रथिनः कर्णादीन् । तर्हि अप्रयोजकास्ते भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **महेष्वासानि**ति । अनवहिता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन्नि**ति। साम्बस्य तत्कर्म महारथिनोऽपि कर्णादयः अभ्यपूजयन् । साधु साध्विति प्रशंसां कृतवन्तः । एतद्देव साम्बस्य बन्धने निमित्तं जातम् । तैः स्तुतः प्रतीकारं न कृतवान् । अन्यथा ब्रह्मास्त्रादिभिः युद्धं कुर्यात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—यह भी कुशलता है, जैसे आए हुए सब बींधे गये, यदि यह प्रवीणता न दिखाता तो वे इसको इस प्रकार स्मरण न करते अर्थात् प्रशंसा नहीं करते, एक २ से ही सर्व सारथियों को एक एक से ही सर्व कर्ण आदि रथियों को बींध दिया । वे भी महान् धनुषधारी थे,रिक्त हस्त नहीं थे, वे असावधान होंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, पूर्ण सावधान थे, जिससे महारथी कर्ण आदि ने भी साम्ब के इस कर्म की साधु ! साधु ! (वाह वाह) कह कर प्रशंसा की, यह कार्य ही साम्ब के बान्धे जाने मे कारण बना, जब उन्होंने प्रशंसा की, तब वे उसका प्रतीकार कैसे करेंगे, यदि प्रशंसा न करते तो ब्रह्मास्त्र आदि से युद्ध करते, वह न कर इसकी शूरवीरता से प्रसन्न हो केवल (इसे) बान्ध लिया ॥ १० ॥

आभास—एवं ते कपटं कृत्वा स्तोत्रेण मोहयित्वा युद्धं कृतवन्त इत्याह **तं तु ते** इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार इसकी स्तुति जो की वह कपट कर इसे बान्धने के लिये की थी, अनन्तर युद्ध करने लगे जिसका वर्णन 'तं तु ते' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—त तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान् ।
एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम् ॥११॥

श्लोकार्थ—अनन्तर उन्होंने मिलकर उसको विरथ किया, चार जनों ने चार घोड़े मारे, एक ने सारथी को मारा और एक ने धनुष को तोड़ा ॥११॥

सुबोधिनी— तुशब्दः धर्मयुद्धं व्यावर्तयति । एकैकाश्ववधेन बहुभिरेव बाणादिभिः चत्वारो महारथाः तं विरथं चक्रुः एकस्तु पञ्चमः सारथिं जघ्ने । अन्यः षष्ठः शरासनं धनुश्चिच्छेद । एकैकस्य आयुधानां प्रयोगाणां वा न सा सङ्ख्या । ॥११॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'तु' शब्द से यह सूचित किया है कि कौरवों ने यह युद्ध धर्म युद्ध नहीं किया है । एक एक अश्व का वध कर, चार महारथियों ने मिलकर बहुत बाण आदि से उस अकेले को विरथी बनाया, पांचवे ने सारथी का वध किया, छठे ने धनुष तोड़ डाला, एक एक के आयुधों की और प्रयोगों की कोई सङ्ख्या न थी ॥ ११ ॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह **तं बद्ध्वे**ति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह तं बद्ध्वा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि ।
स्वकुमारं स्वकन्यां च स्वपुरं नयिनोऽविशन् ॥१२॥

श्लोकार्थ—कौरव, संग्राम में बड़े कष्ट से उसको विरथ[1] कर बाँध और जीत कर अपनी कन्या सहित कुमार को लेकर अपने नगर में प्रविष्ट हुए ॥१२॥

सुबोधिनी—कृच्छ्रेण आदौ तं विरथीकृत्य, पश्चाल्लौकिकन्यायेन बद्ध्वा, यतः कुरवः; कुरुणा हि भूयान् धर्मः कृत इति, तद्वश्यानामपि मनोरथसिद्धिः । **युधी**ति । बन्धनेऽपि लज्जाभाव उक्तः। युद्धे हि जयपराजययोरनियमात् । किञ्च । **स्वकुमारं स्वकन्यां चे**ति । सुतरामेव बन्धने न विज्ञानम् । दुर्योधनो हि बलस्य जामाता, तस्य चैषा कन्या, अत उभयोरपि स्वकीयत्वमेव । **स्वकुमारं स्वस्य कन्यामि**ति पाठे स्वकन्यासहितं कुमारमद्यापि विवाहरहितमिति बन्धने हेतुरुक्तः । मध्ये स्थापिते कश्चिन्नेष्यति, पलाय्य वा गमिष्यतीति स्वपुरं प्राविशन् । **जयिन इति** प्रवेशे सन्तोषो निरूपितः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—बड़े कष्ट से प्रथम उसको विरथ किया, पश्चात् लौकिक प्रकार से उसको बान्धा क्योंकि कौरव हैं । कुरु ने बहुत धर्म किया है, उसके वशीकृतों की भी मनोरथ सिद्धि हुई कारण कि युद्ध में जय प्राप्त की है, बान्धने में भी इनको लज्जा न हुई, युद्ध में कौन जीतेगा और कौन हारेगा इसका कोई नियम नहीं है, और विशेष में 'स्वकुमारं स्वकन्यां च' सुतराम् ही बन्धन में निन्दा नहीं

१- रथ छीन लिया अथवा उससे नीचे उतार फिर बाँधा

है, दुर्योधन बल का जामाता है, यह लक्ष्मणा उसकी कन्या है अतः दोनों में स्वकीय पन ही है यदि कुमारं स्वस्य कन्या' पाठ हो तो अर्थ इस प्रकार करना चाहिये कि अपनी कन्या सहित कुमार को बान्धा, अभी तक विवाह नहीं हुआ है इसलिये साम्ब कुमार है. जिससे जामाता नहीं अतः बान्धा यदि अपने पुर में नहीं ले जावे और मध्य में किसी स्थान पर रखें, तो वहां से कोई ले जावे वा भाग कर चला जायगा इसलिये अपने पुर ले गये, नगर में प्रवेश से उनको सन्तोष हुआ कारण कि युद्ध में जय प्राप्त कर आये थे ॥ १२ ॥

आभास—नारदो हि निरोधनिदानमिति सात्त्विकानां स्वासक्तिसिद्धचर्थं नारदः समागत्य वृत्तमित्याह **तच्छ्रुत्वेति** ।

आभासार्थ—निश्चय से नारदजी निरोध के कारण हैं, इसलिये सात्विकों की अपने (भगवान्) में आसक्ति की सिद्धि कराने के लिये, नारदजी ने आकर 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक से वृतान्त कहा—

श्लोक—**तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्तं राजन्सञ्जातमन्यवः ।**
कुरून्प्रत्युद्यमं चक्रुरुग्रसेनप्रचोदिताः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! नारद से वह समाचार सुनकर यादव क्रोधित हुए तथा उग्रसेन की आज्ञा से कौरवों पर चढ़ाई का उद्यम किया ॥१३॥

सुबोधिनी—भगवानक्लिष्टकर्मा पुत्रसाहाय्यं न करिष्यतीति उग्रसेनेनैव प्रचोदिताः यादवाः कुरून्प्रत्युद्यमं चक्रुः । सञ्जातमन्युत्वं युक्तमिति राजसम्बोधनम् । उषाहरणे विपक्षस्यैव दोषः अत्र तु न तथेति तूष्णींभावो भगवतः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् तो अक्लिष्ट कर्मा हैं, पुत्र की सहायता नहीं करेंगे इसलिये उग्रसेन ने ही कौरवों पर आक्रमण की आज्ञा दी, राजन् ! सम्बोधन से यह दिखाया है कि ऐसे कार्य से क्षत्रियों को क्रोध आता ही है अतः यादवों को भी क्रोध आया, उषा के हरण में विपक्ष का दोष था, यहां तो विपक्ष का दोष नहीं हैं अपना दोष है, इसलिये भगवान् ने मौन धारण करली ॥१३॥

आभास—तदा साधनशक्तिर्मुख्या बल इति, अत्रत्यं कार्यं भगवत एवेति, कुरुमूलभूतो भगवत इति, यदुवंश इव कुरुवंशेऽपि देवा एवावतीर्णा इति, देवानामन्योन्यविरोधो धर्मनाशकः पापपोषक इति, तान् नप्त्रोपाख्याने शपथकरणाद्य एव प्रथमं द्रुह्यति, स नष्टो भवतीति, बहुदोषदुष्टत्वात् कलहस्य तन्निवारणार्थं रामः प्रवृत्त इत्याह **सान्त्वयित्वेति** ।

आभासार्थ—तब साधन शक्ति मुख्य है इसलिये 'बल' यों सान्त्वना देने लगे, यहां का कार्य भगवान् का ही है, कारण कि कुरु का मूल भगवान् है, यदुवंश की तरह कुरु वंश में भी देवताओं ने

अवतार लिया है. देवों का परस्पर युद्ध धर्म नाशक और पाप पोषक होगा । नाप्त्री के उपाख्यान में शपथ ली है कि जो पहले द्रोह करेगा वह नाश हो जायगा, इसलिये कलह बहुत दोषोंवाली होने से दुष्टा है इसलिये कलह नहीं करनी चाहिये, जिसको मिटाने के लिये राम प्रवृत्त हुए, यह 'सान्त्वयित्वा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**सान्त्वयित्वा तु तान्रामः सन्नद्धान्वृष्णिपुङ्गवान् ।**
नैच्छत्कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः ॥१४॥

श्लोकार्थ—कमर कसे हुए यदुपुङ्गवों को देख बलदेवजी ने उनको शान्त किया; क्योंकि कलियुग के मल को हरने वाले बलरामजी ने चाहा कि यादव और कौरवों के मध्य में लड़ाई न होवे तो अच्छा है ॥१४॥

सुबोधिनी—वृष्णिपुङ्गवानिति महत्त्वम् । सान्त्वने हेतुः सन्नद्धानिति । तत्कार्यं स्वय चेत्कुर्यात्, तदैव सान्त्विता भवन्तीति ज्ञापितम् । कार्यं साम्बस्य सभायस्यानयनम्, तत्प्रीत्यैव चेद्भवति, तदा कलहो व्यर्थ इति कुरूणां वृष्णीनां नैच्छत् । उभयेषां देवभावात् । रामश्च कलिमलापहः । देवविरोधे सत्त्वस्य सर्वथा तिरोभावात्तमः केन हन्येत । कारणसत्त्वेन सह विरोधाभावात् । अन्यथा तमसः तत्कार्याणां च स्थितिर्न स्यात् । अन्यथा कलावुत्पत्स्यमानानामुद्धारो न भवतीति जन्मकारणनिर्धारो व्यर्थः स्यात् । तुशब्दः कुरुपक्षपातं व्यावर्तयति । **तान्** प्रसिद्धानिति हीनभावोऽपि नाश्रयणीय इति सूचितम् । तेन ऋजुमार्गेणासिद्धौ वक्रेणापि तत्करिष्यतीति सिद्धम् । ज्ञानशक्तिरत्र न पूर्णेति केचित् । लोकानुरोधी भगवानित्यपरे । नीतिमार्गानुसारिणी साधनशक्तिः, पुष्टिमार्गानुसारिणी फलशक्तिरिति सिद्धान्तः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—'वृष्णि पुङ्गव' यादवों में श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ जो यादव शब्द कहने से इनकी महत्ता प्रकट की है । शान्त करने में हेतु यह था, कि वे लड़ने के लिये तैयार हो गये थे, वे शान्त तब होवे जब यह कार्य बलरामजी स्वयं करें, यह जताया है, काम यह था कि साम्ब को स्त्री सहित सकुशल ले आना, वह कार्य यदि प्रेम से हो जाय तो यादव और कौरवों का परस्पर कलह व्यर्थ है । इसलिए राम कलह न चाह कर प्रेम से कार्य पूर्ण कराना चाहते थे, क्योंकि दोनों में देव भाव था, और श्री बलरामजी कलि के मल का नाश करने वाले ठहरे. देवताओं का परस्पर युद्ध हो तो सतोगुण तिरोहित हो जायगा, उसके तिरोहित हो जाने पर तमोगुण का नाश कौन करेगा ? यदि सतोगुण तिरोहित हो जायेगा तो तम से किसी का विरोध नहीं रहेगा जिससे तम और उसके कार्यों का नाश ही नहीं होगा, यदि सतोगुण होगा तो तम का नाश होने से उसकी तथा उसके कार्यों की स्थिति ही नहीं रहेगी । यदि देवताओं का परस्पर युद्ध हुआ तो सतोगुण का तिरोभाव हो जाने से तम की और उसके कार्यों की स्थिति रहेगी तो कलियुग में उत्पन्न जीवों का उद्धार नहीं है, यों जन्म के कारण का निर्धार व्यर्थ हो जायेगा । 'तु' शब्द से बताते हैं, कि राम कौरवों का पक्षपात करने के लिये नहीं पधार रहे हैं, 'तान्' शब्द से यह सूचित किया है, वे यादव, प्रसिद्ध हैं अतः हीन भाव का भी आश्रय नहीं करना है, अर्थात् यादवों को दीनता भी प्रकट नहीं करनी है । यों कहने से यह सूचित किया है

कि यदि कौरव सीधे मार्ग से नहीं समझेंगे तो वक्र[1] मार्ग से भी उनका यह कार्य करना ही पड़ेगा। कोई कहते हैं, कि ज्ञान शक्ति पूर्ण नहीं है, ये दुष्ट कौरव भूमि पर भार रूप हैं ही वे आगे चल कर मारने ही हैं, इसलिये युद्ध को क्यों रोका ? इस शङ्का का समाधान करने के लिये तीन कारण देते हैं, यहां अब ज्ञान शक्ति पूर्ण नहीं हैं, यों कोई कहते हैं, दूसरे फिर कहते हैं कि अब भगवान् लोकानुकूल कार्य करना चाहते हैं, आचार्य श्री कहते हैं कि वास्तविक सिद्धान्त यह है कि साधन शक्ति नीति मार्ग के पीछे चलती है, और फल शक्ति पुष्टिमार्ग[2] के पीछे चलती है ॥१४॥

आभास—सान्त्वनसिद्धयर्थं रामस्य गमनमाह **जगामेति** ।

आभासार्थ—शान्ति की सिद्धि की लिये राम के पधारने का प्रकार 'जगाम' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा ।
ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—सूर्य के समान तेजस्वी रथ में विराज कर, ब्राह्मणों और कुल वृद्धों को साथ में लेकर, जैसे ग्रहों के साथ चन्द्रमा शोभायमान होता है, वैसे ही शोभा पाते हुए बलदेवजी हास्तिनपुर पधारे ॥१५॥

सुबोधिनी—हस्तिनो नात्र सहभाव इति ऋजुभावेन गमनम् । **आदित्यवर्चसेति** तेषां प्रतिबोधनम् । नीतिमार्गोपयोगिन आह । ब्राह्मणैः कुलवृद्धैः, चकारादन्यैरपि शास्त्रिभिः । कुरूणामभिप्रेतं साम्बविमोचनं भवतीति, तत्तापार्थं गच्छतीत्याशङ्क्य, तेषां तापापनोदार्थं गच्छतीति वक्तुं दृष्टान्तमाह **चन्द्र इव ग्रहैरिति** । बृहस्पतिप्रभृतिभिः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—हस्तिनापुर न कह कर हास्तिनपुर कहा है जिसका आशय यह है कि इनका सहभाव नहीं है, अतः जहां सहभाव नहीं हो वहां ऋजुभाव से जाना नीति के विरुद्ध है । जिस रथ में विराज कर पधारे, वह रथ सूर्य के सदृश चमक रहा था, जिससे उनको अपने आने का वा स्वरूप का ज्ञान कराया है बलरामजी ने कार्य की सिद्धि नीति मार्ग से हो, इसलिये ब्राह्मणों को और कुल वृद्धों को अपने साथ में ले लिया था । 'च' शब्द देने का भाव है कि इनके सिवाय अन्य विद्वानों को भी साथ में ले चले थे, यदि किसी को शङ्का हो कि बलराम, कुरुओं को विशेष ताप देने के लिये पधार रहे हैं, क्योंकि साम्ब को बन्धन से छोड़ना उनको अभीष्ट नहीं, इसलिये यह बात सुन वे विशेष क्रोधित होंगे, इस शङ्का का परिहार करते हैं, कि नहीं, ये तो उनके ताप को मिटा कर

१—कौरव सम रीति से लक्ष्मणा सहित साम्ब को सादर न देंगे तो युद्ध से भी ले आऊँगा,
२—अनुग्रह मार्ग ।

शान्ति कराने के लिये पधार रहे हैं इसलिये इसी प्रकार का दृष्टान्त चन्द्रमा का दिया है कि जैसे चन्द्रमा बृहस्पति आदि ग्रहों सहित ताप मिटाने के लिये प्रकट होता है, वैसे ही राम भी ताप शान्त कराने के लिये जा रहे हैं ॥१५॥

आभास—नीतिपरैवेयं शक्तिरिति ज्ञापयितुं लोकदृष्ट्यापि द्विषतां पुरं न प्रविशेदिति बहिःस्थित एव स्वागमन ज्ञापितवानित्याह **गत्वेति** ।

आभासार्थ—यह शान्ति नीतिवाली है, यह जताने के लिये लोक दृष्टि से भी शत्रुओं के नगर में प्रवेश नहीं करना चाहिये, इसलिये आपने बाहर ही ठहर कर अपने आने की सूचना दी यह 'गत्वा' श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः ।
उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रबुभुत्सया ॥१६॥

श्लोकार्थ—बलरामजी हस्तिनापुर पहुँच कर नगर के बाहर उपवन में ठहरे और धृतराष्ट्र को मेरे आने का ज्ञान होवे, इस इच्छा से उद्धव को उसके पास भेजा ॥१६॥

सुबोधिनी—अत एव रामः । **बाह्योपवनमिति** नगरसीमाप्रवेश उक्तः । **आस्थितिस्तत्र** विमोचनम् । **नीतिज्ञ** उद्धवः । धृतराष्ट्रो गन्धर्वो दैत्यावेशसहितो देवांशः । स बुध्यतामिति बुभुत्सा । धृतराष्ट्रं प्रति बोधयितुमिच्छया वा ॥१६॥

व्याख्यार्थ—यह शक्ति. नीति परायण है इसलिये ही 'राम' कहा है, बाहर उपवन में ठहरे यों कहने से यह जताया है, कि नगर की सीमा में प्रवेश किया है । वहां उपवन में रथ आदि सब खड़े किये हैं, रथों से घोड़े छोड़ दिये हैं, धृतराष्ट्र, गन्धर्व देवांश होते हुए भी दैत्यावेश सहित देवांश है, धृतराष्ट्र को मेरे आने का पूर्ण ज्ञान होवे इसलिये राम ने नीतिज्ञ उद्धवजी को धृतराष्ट्र के पास भेजा ॥१६॥

आभास—तस्य यथोचितं करणमाह **सोऽभिवन्द्येति** ।

आभासार्थ—'सोऽभिवन्द्य' श्लोक में कहते हैं कि उद्धवजी ने जाकर यथोचित अभिवादन किया—

श्लोक—सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाह्लिकम् ।
दुर्योधनं च विधिवद्राममागतमब्रवीत् ॥१७॥

श्लोकार्थ--धृतराष्ट्र, बाह्लिक, भीष्म द्रोण और दुर्योधन और अन्य कृपाचार्य आदि ब्राह्मणों को विधि के अनुसार अभिवादन कर अनन्तर बलरामजी के आने का समाचार सुनाया ॥१७॥

सुबोधिनी—अम्बिकापुत्रो धृतराष्ट्रः,बाह्लिकः शन्तनोर्भ्राता, चकारात्कृपादिब्राह्मणान्। दुर्योधनो वरश्वशुर इति। चकारात्तत्पक्षपातिनः। एवमुभयविधा नमस्कृता बोधिताश्च। विधिवदित्यन्तेन तुल्यत्वाय। कथमागमनमिति प्रश्नप्रमये राममागतमब्रवीत् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—धृतराष्ट्र, अम्बिका का पुत्र है, बाह्लिक शन्तनु का भ्राता है, 'च' शब्द से कृपाचार्य आदि ब्राह्मणों को और वर के श्वशुर दुर्योधन को तथा अन्य 'च' शब्द से जो पक्षपाती थे उन सब को प्रणाम किया, इस प्रकार दोनों प्रकार के जो वहां सभा में स्थित थे उनको नमन किया और श्रीराम के आने का ज्ञान कराया विधिवत् कहने का आशय यह है कि अन्त में समानता के लिये इस प्रकार प्रणाम किया, आपका पधारना कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री बलरामजी के आने के समाचार सुनाये ॥१७॥

श्लोक--तेऽतिप्रीतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम् ।
तमर्चयित्वाभिययुः सर्वे मङ्गलपाणयः ॥१८॥

श्लोकार्थ—अपने अत्यन्त सुहृत राम का पधारना सुनकर वे सर्व बहुत प्रसन्न हुए, उद्धव का पूजन कर पश्चात् सर्व मङ्गल पदार्थ हस्तों में लेकर राम से मिलने के लिए उनके पास सामने गए ॥१८॥

सुबोधिनी—ते तां वार्तां श्रुत्वैव प्रीताः। स हि सुहृत्तमः दुर्योधनश्वशुरः गुरुश्च। यादवपक्षपाते परमन्यथा भविष्यति। तमुद्धवमर्चयित्वा आभिमुख्येन ययुर्यथाशास्त्रम्। मङ्गलपाणयः॥१८॥

व्याख्यार्थ—वे उस वार्ता को सुन कर ही प्रसन्न हुए, वे एक विशेष सुहृद् है, दुर्योधन का श्वशुर हैं और बड़े हैं, यों है किन्तु यादवों के पक्षपाती होने से अन्य प्रकार के हो जायंगे, उस उद्धव का पूजन कर शास्त्रानुसार मङ्गल-द्रव्य हस्तों में लेकर श्री राम से मिसने के लिये सामने गए ॥१८॥

आभास--सङ्गतावपि सौहार्ददार्ढ्यं माह **तं संगम्येति ।**

आभासार्थ—'तं संगम्य' श्लोक से कहते हैं कि मिलने पर भी सौहर्द की दृढ़ता हुई—

श्लोक--तं संगम्य यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन् ।
तेषां ये तत्प्रभावज्ञाः प्रणेमुः शिरसा बलम् ॥१९॥

श्लोकार्थ--उनसे यथा योग्य मिलकर गौ अर्पण की और अघ आदि दिए। उनमें जो उनके प्रभाव को जानते थे,उन्होंने बलरामजी को मस्तक नमा कर प्रणाम किया।१९।

सुबोधिनी—प्रह्लादिप्रकारभेदैर्यथान्यायम्। अतिथिवन्मधुपर्कादिना पूजितवन्त इति ज्ञापयितुमाह **गामर्घ्यं चेति**। तेषां पूजकानां मध्ये ये तत्प्रभावाभिज्ञाः माहात्म्यविदः ते ज्येष्ठा अपि लौकिकीं दृष्टिं दूरीकृत्य प्रणेमुः। अनेन सर्वे लौकिकाः, केचनैव तत्प्रभावाभिज्ञा इति निरूपितम्। अभिज्ञा अपि बलं बलाधिक्येनैव, नत्वलौकिकानुभावेन। अन्यथा ते विषमान् बोधयेयुः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—प्रणाम करने के अनेक भेद हैं जैसे कि छोटे,मोटे और समानों का प्रकार पृथक्-२ है, अतः कहा है कि यथा न्याय' न्याय के अनुसार प्रणाम किया, जैसे अतिथि की मधुपर्क आदि से पूजा की जाती है, वैसे मधुपर्क आदि से पूजन किया इस प्रकार को प्रकट करने के लिये कहा है कि 'गामर्घ्यं च' गौ दी और अर्घ्य[1] दिया, उन पूजा करने वालों में जो बलरामजी के प्रभाव को जानते थे, वे माहात्म्य ज्ञान वाले बड़े थे, तो भी लौकिकी[2] दृष्टि का त्याग कर मस्तक से बलरामजी को प्रणाम किया। इससे यह बताया, कि बहुत से तो लौकिक दृष्टि वाले थे, कितने स्वल्प ही उनके प्रभाव को जानने वाले थे। वे जानने वाले भी बलरामजी के बल की अधिकता से माहात्म्य जानते थे, न कि उनके अलौकिक प्रभाव को जानते थे। यदि अलौकिक प्रभाव जानते होते तो वे विषयों को भी ज्ञान देते ॥१९॥

आभास—एवं कायिकव्यवहारमुक्त्वा वाचनिकमाह **बन्धून्कुशलिन** इति।

आभासार्थ—इस प्रकार काया से जो पूजनादि व्यवहार किया जाता है वह वर्णन कर अब वाणी से जो कुशल क्षेम पूछा जाता है वह 'बन्धून्कुशलिनः' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक— बन्धूंःकुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम् ।
परस्परमथो रामो बभाषेऽविक्लवं वचः ॥२१॥

श्लोकार्थ--परस्पर कल्याण व आरोग्य पूछ कर और बान्धवों के कुशल सुन कर बाद में श्री रामजी ने तेजस्वी वचन कहे ॥२०॥

सुबोधिनी—शिवं कल्याणं सुखरूपम्, अनामयं दुःखाभावरूपम्. **बन्धून्** धर्मिणः परस्परं कुशलिनः श्रुत्वा। एतदपि परस्परं पृष्ट्वा। अथो भिन्नप्रक्रमेण रामोऽविक्लवं अदीनम्, अन्यथा यादवानां दीनता स्यात्, भक्ताश्च ते ॥२०॥

१—अर्घ्य मधुपर्क आदि, २—यह यादव है, इस दृष्टि का त्याग कर।

व्याख्यार्थ—'शिव' शब्द का अर्थ है कल्याण अर्थात् जिसमें सुख ही सुख है विशेष में वह सुख भी दुःख रहित है। इस प्रकार बान्धव सर्वथा सुखी हैं, यह सुन कर, यह समाचार भी परस्पर पूछ कर मालूम किया जिससे प्रसन्न हुए, अनन्तर बलरामजी दूसरा विषय प्रारम्भ करते हैं- श्री राम ने दैन्य रहित तेजस्वी, ऐसे वचन कहे जिससे यादवों की दीनता देखने में न आवें, यदि इस प्रकार वचन न कहते, तो यादवों की दीनता देखने में आती। यह राम की इच्छा नहीं थी क्योंकि यादव भक्त थे।

आभास—सर्वदेवाधिपत्यं भगवतोग्रसेनाय दत्तमिति तदाज्ञा सर्वैरेव देवैः कर्तव्या, अतो यादवान् परित्यज्य उग्रसेनाज्ञापनमाह उग्रसेन इति।

आभासार्थ—श्री बलरामजी ने कौरवों को कहा, कि भगवान् ने उग्रसेन को सर्व देवों का अधिपति बनाया है, इसलिये उनकी आज्ञा सर्व देवों को माननी चाहिये, आप देव हैं उग्रसेनजी देवाधिपति हैं इस कारण से, आपको भी यह आज्ञा माननी ही चाहिये, अतः यादवों का नाम न लेकर उग्रसेन की आज्ञा 'उग्रसेनः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—उग्रसेनः क्षितीशेशो यद्व आज्ञापयत्प्रभुः।
तदव्यग्रधियः श्रुत्वा कुरुध्वं मा विलम्बितम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—महाराजाधिराज उग्रसेनजो प्रभु हैं, उन्होंने जो तुमको आज्ञा दी है, वह सावधान होकर सुनो और शीघ्र उसका पालन करो ॥२१॥

सुबोधिनी—तस्याज्ञा भिन्नै राजभिः कथं कर्तव्येत्याशङ्क्याह। क्षितीशानां सर्वेषामेव राज्ञामीश इति। यद्वो युष्मान् प्रति आज्ञापयत्। आज्ञापनावाक्यमग्रे वक्तव्यम्, साम्बः सभार्यः प्रस्थापनीय इति। तद्वाक्यात् पूर्वमेव अपराधक्षमावाक्य एव क्रुद्धाः परुषभाषिणो जाता इति तदकथनम्। तदग्रे विवक्षितं कर्तव्यमिति हितोपदेशो रामस्य। **मा विलम्बितमिति** द्वितीयम्। अन्यथेश्वरः राज्ञां विलम्बं न सहत इति पश्चात् कृतमपि व्यर्थं स्यादिति। ईश्वरवचनोल्लङ्घनेऽनिष्टं शीघ्रमिति ज्ञापितम्। **प्रभुरिति** ॥२१॥

व्याख्यार्थ—उन (उग्रसेन की आज्ञा अन्य भूपति क्यों माने ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये ही कहा है कि सर्व भूपतियों के वे ईश हैं। इसलिये तुमको आज्ञा करते हैं, कौनसी आज्ञा की है ? वह आज्ञा आगे कही जायेगी, कि स्त्री सहित साम्ब को हमारे यहां भेज दो, ऐसे वचनों के सुनने से प्रथम ही क्रोध में आकर अश्लील वचन बोलने लग गये, वे कहने योग्य न होने से नहीं कहे हैं- उग्रसेन ने जो कहा है तदनुसार कार्य करो यही राम का उपदेश हितोवह है। देरी मत करो, शीघ्रता करो, क्यों कहता हूं, कि राजा लोगों की देरी को ईश्वर सहन नहीं करते है। किया हुआ भी कार्य देरी के कारण व्यर्थ होता है। ईश्वर के वचन का उल्लङ्घन करने से शीघ्र ही अनिष्ट हो जाता है। वह ईश्वर हैं, यह जताने के लिये ही मूल में 'प्रभु' कहा गया है ॥२१॥

आभास—कदाचित्कृतापराधस्य दण्डं करिष्यतीत्याशङ्कायामाह यद्यूयमिति।

आभासार्थ - कदाचित् अपराध का दण्ड करेंगे ? इस शङ्का का उत्तर 'यद्यूयं' श्लोक से देते हैं—

श्लोक—यद्यूयं बहवस्त्वेकं जित्वाऽधर्मेण धार्मिकम्।
अबध्नीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाम्यया ॥२२॥

श्लोकार्थ—उग्रसेनजी ने कहा है कि तुम बहुतों ने इकट्ठे होकर अधर्म से जो हमारे धर्मिष्ठ अकेले बालक को जीत कर कैद कर लिया है। बान्धवों में एकता रहे, इस इच्छा से उस अपराध को सहन कर लेता हूँ, अब इसको शीघ्र छोड़ दो ॥२२॥

सुबोधिनी—यद्यपि भवन्तो दण्डार्हाः, तथापि बान्धवानामन्योन्यं कलहो भविष्यतीति तदपराधं मृष्ये। ईश्वरेणापि क्रियमाणे दण्डे बन्धुभिरेव कारितमिति कदाचिद्वैमनस्यं स्यात्, तन्नाभिप्रेतम्, किन्तु ऐक्यमेवाभिप्रेतम्, शास्त्रनिषिद्धं ह्येकेन सह बहूनां युद्धम्। तथाकरणे च दण्डो राज्ञावश्यं कर्तव्यः। ततस्तमपराधमनुवदति। यूयं बहवः। तुशब्देनान्यथाकरणं निवार्यते। महास्त्रप्रयोगः पलायनं चाधर्म इति। अधर्मेण एककाले बहवो युद्धाभिज्ञा बालकं स्त्रीरक्षायां व्यग्रं खण्डशः साधननाशेन जितवन्त इति। बन्धनं चापरो दोषः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि तुम दण्ड के योग्य हो, तो भी बान्धवों के आपस में कलह होगी, वह न हो, इसलिये इस अपराध को सहन कर लेता हूँ अर्थात् क्षमा करता हूँ, यदि राजा दण्ड करे, तो भी, वह दण्ड बान्धवों ने ही कराया है, यों मान कदाचित् उनका परस्पर वैमनस्य हो जाय तो वह अच्छा नहीं, इसलिये वह वैमनस्य इच्छित नहीं है, एकता ही अभिप्रेत है। एक के साथ बहुतों का लड़ना शास्त्र से निषिद्ध है, वैसे निषिद्ध कार्य करने पर, राजा अपराधी को अवश्य दण्ड देवें। तुम्हारा क्य अपराध है वह सुनो, तुम बहुत थे, वह एक था, 'तु' शब्द से अन्य प्रकार करने का निवारण करते हैं, महान् अस्त्र का प्रयोग करना अथवा भागना अधर्म है, तुम युद्ध जानने वाले बहुत हो, एक ही समय में अधर्म से स्त्री की रक्षा करने में व्यग्र अकेले बालक को खण्डशः साधन नाश कर जीता है, यह एक अपराध है। दूसरा दोष, उसको बान्धना है, तो भी इन अपराधों को हमने सहन कर लिया है ॥२२॥

आभास—एतावच्छ्रुत्वा रुष्टा जाता इत्याह **वीर्येति**।

व्याख्यार्थ—इतना सुन कर वे रुष्ट हुवे, 'वीर्य शौर्य' श्लोक से कहते है :—

श्लोक—वीर्यशौर्यबलोद्धमात्मशक्तिसमं वचः।
कुरवो बलदेवस्य निशम्योचुः प्रकोपिताः ॥२३॥

श्लोकार्थ—वीर्य, शूरवीरता और बल से उत्तम और अपनी शक्ति के समान बलदेव के वचन सुनकर कौरव क्रोधित होकर कहने लगे ॥२३॥

सुबोधिनी—**वीर्यं** क्रियाशक्तिः, **शौर्यं** स्वभावः, **बलं** देहस्य, त्रिभिरुक्तद्धं वचः फलपर्यवसायीति। उग्रसेनो युष्मानाज्ञापयदिति वीर्येणोक्तम्। क्षितीशेश इति शौर्येण। **मा विलम्बितमिति** बलेन। **यद्यमिति** आत्मशक्तिसमम्। **कुरव** इति अभिमानार्थम्। तद्धर्म एव युक्तः, न तु तदीयाः। राजानमप्रयोजक जानन्त्येव। बलस्य परं तादृशं वचनम्। यदि स्वयं वदेत्, ममाज्ञयैव एतत्कर्तव्यमिति, तदा क्रोधो न भवेत्। वस्तुत ईश्वरत्वात् अस्माकं तेषामपि भक्तत्वाविशेषेपि यद्यादवेष्वेवैश्वर्यं स्थापयित्वा अस्मास्वीशितव्यत्व स्थापयति, तत्र हेतुर्न कुलीनत्वादि, तथा सत्यस्मास्वेवोचितं स्यात्। साधारणलीलेयं न भवतीति न स्वेच्छया यथामुखं करणम्, भक्त्यार्थं हि **भगवानवतीर्णः, सा च भक्तिः** कारणानुरोधादुद्गता कौरवेष्वेव पुष्टा भवितुमर्हति, **नाकौरवेषु**। ईश्वरत्वाद्भक्तिमपि तेभ्य एव प्रयच्छतीति वेद। न। तथा सति दौष्म्यं स्यात्। अतः सिद्धमेव भक्तिमाश्रित्य भगवान् वदतीति कारणाधीनत्वं च भक्तेर्ज्ञात्वा स्वोत्कर्षं स्थापयितुं किञ्चिदुक्तवत्। इत्यर्थः। यतस्तेनैव वाक्यैः अन्तर्यामितया वा प्रकर्षेण कोपिताः ॥२३॥

व्याख्यार्थ - वीर्य का आशय क्रिया शक्ति है, 'शौर्य' का भाव बलदेवजी का स्वभाव ही ऐसा है, 'बल' शब्द से बलरामजी का शरीर ही बलरूप है यह प्रकट किया है, इन तीन कारणों से ही तेजस्वी उत्तम वाक्य बलरामजी ने कहे जो फल पर्यवसायी थे, अब एक एक पद का स्पष्टीकरण करते हैं उग्रसेन तुमको आज्ञा देते हैं ये वाक्य वीर्य पूर्ण होने से वीर्य को प्रकट करने वाले हैं। उग्रसेनजी पृथ्वी पतियों के भी स्वामी हैं, यह वाक्य शौर्य दिखाने वाला है। देरी न करो, यह वाक्य बल का द्योतक है। 'यत् यूयं' 'कुरव' पद से उनका अभिमानी स्वभाव प्रकट किया है, उनका धर्म ही युक्त है, न कि वे तदीय हैं। राजा की कोई आवश्यकता नहीं हैं, यों जानते ही है, यदि बल स्वयं यह वचन कहे कि मेरी आज्ञा से यों करो, तो उचित ही है, तब क्रोध उत्पन्न न होवे। क्योंकि वे वास्तविक हमारे ईश्वर हैं। वे विशेषतया हमारे समान भक्त नहीं है, तो भी उन यादवों में ही ऐश्वर्य स्थापन कर पश्चात् हममें ईशपन स्थापन करते हैं। उनमें ईश्वरत्व स्थापन करने में हेतु उनकी कुलीनपन नहीं है, यदि वह हो तो, हम में ही स्थापन करना उचित है। यह साधारण लीला नहीं है, इस लिये अपनी इच्छा से जैसा आवे वैसा करना उचित नहीं है, कारण कि, भगवान् ने भक्तों के हितार्थ अवतार धारण किया है। वह भक्ति कारण, के अनुरोध से उत्पन्न, कोरवों में पुष्ट होनी चाहिये, न कि कौरवेत्तर यादवों में, यदि कहो कि ईश्वर होने से भक्ति भी उनको ही देते हैं, प्रभु होने से ऐसी ही इच्छा है, इस पर कहते हैं कि, 'नहीं' यों न करना चाहिये इस प्रकार करने से विषमता होती है, अतः सिद्ध हुई, भक्ति का आश्रय कर भगवान् कहते हैं, इसलिये भक्ति को कारण के आधीन जान कर ही अपना उत्कर्ष दिखाने के लिए वा स्थापन करने के लिए कुछ कहने लगे, यों आशय है, क्योंकि उसने ही वाक्यों से अथवा अन्तर्यामिपन से उनमें क्रोध उत्पन्न किया है ॥२३॥

आभास— स्वोत्कर्षख्यापकानि पञ्चवाक्यान्याह **अहो महच्चित्रमिति**।

आभासार्थ—अपना उत्कर्ष प्रसिद्ध करने वाले वाक्य 'अहो महच्चित्र' श्लोक में कहते हैं:—

श्लोक—कुरव ऊचुः—**अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया।**
आरुरुक्षत्युपानद्वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—कौरव कहने लगे कि काल की गति समझ में नहीं आती है, यह महान् अचम्भे की बात है कि जिस सिर पर मुकुट धरा जाता है, उस सिर पर जूती चढ़ना चाहती है ॥२४॥

सुबोधिनी - देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मधर्माः उत्कर्षः क्रमान्निरूप्यते। तत्र देहोत्कर्षे वस्तुतो विचार्यमाणे यादवा धर्मरहिताः स्वेच्छाचाराः चर्मपुटप्रायाः, कौरवास्तु देवाधिष्ठिताः मुकुटाश्रयशिरस्थानीयाः। अयमर्थः पारमार्थिकः। एवं सति कौरवेभ्योऽपि यादवोत्कर्षे वस्तुसामर्थ्याभावात् कालवशादेव तथा भवतीति, कालश्चेश्वरो नियन्तुमशक्य इति, पूर्वं कदाप्येवं न जातमिति, महच्चित्रं भवति। तत्र हेतुः **दुरत्यया कालगत्येति**। ईश्वरवाक्यात् दुरत्ययत्वम्,अन्यथा असम्बद्धवाक्यतायां न किञ्चिद्दूषणं स्यात्। वै निश्चयेन। **उपानच्छिरः आरुरुक्षतीति**। मुकुटैवंस्त्रादिभिर्व्यासादिभिश्च सेवितम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ - देह, इन्द्रियों, प्राण, अन्तःकरण और आत्मधर्मों का उत्कर्ष क्रम से निरूपण किया जाता है। पहले यादवों से अपनी देह का उत्कर्ष बताते हैं, देह के उत्कर्ष का वास्तविक रीति से विचार किया जावे, तो यादव धर्म रहित, स्वेच्छाचारी केवल चमड़े से बने हुये शरीर वाले है। कौरव तो देवाधिष्टित और जिस पर मुकुट धरा जाता है ऐसे शीर्ष जैसे उच्च स्थानीय हैं, यह पारमार्थिक यों होने पर भी कौरवों से यादवों का उत्कर्ष हो, ऐसे किसी प्रकार की बस्तु के सामर्थ्य का आभाव है किन्तु कालवश ही यों होता हैं, काल को ईश्वर भी नियम में नहीं ला सकता है, पहले कभी भी इस प्रकार नहीं हुवा है अतः महान् आश्चर्य है, इसमें क्या कारण है ? जिसका उत्तर देते हैं काल की गति जानी नहीं जाती है, ईश्वर वाक्य होने से दुरत्ययपन है, यों न होवे तो अर्थात् ईश्वर वाक्य होने से काल की गति समझी न जावे तो असम्बद्ध वाक्यता[1] में निश्चय से कुछ दूषण न होवे, इसमें दृष्टान्त देते हैं, जिस मस्तक को मुकुट वस्त्र आदि और व्यास आदि महर्षियों ने उच्च स्थान दिया है वह माना तथा पूजा है जिससे उस मस्तक पर सदैव मुकुट व पुष्प आदि पवित्र वस्तु धरी जाती है उस पर क्या जूता चढ़ना चाहता है ? अर्थात् हम जो उच्च हैं उन पर जूते के समान यादव चढ़ना चाहते हैं ॥२४॥

आभास— ऐन्द्रियकव्यवहारे विवाहशयनादौ हीनत्वमाह **एते यौनेन संबद्धा** इति।

आभासार्थ—'एते यौनेन सम्बद्धाः' श्लोक से इन्द्रिय सम्बन्धी विवाह शयन आदि व्यवहार में यादवों की हीनता कहते हैं—

---

१. जो वाक्य परस्पर सम्बन्धित न हो सके उनमें

श्लोक—एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः ।
वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—यादवों के साथ विवाह सम्बन्ध कर, राज्यासन देकर, इनके साथ सोना, बैठना और भोजन करके इनको अपने समान बनाया है ॥२५॥

सुबोधिनी—यूनो भावो विवाहो यौनम्, तेन संबद्धाः। पूर्वमेकोत्पन्ना अपि व्यवहारे हीना इति त्यक्त्वा अपि पुनः यौनेन संबद्धा इत्यर्थः। पृथादयः स्त्रियः तेभ्यः समानीता इति। ननु तथापि 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपी'ति न्यायेन न समानयनमात्रेण तुल्यता भवतीति चेत् तत्राह **सहशय्यासनाशना** इति। शयनमासनं भोजनं चेत् सह, येन सह तत्तुल्य एव भवतीति स्थितिः। अत एव वृष्णयस्तुल्यतां नीताः। अनेन अज्ञानान्निषिद्धाचरणे प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिति पक्षो निवारितः। एवं कुलधर्मविचारेण स्वस्योत्कर्षमुक्त्वा ऐश्वर्यविचारेणाप्युत्कर्षमाह **अस्मद्दत्तनृपासना** इति। पूर्वं हि ययातिना पूरव एव राज्यं दत्तम्, अन्ये ज्येष्ठा अपि तदधीनाः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि पूर्व में एक से उत्पन्न हुवे हैं, तो भी ये व्यवहार में हम से हीन थे, उस हीनता पर ध्यान न देकर इनसे विवाह सम्बन्ध जोड़ा, पृथा आदि स्त्रियाँ इनसे ली हैं यदि कहो कि 'स्त्री रत्न दुष्कुलादपि' इस न्याय से स्त्रियों के लाने से समानता नहीं होती है, जिसके उत्तर में कहते हैं, कि इनके साथ सोना, बैठना और भोजन आदि भी किये जिनसे इनकी समानता हो गई, इस प्रकार हमने इनको कृपा से अपने समान बनाया है, यों कहने से यह सूचित किया कि वह पक्ष अज्ञान से कोई निषिद्ध आचरण हो जावे तो उसका प्रायश्चित किया जाता है, वह पक्ष अमान्य कर दिया है, इसी तरह कुल के धर्म विचार से अपना उत्कर्ष बताकर, ऐश्वर्य के विचार से भी अपनी बड़ाई प्रकट करते हैं कि 'अस्मद्दत्त नृपासनाः' इनके राज्य था ही नहीं वह भी हमने दिया है, जैसे कि पहले ही ययाति ने पुरु को राज्य दिया, दूसरे बड़े भी उसके आधीन हुवे ॥२५॥

आभास—एवं साधनानि स्वाधीनान्युक्त्वा तेषां भोगोऽप्यस्मदधीन एवेत्याह **चामरव्यजने इति ।**

आभासार्थ—इस प्रकार साधन अपने आधीन थे कहकर उनका भोग भी अपने आधीन 'चामर व्यजने' श्लोक से बताते है—

श्लोक—चामरव्यजने शङ्खमातपत्रं च पाण्डुरम् ।
किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया ॥२६॥

श्लोकार्थ—ये यादव चँवर, व्यजन, शङ्ख, श्वेत छत्र आसन और शय्या; इन सबका भोग तब कर सकते है, जब हमने उपेक्षा कर दी हैं ॥२६॥

सुबोधिनी—चामरव्यजने परितः। शङ्खोऽग्रे आतपत्रं पश्चात् तत्रापि पाण्डुरं श्वेतम्। किरीटमुपरि। आसनमधः। शय्या निद्रावस्थायाम्। एतानि सप्तमहाराजचिह्नानि अन्येषामयुक्तानि राजभिरवश्यं अन्यत्र दृष्टानि निषेद्धव्यानि। तथापि तुल्यतां नीता इति राजभिरस्माभिरुपेक्षितानि भुञ्जते। भोगः प्राणधर्म इति तदुत्कर्षो निरूपितः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—महाराजाओं के सात चिन्ह हैं चामर, व्यजन, शङ्ख, श्वेत छत्र, मुकुट, आसन और शय्या, ये महाराजाओं के पास अवश्य होने चाहिये, दूसरे इन चिन्हों को रखने के योग्य नहीं है, उन (दूसरों) के पास देखने में आवे तो निषेध किया जाता है, ये सात चिन्ह इस प्रकार काम में, लाये जाते हैं, चामर और व्यजन चारों तरफ फिराये जाते हैं, जिससे वायु हो एवं मक्खी आदि महाराजा को श्रम न देवे शङ्ख आगे ध्वनि करते हुए महाराजा के आने की सूचना देता है, छत्र पीछे के भाग में ऊपर धरा जाता है, जिससे धूप आदि से रक्षा होती है, मुकुट शिर पर धरा रहता है, आसन बैठने के लिये नीचे रहता है, नींद के लिये शय्या की आवश्यकता रहती है, इस प्रकार सात चिन्ह महाराजाओं के पास रहने ही चाहिये जिनका वे उपभोग कर सकते हैं, किन्तु ये यादव हमारे दिये हुए राज्य और इन चिन्हों को इसलिए उपभोग कर रहे हैं, क्योंकि हमने उपेक्षा की है। भोग, यह प्राणों का धर्म है इसलिये उसका उत्कर्ष निरूपण किया है ॥२६॥

आभास—आज्ञापनादिरन्तःकरणधर्म इति तदसहमानाः तन्निषेधपूर्वकं तदपकर्षमाहुः **अलं यदूनामिति ।**

आभासार्थ—आज्ञा आदि देना अन्तःकरण का धर्म है, इसलिये उसको सहन न करते हुए ऐसी अनुचित आज्ञा का हम कैसे पालन करें ? अतः इनका अपकर्ष 'अलं यदूनां' श्लोक से वर्णन करते है-

श्लोक—अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनैर्दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतम् ।
ये नः प्रसादोपचिता हि यादवा आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ॥२७॥

श्लोकार्थ—बड़े खेद का विषय है कि हम कौरवों की कृपा से बढ़े हुए ये यादव आज निर्लज्ज होकर हम (दाताओं) को आज्ञा करते हैं, जैसे सर्प को दूध पिलाकर बढ़ाया जाता है तो वह सर्प पिलाने वाले को काटते लज्जाता नहीं, वैसे ही ये यादव हमसे राज्य और राज्य-चिन्ह पाकर बढ़े हैं और अब हमारा ही अपमान कर आज्ञा करते हैं, अतः इनसे राज-चिन्ह छीन लेने चाहिए ॥२७॥

सुबोधिनी—नरदेवलाञ्छनानि पूर्वोक्तानि उपेक्षाविषयाणि। अलमिति निषेधार्थे। नरदेवलाञ्छनैरलम्। अतःपरं पूर्यताम्। अग्रे न स्थापनीयमित्यर्थः। दत्तापहारे हेतुः दातुः प्रतीपैरिति। अज्ञानादत्तं स्वानिष्टसम्पादकत्वे निवारणीयमित्यत्र दृष्टान्तमाह **फणिनामिवामृतमिति**। 'सर्पस्य हि पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थकृ'दिति। स हि मत्ततां सम्पादयति, पश्चादन्धः सन् पोषकमपि

भक्षयति । तदस्मासु जातमित्याह । ये यादवाः नः प्रसादोपचिताः, अद्य गतत्रपाः सन्तः, अस्मानेवाज्ञापयन्तीति । बतेति खेदे ॥२७॥

व्याख्यार्थ—पहले बताये हुए राज-चिन्ह उपेक्षा के विषय हैं, 'अलं' यह शब्द निषेध अर्थ में है, अर्थात् अब ये चिन्ह यादवों के पास नहीं रहने चाहिये, अब तक रहे सो रहे आगे वहां रखने अनुचित हैं, देकर लौटाकर लेने का कारण कि मूल से दिये हुए हैं। अपने ही पदार्थ अपना अनिष्ट करे तो उनका निवारण करना चाहिये, जैसे सर्प दूध पिलाने वाले का अनर्थ करता है, दूध पीने से वह उन्मत्त हो अन्धा बन जाता है, पालन करने वाले को काटता है, वही अवस्था हम लोगों की हुई है, जो यादव हम लोगों के प्रसाद से पल कर बढे हैं, वे ही निर्लज्ज हो हमको आज्ञा करते हैं। दुःख का विषय है ॥२७॥

आभास—वस्तुविचारेणात्मधर्ममाश्रित्याहुः **कथमिन्द्रोऽपीति** ।

आभासार्थ—वस्तु को विचारते हुए आत्म धर्म का आश्रय कर 'कथमिन्द्रोऽपि' श्लोक में इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

श्लोक—**कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः ।**
अदत्तमवरुन्धीत सिंहग्रस्तमिवोरणः । २८॥

श्लोकार्थ—जैसे सिंह के हाथ आई हुई भेड़ आदि वस्तु उसकी कृपा के बिना कोई नहीं ले सकता है. वैसे ही भीष्म, द्रोण और अर्जुन आदि कौरवों के दिए बिना इन्द्र भी साम्ब को (छुड़ाकर) नहीं ले जा सकता है ॥२८॥

सुबोधिनी—भीष्मो हि कालकामपरशुरामादीनां जेता । ततोऽप्यधिको द्रोणः विद्यया तुल्योऽपि ब्राह्मण्यादधिकः । ततोऽप्यर्जुनः तच्छिष्योऽपि महादेवादिप्रसादैरुपचितः । एते त्रय आधिभौतिकादिरूपाः आदिभूता येषां तैः अदत्तं इन्द्रोऽपि कथमवरुन्धीत । इन्द्रो वस्तुतः सर्वाधिपतिः, तथाप्येते अधिकृताः, न हि देहादिषु प्रतिकूलेषु ईश्वरोऽपि भोगं प्राप्तुमर्हति । ननु स्वभागः, तेषां का दानापेक्षेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **सिंहग्रस्तमिवोरण इति** । यद्यप्युरणस्याल्पमेषस्य पुत्रो भार्या वा भागो भवति, तथापि सिंहग्रस्तः तत्कृपयैव प्राप्यते, तथैव साम्बः सभार्योऽस्मदवरुद्ध इत्यर्थः ॥२८॥

व्याख्यार्थ—भीष्मजी, काल, काम और परशुराम आदि को भी जीतने वाले है, उससे भी अधिक द्रोणाचार्य विद्या में समान होते हुए भी ब्राह्मण होने से अधिक है, उससे भी विशेष अर्जुन है क्योंकि द्रोण का शिष्य होने पर भी महादेव आदि देवों के प्रसादों से युक्त है, ये आधिभौतिक तीन रूप जिनके आदि (अग्रगण्य) हैं वैसे कौरवों के दिये बिना इन्द्र भी इस पकड़े हुए साम्ब को नहीं ले सकता है, यद्यपि इन्द्र वास्तविक रीति से सर्व के अधिपति है, तो भी ये अधिकृत अर्थात् अधिकार

वाले हैं,देह आदि यदि प्रतिकूल हो तो समर्थ भी भोग प्राप्त करने योग्य नहीं होते, (तो फिर) यह तो अपना भाग है,जिसमें दान की कौनसी अपेक्षा है?इसको दृष्टान्त से समझाते हैं, सिंह ग्रस्तमिवोरण'जैसे तुच्छ मेष की सन्तान अपना भोग है किन्तु जब उसको सिंह पकड़ लेता है तब वह कृपा कर देवे तो लिया जा सकता है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार साम्ब उनका होते हुए भी हमने उसको स्त्री समेत पकड़ रखा है अतः भीष्म आदि कृपा कर देवे तो ले सकते है ॥२८॥

आभास—एवं पञ्चावयवमहङ्कारवाक्यं श्रावयित्वा निर्गता इत्याह **जन्मेति** ।

आभासार्थ इस प्रकार पांच अवयव वाला अहङ्कारयुक्त राम को सुना कर वहां से निकले यह वर्णन 'जन्म' श्लोक से श्री शुकदेवजी वर्णन करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—**जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदास्ते भरतर्षभ ।**
आश्राव्य रामं दुर्वाक्यमसभ्याः पुरमाविशन् ॥२९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे भरतर्षभ ! सत्कुल में जन्म से और बान्धवों की कृपा से प्राप्त लक्ष्मी के कारण जिनका मद बढ़ गया है, वैसे असभ्य कौरव बलरामजी को दुर्वाक्य कहकर अपने नगर में चले गए ॥२९॥

सुबोधिनी—वाचनिककायिकातिक्रमे निरूपिते मानसिकोऽपि निरूपितप्रायः । एवमतिक्रमे हेतुः **जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदा** इति । जन्म सत्कुले, बन्धुः बान्धवः, श्रीः लक्ष्मीश्च । जन्मनि बन्धुकृता या श्रीः औत्पत्तिकलक्ष्मीः, तया वा उन्नद्धा मदो येषाम् । **भरतर्षभेति** सम्बोधनं राज्ञो मायामोहाभावाय । 'दौष्यन्तिरत्यगान्मायां'मिति वाक्यात् । अन्यथा क्षत्रियः स्वकीयापकर्षं न सहत इति । इयं कथा श्रवणविघातिका स्यात् । इदं वाक्यं रामं प्रत्येव स्पष्टम् । नत्वन्तःकरणेनापि स्वीकीयेषु । तदाह **दुर्वाक्यं राममाश्राव्य पुरमाविशन्निति** । ननु गृहे समागते नैवं वक्तुमुचितमित्याशङ्क्याह **असभ्या** इति । सतामेवैषा कथा । श्रीमदेनैव तेषामसत्त्वम्; अन्यथा अग्रे ऋजुत्वं न स्यात् ॥२९॥

व्याख्यार्थ—वाणी, काया और मन से किये हुए अतिक्रम का निरूपण हुआ, अब इस प्रकार अतिक्रम करने का कारण कहते हैं कि (१) सत्कुल में जन्म (२) बान्धव बहुत थे और (३) लक्ष्मी इन तीन कारणों से जिनका मद बढ गया है, वैसे कौरव, अथवा इस जन्म में बान्धवों के बल से वा कृपा से प्राप्त लक्ष्मी से जिनमें अहङ्कार की वृद्धि हुई है वैसे कौरव, बलरामजी को दुर्वाक्य कह कर पुर में प्रविष्ट हो गये, भरतर्षभः यह विशेषण राजा को इसलिये दिया कि राजा में माया मोह का अभाव है। जिसमें प्रमाण देते हैं कि 'दौष्यन्तिरत्यगान्मायाम्' दुष्यन्त कुल में उत्पन्न राजा माया को पार कर गये,अन्यथा क्षत्रिय अपना अपकर्ष सहन नहीं कर सके। यह कथा श्रवण को विशेष कर घात करनेवाली होवे,यह वाक्य स्पष्ट रीति से राम के प्रति ही है,न कि अन्तःकरण से भी स्वकीयों के प्रति है जैसा कि 'दुर्वाक्यं राममाश्राव्य पुरमाविशन्' कहा है गृह में जाने के अनन्तर यों करना

उचित नहीं है, जिसके उत्तर में कहते है कि 'असभ्याः' असभ्य हैं यों तो यह कथा सज्जनों की है केवल श्री के मद से उनमें असभ्यता आ गई है, यदि यों न होवे तो, आगे चल कर उनमें ऋजुता न आनी चाहिये, जिसका आशय है कि ये सज्जन है किन्तु लक्ष्मी के मद के कारण इनमें असभ्यता ने प्रवेश किया है ॥२९॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह दृष्ट्वा कुरूणामिति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'दृष्ट्वा कुरूणां, श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—**दृष्ट्वा कुरूणां दौःशील्यं श्रुत्वाऽवाच्यानि चाच्युतः ।**
अवोचत्कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन्प्रभुः ॥३०॥

श्लोकार्थ—कौरवों का दुष्ट स्वभाव देख और दुर्वचन सुन कोप से भर गए, जिससे देखे नहीं जाते, वैसे वे अच्युत और प्रभु होने के नाते हँसते हुए कहने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी—अवगणनां कृत्वा गमनं दौःशील्यम्, अन्यथा बान्धवातिक्रमो महदतिक्रमश्च न भवेदिति । अवाच्यान्यपि श्रुतवान् । अवाक्यानि तादृशवाक्यानि वा । **अच्युत** इति भयाभावाय । स्वयमपि तानि वाक्यानि दूषयितुं अवोचत् । अन्यथा देहेन निराकरणेऽपि वाक्येन (न) निराकृताः स्युः । **कोपसंरब्ध** इति । भगवत्कृतं न मन्यन्त इति । अन्तर्गुप्ते क्रोधे अपकार एव, झटिति कृते क्लिष्टता स्यादिति क्रोधस्य बहिराविष्कारमाह **दुष्प्रेक्ष्य** इति । **प्रहसन्निति** दुःखाभावाय । यतः प्रभुः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—तिरस्कार कर चला जाना ही असभ्यता है,यदि असभ्यता न होती तो बान्धवों का अतिक्रम और महत्पुरुषों का अतिक्रम न करते, इस प्रकार न कहने योग्य वचन भी असभ्यों के सुने, वाणी में न आने योग्य वाक्य तथा अश्लील वाक्य सुने, ऐसे वाक्यों के सुनने पर भी भय का अभाव रहा अर्थात् राम को किसी प्रकार भय न हुआ, क्योंकि 'अच्युतः' आप च्युति रहित है, अनन्तर स्वयं भी उनके वाक्यों को दूषित करने के लिए कहने लगे अन्यथा देह से निराकरण होने पर भी वाक्य से (न)निराकृत होवे,भगवान् की आज्ञा नहीं मानी, इसलिये कोप से भर गये, यदि वह क्रोध भीतर समा लेवे तो उसमें अपकार ही होवे, शीघ्रता करे तो क्लिष्टता हो, इसलिये क्रोध को बाहर निकाला जिससे आपकी आकृति ऐसी हो गई जिसको कोई देख नही सकता किन्तु विशेषता यह थी, कि क्रोध प्रकट भी किया तो भी दुःख नहीं था इसलिये हंसते हुए कहने लगे क्योंकि 'प्रभु' सर्व प्रकार समर्थ है ॥३०॥

आभास—पञ्चवाक्यानामर्थं स्थानत्रयेण नवभिर्निराकृत्य नवभिः कर्तव्यं प्रतिज्ञाय दशमेनाध्यवस्यति **नूनमिति** दशभिः श्लोकैः ।

आभासार्थ—पांच वाक्यों के अर्थ को नव श्लोकों से स्थानात्रय से निराकरण कर तथा उनमें कर्त्तव्य को प्रतिज्ञा की है और दशवें श्लोक से क्रिया को कहते हैं वे १० श्लोक 'नून नाना' श्लोक से प्रारम्भ होते हैं—

श्लोक—**नूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः ।**
तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लकुटो यथा ॥३१॥

श्लोकार्थ—यह निश्चय है कि असाधु पुरुष जब अनेक मदों से मत्त हो जाते हैं, तब वे शान्ति नही चाहते हैं, उनको शान्त करने का उपाय डण्डा ही है, जैसे पशु डण्डे से ही शान्त होता है ॥३१॥

सुबोधिनी—'विद्यामदो धनमद' इत्यादिवाक्यैर्मदा निरूपिताः । तद्युक्ता नीतिवाक्यानि न मन्यन्ते । अतस्तेषां प्रतीकारः क्रियैव, न वाक्यानि । अतो यदेतैर्निराकृतमनङ्गीकरणवाक्यैः तद्युक्तमेव । अतः शमार्थं प्रयुक्ता विफला जाता इति क्रियायैव दण्डरूपया शमः कर्तव्यः, तदाह **तेषां हि प्रशमो दण्ड** इति । एतत्स्वोपक्रमानुसारेणोपक्रमविचारेणोक्तम् । उपसंहारे त्वन्यथा वक्तव्यम् । शममात्रमुपक्रमः, मारणमुपसंहारः, ततो विरोधः । मारणोद्यम एव शमो भवतीति । ननु क्रियया दण्डे सुतरामेव प्रकोपः स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह **पशूनां लकुटो यथेति** । स हि दण्डो लोकप्रसिद्धः । स यथा दृष्ट एव पशूनां भयजनको भवति, उद्यतो वा, तथा सर्वस्वनाशः उद्यतो ज्ञातो वा पशुतुल्यानां भयजनकः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—'विद्यामदो धनमद' आदि वाक्यों से शास्त्रों में मद के प्रकार कहे गये हैं, उन मद से जो युक्त होते हैं अर्थात् जिनमें इस प्रकार का मद स्थान पा लेता है, वे नीति के वाक्यों को नहीं मानते हैं,अर्थात् वे नीति से नहीं समझते हैं इसलिये इनके समझाने का उपाय क्रिया ही है, न कि वाक्य, इसलिये इनको नीति वाक्यों से समझाया गया किन्तु उनसे इन को समझ नहीं आई जिससे इन्होंने माना नहीं, कारण कि ये मद से मत्त हो गये हैं, अतः इन्होंने जो किया वह इनके अनुरूप ही है : अतः शान्ति के लिये जो वाक्य कहे वे निष्फल[1] हो गये, इसलिये दण्ड स्वरूप क्रिया से ही इनको शान्त करना चाहिये । वह दृष्टान्त से समझ'कर कहते हैं कि 'तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लकुटो यथा' जैसे पशु डण्डे से शांत होते हैं वैसे ही मदमत्त भी डण्डे से शान्त होते हैं । ऊपर जो कहा वह उपक्रम के अनुसार, उपक्रम के विचार से कहा । उपसंहार में दूसरे प्रकार से कहना चाहिये, केवल शांन्ति हो इतना ही उपक्रम है, मारना उपसंहार है । इससे विरोध[2] है मारने का उद्यम ही शांति है, शंका करते हैं कि यदि क्रिया से सजा दी जायेगी तो सुतराम ही विशेष कोप होगा? जिसके उत्तर में दृष्टान्त देते हैं कि जैसे पशु डंडे को देखते ही शांत हो जाते हैं लगने पर तो सदैव के लिये शांत रहते हैं वैसे ही मदान्ध पशु तुल्य मनुष्यों को डंडा ही भय पैदा कर शांत करता है ॥३१॥

१—व्यर्थ २— फुट नोट में 'नापि विरोध'पाठ दिखाया है जिसका अर्थ है कि यों कहते हुए भी विरोध नहीं है ।

आभास—नन्वेवं सति यादवाः किमिति निवारिता इत्याशङ्क्य तथा सति वैषम्यं स्यात्, न दण्डः, नहि शत्रुजयादिर्दण्डो भवति, अतो हितकारिण एव वयमिति पूर्वोपक्रान्तां स्वक्रियामाह **अहो** इति ।

आभासार्थ—यदि यों है तो यादवों को क्यों रोका? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यदि यादवों को न रोका जाता तो आपस में विषमता पैदा होती, दण्ड (सजा) न होता । शत्रु को जीत लेना दण्ड नहीं है, अत हम दोनों के हित करने वाले हैं, इसलिये पहले प्रारम्भ की हुई अपनी क्रिया का वर्णन इस 'अहो यदून्' श्लोक से करते हैं

श्लोक—अहो यदून्सुसंरब्धान्कृष्णं च कुपितं शनैः ।
सान्त्वयित्वाहमेतेषां शममिच्छन्निहागतः ॥३२॥

श्लोकार्थ—अहो ! कुपित यादव लड़ने के लिए उद्यत थे और श्रीकृष्ण भी कुपित थे, इनको धीरे-धीरे शान्त कराके, दोनों के हित की इच्छा से मैं यहाँ आया हूँ ॥३२॥

सुबोधिनी—शान्तिकर्तरि प्रकोपश्चाश्चर्यम् यदवः सर्वे सुसंरब्धाः मारणोन्मुखाः समर्थाश्च । नन्वदृष्टवशादुर्वारिताः, किं तव पौरुषमिति चेत्, तत्राह **कृष्णं च कुपितम्**इति । भगवद्विचारमात्रेणैव सर्वं सिध्यति, किं पुनः कुपिते । कृष्ण इति भक्ताधीनः, कालात्मा वा । तेनादृष्टादयस्तदनुगुणा एवेति तेषां सर्वमेव प्रतिकूलम् । तान् सर्वान् शनैः सान्त्वयित्वा, न तु बलात्, च स्वसामर्थ्यप्रकाशनेन, तथाकरणे हेतुः **अहम्**इति । अहङ्कारादेते बन्धनं कृतवन्त इति तदधिष्ठाता चाहमिति तेषां शान्तिमेव वाञ्छन्निहागतः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—अहो ! शब्द कहने का भावार्थ बताते हैं कि शांति करानेवाले पर क्रोध करना आश्चर्य है । यादव सब तैयार थे मारने के लिये आक्रमण करने वाले थे और यों करने में समर्थ भी थे, अदृष्ट के वश होने से रुक गये आपका इस में कौनसा पौरुष है यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि केवल यादव कुपित नहीं थे किन्तु श्रीकृष्ण स्वंय भी क्रोध में आ गये थे, भगवान् के केवल विचार से सर्व सिद्ध हो जाता है, फिर कुपित होने पर क्या न होगा? 'कृष्ण नाम देने से यह बताया है कि वे तो भक्तों के आधीन है अथवा कालात्मा हैं इससे अदृष्ट आदि उनके पीछे ही चलने वाले गुण हैं, इस प्रकार उन (कौरवों) के प्रतिकूल था उन सर्व को धीरे-धीरे शांति कराई, न कि बल से और न अपना सामर्थ्य प्रकट करने से, यों करने में कारण 'अहम्'—मैं हूँ, क्योंकि इन्होंने अहंकार से सम्बन्ध का बन्धन किया है, उस अहङ्कार का अधिष्ठाता मैं हूँ इसलिये उन अभिमानियों को शांत करने की इच्छा से ही मैं यहाँ आया हूँ।

आभास—सा च शान्तिर्वाक्यैर्न जातेति क्रियार्थमाह **त इम** इति ।

आभासार्थ—वह शान्ति, वाणी के बोध द्वारा न हुई, इसलिये अन्य क्रिया से होगी, यह 'त इमे' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः ।
तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाष्यान्मानिनोऽब्रुवन् ॥३३॥

श्लोकार्थ—ये मन्द बुद्धि, कलह प्रिय, दुष्ट एवं अभिमानी मेरा तिरस्कार कर, न कहने योग्य वचन मुझे बार-बार कहने लगे ॥३३॥

सुबोधिनी—यतो मन्दमतयः । तर्हि युद्धोद्यमे लौकिके शान्ता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह **कलहाभिरता** इति । परस्परकलह एव अभितो रतिर्येषाम् । कलहे तु युद्धे मरणमेव, शान्तिर्नेति । नन्वन्तर्यामितया प्रेरणीया इति चेत्, तत्राह **खला** इति । मूलेच्छया तानन्तर्यामी तथैव प्रेरयतीति । तथापि त्वया शमार्थमुद्यमः कृत इति तदेव कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **तन्मामवज्ञायेति** । तादृशशमकर्तारं माम् तत्तत्र वा । अङ्गीकारे हि वाक्यैः हिताचरणादिभिश्च प्रबोधो भवति, नान्यथा । ते त्ववज्ञामेव कुर्वन्ति । **मुहुरिति** पुनः । परीक्षा निषिद्धा अवज्ञया मानसो दोष उक्तः । **दुर्भाष्यान्** दुष्टवाक्यानि चाब्रुवन् । अयं वाचनिको दोषः । **मानिन** इत्यग्रेऽप्यसमाधानम्॥३३॥

व्याख्यार्थ—जो वचन नहीं कहने चाहिये वैसे अयोग्य वाक्य मुझे कहने लगे, क्योंकि मन्द बुद्धि हैं, तब लौकिक प्रकार से युद्ध का उद्यम करने पर शांत होंगे? जिसके उत्तर में कहते हैं कि तो भी शांत न होंगे, कारण कि कलह प्रिय हैं, अर्थात् आपस से लड़ना ही जिनको प्यारा है वैसे हैं, कलह करने पर लड़ाई होगी जिसमें निश्चय मरना ही पड़ेगा शान्ति न होगी, यदि यों है, तो अन्तर्यामी स्वरूप से प्रेरणा कर शांति करालो, जिसके उत्तर में कहते हैं कि यों भी न हो सकेगा, कारण कि 'दुष्ट' हैं, अर्थात् मूल इच्छा से अन्तर्यामी इनको वैसी ही प्रेरणा करते हैं, तो भी आपने शांति के लिए उद्यम किया है तो अब भी वैसी ही प्रेरणा कीजिये, जिसका उत्तर देते हैं कि वैसी शांति चाहने वाले मुझे अपमानित कर रहे हैं, वह भी बार-बार कर रहे हैं, शांति तो तब हो, जब वे कहे हुए शांति के वचन माने, न मानने पर शांति हो नहीं सकती, ऐसे दुष्टों को परीक्षा करनो निषिद्ध है । अवज्ञा करना मानस दोष है, यह बताया दोष पूर्ण दुर्वचन कहे यह उनका वाचनिक दोष प्रकट किया अहङ्कारी है यह कह कर बताया कि आगे भी शांति से समाधान न होगा ॥३३॥

आभास—ननु युक्तमेतेषां वाक्यम, उग्रसेनवाक्यत्वेन त्वयापि किमित्युच्यत इत्याशङ्क्योग्रसेनस्य सर्वराजाधिपत्यं साधयति **नोग्रसेनः किल विभुरिति** ।

आभासार्थ—इनका उग्रसेन की आज्ञा विषयक कहना उचित है, उग्रसेन के वचनों से आप भी क्या कहना चाहते हो? जिसका उत्तर देते हैं 'नोग्रसेन' श्लोक से उग्रसेन सर्व राजाओं के स्वामी हैं यह सिद्ध करते हैं—

श्लोक—**नोग्रसेनः किल विभुर्भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।**
शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्तिनः ॥३४॥

श्लोकार्थ—उग्रसेन केवल भोज, वृष्णि और अन्धकों के राजा नहीं है, किन्तु जिसके आदेश के पीछे शक्र आदि देव भी चलते हैं, अतः वे सर्व प्रकार समर्थ हैं ॥३४॥

सुबोधिनी—स्वतो वचनाभावायाह **किलेति**। नाम्नैव तस्येश्वरत्वं पूर्वसिद्धं सूचितम्। तत्रापि **विभुः** लौकिकन्यायेनापि समर्थः। अन्यथा तत्पुत्रः कंसो राजा न भवेत्। किञ्च। साम्प्रतं भोजवृष्ण्यन्धकानामीश्वरः। त्रिविधानामपि यादवानां प्रभुः। अलौकिकं सामर्थ्यमाह **शक्रादयो लोकपाला** इति। भगवतः इच्छया आज्ञया वा। 'मयि भृत्य उपासीन' इत्यत्रैव तद्विवृतम्। यस्योग्रसेनस्य आदेशमाज्ञां अनुवर्तन्त इति। अन्यथा यथाभिलषितवृष्ट्यादि न भवेत् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—'किल' निश्चय वचन कह कर यह बताते हैं कि केवल मेरे वचनों से वैसे नहीं किन्तु नाम से ही उनका ईश्वरपन प्रथम ही सिद्ध है, यदि यों न होता तो उनका पुत्र कंस राजा न बनता, किञ्च अब भोज, वृष्णि और अन्धकों का ईश्वर अर्थात् स्वामी है, तीन प्रकार के ही यादवों का प्रभु है, इस प्रकार लौकिक सामर्थ्य दिखला कर अब अलौकिक सामर्थ्य दिखलाते है, 'शक्रादयो लोकपालाः' भगवान् की इच्छा से अथवा आज्ञा से शक्र आदि लोकपाल भी जिस (उग्रसेन) की आज्ञा का पालन करते हैं 'मयि भृत्य उपासीन' श्लोक में यह स्पष्ट किया है' यदि यों न हो तो जैसी, जितनी और जब वृष्टि आदि न होवे अर्थात् जैसी चाहते है वैसी ही तब-तब होती है, इस प्रकार लोकपाल भी आज्ञा मानते हैं ॥३४॥

श्लोक—**सुधर्माक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः ।**
आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हणः ॥३५॥

श्लोकार्थ—जो सुधर्मा सभा में अपने बल से बिराज सकते हैं, देवताओं का पारिजात वृक्ष जो स्वर्ग में है, उसको भी लाकर भोग करते हैं; क्या वे राज्य सिंहासन के योग्य नहीं है ॥३५॥

सुबोधिनी—किञ्च। **येन** सुधर्मा आक्रम्यते, इन्द्रादयोऽपि नमस्कृत्य तां सभामारोहन्ति, तादृशीमाक्रामति। अमराङ्घ्रिपश्च पारिजातः आक्रम्यते। तन्मर्यादादूरीकरणात्तस्याप्याक्रमणम्। इन्द्रादीनामननुमतौ कथमेतद्द्वयं स्यात्। भगवत्सामर्थ्यमेतादृशमिति नाशङ्कनीयम्। भगवतैवोग्रसेने ऐश्वर्यकला स्थापितेति नरत्ववत्तदधीनत्वमत्र अङ्गीकृतमिति, 'अङ्गीकृता ग्लानिर्न दोषाय'। अनधिकारिण एतेऽस्माभिस्तुल्यतां नीताः; राज्यं च दत्तमिति यदुक्तम्, तन्निराकरोति **आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनार्हण** इति। न हि सर्वे राजानो भवन्ति। यद्यं को राज्यार्हो न भवेत्, तदैव तद्वचनं सार्थकं स्यात्। तत्र भाग्यं क्रियाशक्तिश्च प्रयोजिके। तत्रापि क्रियाशक्तिः प्रयोजिका। यदिन्द्रं निर्जित्य पारिजातः आनीय भुज्यते। ननु सा शक्तिः साम्प्रतं कुण्ठिता भविष्यतीति चेत्, तत्राह **सोऽसाविति**। स एव भगवानिदानीं ममाग्रे तिष्ठति, मैवं **किलेत्युपलम्भार्थं** प्रसिद्धिः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—जो श्री कृष्णचन्द्र, सुधर्मा सभा को दबाकर उसमें विराजमान होते हैं, जिस सभा को इन्द्र आदि देव प्रणाम करने के पश्चात् वहां चढ़ते हैं अर्थात् उसमें बैठ सकते है, देवताओं के वृक्ष पारिजात को भी स्वेच्छा से लाकर अपने गृह में धरते हैं, पारिजात वृक्ष स्वर्गीय वृक्ष है अतः स्वर्ग में रहना चाहिये उसकी इस मर्यादा को दूर करना अर्थात् मिटाना यह ही उस पर आक्रमण कहा जाता है, इन्द्रादि लोकपालों की आज्ञा वा सम्मति लिये बिना ये दोनों कार्य कैसे हुवे होंगे? ये दोनों कार्य भगवान् के सामर्थ्य से हुवे हैं इसलिये इनमें शङ्का नहीं करना चाहिये, भगवान् ने ही उग्रसेन में ऐश्वर्य कला स्थापित की है, इसलिये नरत्व की तरह उनका आधिनत्व भी अङ्गीकार किया है, कारण कि शास्त्र में कहा गया है कि 'अङ्गीकृता ग्लानिर्नदोषाय' छोटी बात भी यदि अङ्गीकार की जाय तो फिर उसमें दोष नहीं लगता है, ये अधिकारी नहीं थे हम लोगों के तुल्य कर दिये हैं, कौरवों ने जो कहा कि हमने राज्य दिया है, उसका निराकरण करते हैं जो स्वर्ग से देवताओं का पारिजात वृक्ष पृथ्वी पर लाकर जिसका उपभोग कर रहे है वैसे भी सिंहासन पर बैठने योग्य नहीं है क्या? सर्व राजा नहीं हो सकते हैं, यदि एक राज्य के योग्य न हो तब तो वह वचन सार्थक हो सकता है, उसमें भाग्य और क्रिया(काम करने की)शक्ति दोनों प्रयोजक हैं किन्तु उनमें भी क्रिया शक्ति विशेष प्रयोजक है, जैसे कि इन्द्र को जीतकर पारिजात वृक्ष लाकर भोग किया जाता है, यदि कहो कि वह शक्ति अब कुण्ठित (मन्द) हो गई होगी, इस पर कहते हैं कि 'सोऽसौ' वह भगवान् अब भी मेरे पास ही हैं आप यों मत कहो कि वह शक्ति कुण्ठित हो गई होगी, 'किल' निश्चय से वह शक्ति अब भी वैसी ही विद्यमान(मौजूद) है, इस प्रकार कहना 'उपालम्भ' देने के समान है ॥३५॥

आभास—भाग्योत्कर्षमाह **यस्य पादयुगमिति**।

आभासार्थ—'यस्य पादयुगं' श्लोक से भाग्य का उत्कर्ष कहते हैं।

श्लोक—**यस्य पादयुगं साक्षाच्छ्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी।**
स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ॥३६॥

श्लोकार्थ—जिसके चरणों की सेवा साक्षात् अखिलेश्वरी लक्ष्मी करती है, वह लक्ष्मीपति क्या राज्य चिन्ह धारण करने के योग्य नहीं है? क्या यों कहना उचित है?॥३६॥

सुबोधिनी—सर्वेषां भाग्यं लक्ष्म्यधीनम्। अतः सा सर्वेश्वरी। सापि नीचतया भगवच्चरणारविन्दं सेवते। साक्षादित्याधिदैविकी, न तु दिव्यस्त्रीरूपा, नापि राज्यलक्ष्मीरूपा। यदाहुः 'चामरव्यजने शङ्ख'मिति, तद्दूषणार्थं हेतुमुक्त्वा, तदनूद्य दूषयति स नार्हति किल श्रीश इति। चामरव्यजनादयो नरदेवपरिच्छदाः। अनर्हत्वे हि तदुपेक्षया भोगो भवति। अन्यथा इन्द्रादीनामपि तथात्वं यथात्वं स्यात् ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ—सब के भाग्य लक्ष्मी के आधीन है, अतः वह सबकी मालकिन है, वह सर्वेश्वरी होते हुए भी छोटी होकर भगवान् के चरणारविन्द की सेवा करती है वह सेवा करनेवाली लक्ष्मी, राज्य लक्ष्मी रूप नहीं है और न दिव्य रूप लक्ष्मी है' किन्तु साक्षात् पद देकर यह बताया है कि आधिदैविक स्वरूपा श्री है, यह जो कौरवों ने कहा कि 'चामर व्यजने शङ्ख' चवर आदि राज्य चिन्ह भी हमारे दिये हुवे हैं इस कहने के हेतु पूर्वक दूषण देकर कहते हैं कि 'स नार्हति किल श्रीश' क्या लक्ष्मी पति इनको नहीं धारण कर सकते हैं, चँवर व्यजन आदि नृपति के चिन्ह हैं, अयोग्यत्व के कारण उसकी उपेक्षा से भोग किया जाता है नहीं तो इन्द्र आदि का भी तथात्व यथात्व हो जाय, अर्थात् वे भी वैसे बन जावे ॥३६॥

आभास—यदप्युक्तं अलं यदूना'मिति, तत्तदा स्यात्, यदि स्वतः सिंहासनं न स्यादिति वक्तुं तस्य सिंहासनोपपत्तिमाह **यस्याङ्घ्रिपङ्कजरत** इति।

आभासार्थ—कौरवों ने अलं यदूनां श्लोक में जो कहा वह तब हो सकता है, यदि उनको अपना स्वतः सिंहासन न होवे, यह बताने के लिये हेतु पूर्वक अपने सिंहासन की सिद्धि करते हैं—जिसका वर्णन 'यस्याङ्घ्रि, श्लोक में करते हैं—

श्लोक—यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालै-
र्मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम्।
ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः
श्रीश्चोद्वहेम चिरमस्य नृपासनं क्व ॥३७॥

श्लोकार्थ—दश दिक्पाल जिसकी चरण रज को अपने उत्तम मुकुटों से सिर पर धारण करते हैं और जिसके चरणों से उत्पन्न होने के कारण श्री गङ्गाजी तीर्थों की भी तीर्थ रूप हुई है, जिसकी कला के भी कलारूप ब्रह्मा, महादेव और मैं तथा लक्ष्मी जी जिसकी चरण रज को बहुत समय से मस्तक पर धारण करते हैं उनको यह नृपासन ध्यान में भी नहीं है ॥३७॥

सुबोधिनी—अष्टौ लोकपालाः परितः, उपरि ब्रह्मा, अधः शेषोऽहम्। एतेषां दशानामाशापालकानां मध्ये प्रभुणा भाव्यम्। स एव मुख्यो राजशब्दार्थः। प्रभुत्वं च दिक्पालकानां सर्वथा हीनभावावलम्बने भवति। एतत्तु सर्वैरेव दृष्टमिति सिद्धवन्निरूप्यते। यस्य चरणकमलरजः अखिललोकपालैः सर्वैरेव पूर्वोक्तैः। मौल्युद्धेयर्थं लौकिकन्यायेन स्वामिसेवायां वा ऐश्वर्यो त्तमैरिति करणम्। तेषामपि भगवदीयत्वसिद्ध्यर्थं धर्मोत्कर्षमुक्त्वा धर्मोत्कर्षमाह। उपासिता तीर्थानामपि तीर्थभूता गङ्गा यस्य। कीर्तिमाह ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलाया इति। भगवतः तस्याल्पयोंऽशाः सत्त्वादयः। तत्र रजो ब्रह्मा। तमो भवः। अहं सत्त्वम्, भूधरत्वात्। श्रियमाह श्रीश्चेति। चकारादन्तःस्थिते ज्ञानवैराग्ये निरूपिते। वयं सर्व एव यस्य रजः शिरसि स्थापयामः, तस्य नृपासनं क्व भवतीति व्यङ्ग्योक्तिः ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ—चारों तरफ आठ लोकपाल, ऊपर ब्रह्मा, नीचे शेष रूप मैं, दश दिशाओं के पालक इनके मध्य में 'प्रभु' विराजते हैं, यह ही मुख्य 'राज' शब्द का अर्थ है, 'प्रभुत्व' तब होता है जब दिशाओं के पालक अपना हीन भाव स्वीकार करें, इन दश दिक्पालों ने सर्वथा अपना हीन भाव स्वीकार किया है, यह तो सर्व ने प्रत्यक्ष देखा है, इसलिये सिद्ध की हुई क्रिया की तरह कहा जाता है, प्रथम कहे हुए सर्व लोकपालों ने चरण कमलों की रज को धारण करने के लिये अपने उत्तम मुकुटों को साधन बनाया है, उन लोकपालकों का भगवदीयत्व सिद्ध करने के लिये स्वामी की सेवा करने में ही ऐश्वर्य का उत्कर्ष होता है यह लौकिक न्याय से सिद्ध कर अब धर्मोत्कर्ष कहते हैं, तीर्थों की भी तीर्थ रूपी गङ्गा भी जिसकी चरण रज की उपासना करती है, अब भगवान् की कीर्ति का वर्णन करते हैं, ब्रह्मा महादेव, मैं जो उनको कला के भी कलाएँ हैं। भगवान् की कोई कला है जो जगत् की उत्पत्ति पालन और नाश करती है, उस कला के तीन अंश है जिनके नाम सतो, रजो और तमो गुण है, उनमें रजोगुण ब्रह्मा, तमोगुण महादेव, और सतोगुण मैं हूँ, क्योंकि पृथ्वी को धारण करता हूँ अब लक्ष्मी का वर्णन करते है और लक्ष्मी तथा 'च' पद से अन्तः स्थित ज्ञान वैराग्य का निरूपण किया है हम सब ही जिसकी रज शिर पर चढ़ाते हैं उनके समक्ष नृपासन क्या वस्तु है? अर्थात् कुछ नहीं है ॥३७॥

आभास—एतमभिप्रेतार्थं निरूप्य साक्षात्तदुक्तमर्थं खण्डयति भुञ्जते कुरुभिर्दत्तमिति।

आभासार्थ—इस प्रकार अभिप्रेत अर्थ का निरूपण कर उन कौरवों ने जो कुछ कहा उसका खण्डन 'भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृष्णयः किल।
उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरव. शिरः ॥३८॥

श्लोकार्थ—कौरवों का दिया हुआ पृथ्वी का एक छोटा हिस्सा ही यादव भोगते हैं, इस प्रकार कहने का आशय यह है कि हम यादव जूते के समान और कौरव शिर के सदृश हैं ॥३८॥

सुबोधिनी- यद्दत्तं भूखण्डमात्रमेव भवति तत्रापि स्वरूपतोऽपि हीनत्वम् । उपानहः किल वयमिति । उत्कर्षस्य निरूपितत्वाद्बाधितार्थत्वं स्पष्टमेव ॥ ३८ ॥

व्याख्यार्थ—जो कहा केवल भूखण्ड ही दिया है, उसमें भी स्वरूप से ही हीनपन है, हम जूते हैं, यों कहने से उत्कर्ष का निरूपण किया है, बाधित अर्थत्व तो स्पष्ट ही है॥३८॥

आभास—तर्ह्येवं सति किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह **अहो ऐश्वर्यमत्तानामिति** ।

आभासार्थ—यों है तो क्या करना चाहिये जिसका उत्तर 'अहो ऐश्वर्यमत्तानां' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—अहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम् ।
असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेतानुशासिता ॥३९॥

श्लोकार्थ—अहो! मद्यपान किये हुए के समान, ऐश्वर्य मद से उन्मत्त अहङ्कारी पुरुषों की असम्बद्ध तथा रुक्ष वाणी को शिक्षा देने को समर्थ कौन सहन करेगा । अर्थात् कोई नहीं ॥३९॥

सुबोधिनी—तेषां वाक्यं न सोढव्यम् । ततो यत्कर्तव्यम्, तदग्रे वक्ष्यते । आदरणीयानां वाक्यं कर्तव्यम् । लोकेऽपि मत्तास्त्वनादरणीयाः । तत्राप्यैश्वर्येण नित्यमत्ताः । बहिर्व्यवहारे माननीयत्वमाशङ्क्य मत्तत्वाज्ञानादेव तथात्वमिति ज्ञापयन् दृष्टान्तमाह मत्तानामिवेति । इवेत्यग्रेऽपि सम्बध्यते । मानिनामिवेति च । आत्मानमेव बहु मन्यमाना उन्मत्ता भवन्ति । ते सर्वदैव न मानीया इति दृष्टान्तद्वयम् । किञ्च । वाक्यान्यपि सम्बद्धार्थानीत्याह असम्बद्धा गिरो रूक्षा इति । स्नेहेन बाधितार्था अपि प्रयोजका भवन्तीति, तद्भावमाह रूक्षा इति । तत्र सहनमुभयेषां सम्भवति, विवेकिनामसमर्थानां च । वयं तु नोभयविधा इत्याह अनुशासितेति । लोके अनुशासनाधिकारिभिर्न सोढव्या इति ॥३९॥

व्याख्यार्थ—उनके वचन सहने योग्य नहीं है अतः सहने नहीं चाहिये, अनन्तर जो करना चाहिये, वह आगे कहेंगे, जो आदर करने के योग्य हैं उनका कहना मानना चाहिये । लोक में भी उन्मत्त, आदर देने के योग्य नहीं है, उनमें भी जो ऐश्वर्य से सदैव उन्मत्त रहते हैं, यद्यपि बाह्य व्यवहार में मान देने के योग्य हैं, किन्तु ऐश्वर्य मद से मत्त होने के कारण अज्ञानी हो जाने से वैसे हो गये हैं जिसको जताने के लिये दृष्टान्त देते हैं, जैसे मनुष्य यों तो व्यवहार आदि में योग्य हैं किन्तु जब मद्य पान करता है तब मत्त होने से अपनी समझ गंवा देता है यथा तथा प्रलाप करता है वैसे ही ऐश्वर्य से उन्मत्त भी होते हैं, किन्तु वे अपने को ही बड़े समझते हैं, जिससे सदैव उन्मत्त बने रहते हैं, अतः वे हमेशा मान देने योग्य नहीं है इसलिये दो दृष्टान्त दिये हैं, उनके वचन भी असम्बद्ध अर्थवाले होते हैं यदि वैसे भी वाक्य स्नेह से कहे जावें तो बाधित अर्थ वाले होने पर भी प्रयोजनवाले बन जाते हैं किन्तु उनमें स्नेह का अभाव है, जिससे वे रुक्ष होने से अप्रयोजक हैं (१) जो विवेकी होते हैं और (२) जो असमर्थ होते हैं, हम तो दोनों प्रकार के न होकर शासन करने वाले हैं, लोक में जो शासन करने वाले अधिकारी वर्ग हैं उनको सहन नहीं करने चाहिये ॥३९॥

आभास—ततो यत्कर्तव्यं तत्प्रतिजानीते अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामिति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो कर्त्तव्य है उसको 'अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामि' श्लोक में प्रतिज्ञा करते हैं—

श्लोक—अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामित्यमर्षितः ।
गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ दहन्निव जगत्त्रयम्॥४०॥

श्लोकार्थ—आज मैं पृथ्वी को कौरव हीन कर डालूंगा, यों क्रोध में आकर, हल हाथ में लेकर उठ खड़े हुए जिससे यों समझ में आया कि अब त्रिलोकी को जलाने के लिये कदाचित् तैयार हुवे हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—यादवेभ्यः कौरवमात्रस्यैव तैरुत्कर्षो निरूपित इति, भगवद्धस्ते मृतानां स्वर्गोऽस्तीति भूमिमेव निष्कौरवीं प्रतिजानीते । आदौ मनसि तस्योद्यममाह अमर्षित इति । कायिकमाह गृहीत्वा हलमुत्तस्थाविति । तस्योद्यमः सर्वजनीनो जात इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह दहन्निव जगत्त्रायमिति । सङ्कर्षणो हि प्रलये तथोत्तिष्ठति, यस्य मुखाद्वह्निरुद्गच्छति, त्र्यक्षश्च महादेवः, तद्रूपं प्रकटितवानित्यर्थः ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—उन्होंने यादवों से कौरव मात्र का उत्कर्ष निरूपण किया है, भगवान् के हस्त से जो मरते हैं उनको स्वर्ग मिलता है, इसलिये पृथ्वी को ही बिना कौरव वाली करने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं, पहले मानसिक उद्यम किया जिसके 'लिये अमर्षित विशेषण दिया है अर्थात् क्रोध आने से मन में यह निश्चय किया है कि पृथ्वी पर से कौरव मात्र का नाश करूंगा, फिर कायिक उद्यम किया, जैसे हल उठा कर खड़े हो गये, उनका उद्यम सर्वजनिन हो गया, यह जताने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि मानों तीनों लोकों को अब जला देंगे । सङ्कर्षण प्रलय करने के समय इस प्रकार ही उठते हैं, जिनके मुख से अग्नि प्रकट होती रहती है, त्र्यक्ष अर्थात् महादेव का स्वरूप अब प्रकट किया है ॥४०॥

आभास—क्रियामाह लाङ्गलाग्रेणेति ।

आभासार्थ—अब कौरव नाश के लिये जो क्रिया की उसका 'लाङ्गलाग्रेण' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्दीदार्य गजाह्वयम् ।
विचकर्ष स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥

श्लोकार्थ—हल के अग्र भाग से हस्तिनापुर को खोद कर गङ्गा में प्रवाहित करने के लिये खेंचने लगे ॥४१॥

सुबोधिनी– स्त्रियो बालाश्च युद्धे मारयितुमशक्या इति तस्यां भूमावुत्पन्नाः कौरवा एवेति, लोके प्रसिद्धा भविष्यन्तीति, नगरमेवोद्विदार्यं जन्मान्तरेऽपि तथात्वाभावाय गङ्गायां प्रहरिष्यन् विचकर्ष । क्रियाद्वयं निष्पन्नम्, तृतीयां क्रियां निवारयितुं चकारः । प्रहरणे विलम्बहेतुमाह **अमर्षित** इति । अतिक्रोधावेशान्न कृतवान् । अविचारे वा, प्रहरणसङ्कल्पे हेतुः ॥४१॥

व्याख्यार्थ– युद्ध में स्त्रियां और बालक मारने कठिन हैं, इसलिये उस भूमि पर उत्पन्न कौरव ही मारे गये यों लोक में प्रसिद्ध होगा, नगर को ही उखाड़ कर गङ्गा में डालते हुए खींचने लगे, इस प्रकार दो कार्य पूर्ण किये, तीसरी क्रिया नहीं की इसलिये 'च' अक्षर मध्य में दिया है प्रहरण में विलम्ब का कारण 'अमर्षित' है अति क्रोध से नहीं किया अथवा विशेष क्रोध होने के समय विचार बराबर नहीं रहता है, ऐसे समय में मारने का सङ्कल्प किया था अतः तीसरी क्रिया नहीं हुई ॥४१॥

आभास—कथमेतावता शिक्षा जातेत्याकाङ्क्षायामाह जलयानमिति ।

आभासार्थ– इतनी शिक्षा कैसे हुई ? जिसका उत्तर 'जलयानं' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—जलयानमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।
आकृष्यमाणमालोक्य कौरवा जातसम्भ्रमाः ॥४२॥
तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीषवः ।
सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम् ॥४३॥

श्लोकार्थ– नाव की तरह घुर घुराते और किसी से खेंचे जाते नगर को गङ्गाजी में गिरते देख कर कौरव घबरा गये ॥४२॥

सकुटुम्ब, जीने की इच्छा वाले वे कौरव लक्ष्मणा सहित साम्ब को आगे कर हाथ जोड़ उन प्रभु श्री बलरामजी की शरण में गये ॥४३॥

सुबोधिनी– आ समन्तात् घूर्णा यस्मिन् तदाघूर्णं नगरम् । शत्रन्तं क्रिया वा । भिन्नं वाक्यं गङ्गायां पतदिति । मरणावश्यकताप्रतिबोधनं मरणं च ज्ञापितवान् । तत्र हेत्वन्तरनिराकरणाय बलक्रियादर्शनं कौरवाणामाह **आकृष्यमाणमिति**। कौरवत्वात्सहजदोषाभावः । **जातसम्भ्रमा** भीताः। अनेन गर्वनिवृत्तिरुक्ता । अतो दोषस्य निवृत्तत्वात् गुणस्य च विद्यमानत्वात् तमेव शरणं जग्मुः । ऐकमत्यमाह **सकुटुम्बा** इति । मोक्षाभावायाह **जिजीषव** इति । निमित्ते विद्यमाने शरणागतिमपि नाङ्गीकुर्यादिति साम्बस्य सभार्यस्यानयनमाह **सलक्ष्मणमिति** । लक्ष्मणासहितम् । प्राञ्जलयो विज्ञापनार्थाः । कथमपकर्षोऽङ्गीक्रियत इति चेत्, तत्राह **प्रभुमिति** ॥४२-४३॥

व्याख्यार्थ—जिसमें चारो तरफ घुर घुरा शब्द होने लगा वैसा वह हस्तिनापुर नगर गङ्गाजी में गिरता देख कर समझने लगे कि अब हम अवश्य मरेंगे जिसका कारण अन्य कुछ नहीं है किन्तु

बलरामजी इसको खींच रहे हैं, कौरव होने का इनमें स्वाभाविक दोष तो था ही नहीं अतः भय नीत हुए, डर गये, यों कहने से यह बताया कि उनका अहङ्कार नष्ट हो गया,जिससे, दोष निवृत्त हो गये, गुण तो विद्यमान ही थे इसलिये उनकी ही शरण गये, यों नहीं था, कि कोई गया कोई नहीं गया सब साथ होकर सम्मत हो शरण गये इसलिये कहा है कि 'सकुटुम्बा' कुटुम्ब सहित सब शरण गये। यदि प्रभु की क्रिया से मरते तो मुक्त हो जाते है, परन्तु वे मोक्ष न चाहकर जीना चाहते थे, 'निमित्त' विद्यमान होने पर शरणागति को भी अङ्गीकार न करें इसलिये स्त्री सहित साम्ब को साथ में ले आये, हाथ जोड़े, जिसका आशय प्रार्थना करनी है, ऐसे ऐश्वर्य मदोन्मत्तों ने अपना अपकर्ष कैसे अङ्गीकार किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रभुः' श्री बलरामजी प्रभु हैं अर्थात् सर्व सामर्थ्य युक्त हैं, अतः यदि अपना अपकर्ष न मानते तो नष्ट हो जाते इसलिये नाश होने से अपने को बचाने के लिये अपना अपकर्ष माना ॥४२-४३॥

आभास—ते हि पूर्वं वार्तामात्रहारित्वं भगवतो ज्ञातवन्तः पश्चात्क्रोधे कृते भीताः स्तोत्रमाहुः पञ्चभिः राम रामेति ।

आभासार्थ—उन (कौरवों) ने पहले यों समझा कि यह बलरामजी केवल संदेश ले आने वाले हैं,अनन्तर जब उन्होंने क्रोध किया उस क्रोध को देखकर डर गये जिससे पांच श्लोकों से स्तुति करने लगे

श्लोक—राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदामहे ।
मूढ़ानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यधीश्वरः ॥४४॥

श्लोकार्थ– हे राम! हे राम! हे सबके आधार! हम आपके प्रभाव को नहीं जानते हैं, हम जो मूर्ख और कुबुद्धि हैं, उनके अपराध आपको क्षमा करने चाहिये, क्योंकि आप ईश्वरों के भी ईश्वर हैं ॥४४॥

पहले किये हुए अपराध की क्षमा का यह वर्णन करते हैं

कारिका—**पूर्वं कृतापराधस्य क्षमापनमिहोच्यते ।**
क्रीडार्थत्वं तत्र हेतुर्महत्त्वं चापि सान्त्वने ।
अन्यार्थं च समारम्भः शरणं च वयं गताः ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार लीला करने का 'हेतु' क्रीडा है शान्ति कराने में ही महत्व होता है यह समारम्भ अन्य के लिये है, अतः हम (कौरव) शरण गये ॥१॥

सुबोधिनी—तत्रापराधक्षमायां पञ्चहेतूनाह रामेति । रमणात्मकस्यादरेण द्विःसम्बोधनम् । अयमपि हेतुः । परं भगवद्धर्मः । अखिलाधारेति । वयमाधेयाः । न हि यो यं बिभर्ति, स तदपराधं

मन्यते । अज्ञानमपि हेतुरित्याह **प्रभावं न विदामह** इति । यद्यपि सहजः प्रभावो ज्ञायते, तथाप्यत्राविष्कारं (न) करिष्यसीति न जानीमः । सर्वावतारेषु प्रतिज्ञातार्थमात्रपूरकत्वात् । नन्वेतादृशोऽप्यर्थः प्रतिज्ञासिद्ध एवेति कथमज्ञानम्, तत्राह **मूढानामिति** । विचाररहितानामिति । ननु सर्वेषां कथं विचाराभावः, तत्राह **कुबुद्धीनामिति**। दुर्बुद्धित्वात् कैश्चिदुक्तमपि न गृहीतमित्यर्थः ।४४।

व्याख्यार्थ—कौरवों ने अपराधों की क्षमा माँगी, जिसके पांच हेतु कहते हैं—राम! राम! दो बार आदर के लिये कहा, जो प्रभु रमण करते हैं उनके लिये आदर होना चाहिये, यह भी (१) हेतु है भगवत् धर्म है, (२) हेतु कहते हैं कि 'अखिलाधारः' सब के आधार हैं, जिससे हम आधेय हो गये अतः जो आधार होकर जिसका पालन करते हैं उसके अपराध को ध्यान में नहीं लाते हैं, (३) हेतु बताते हैं-कि हम आपके प्रभाव को नहीं जानते है क्योंकि हममें अज्ञान है, यद्यपि आपका प्रभाव सहज है, सब जान सकते हैं फिर भी आप यहाँ प्रकट नहीं कर रहे हैं, इसलिये नहीं जान सकते हैं, यद्यपि सर्वत्र अवतारों में प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ मात्र के आप पूरक हैं यों होने पर प्रतिज्ञा सिद्ध ही है, फिर प्रभाव को नहीं जान सकते है यों कैसे कहते हो इस पर कहते हैं कि 'मूढ़ानां' हम मूढ़ अर्थात् विचार हीन हैं, सब तो विचार हीन नहीं हो सकते है? जिसका समाधान करते हैं कि हम सब कुबुद्धि हैं, दुष्ट बुद्धि वाले होने से किसी का भी कहना नहीं माना ।।४४।।

कारिका—**बुद्धीर्न शुद्धा नो शास्त्रं नापि ज्ञानं स्वतः क्वचित् ।**
प्रभुः स्वामी भवांश्चापि धारकः क्षन्तुमर्हति ।।२।। ४४ ।।

कारिकार्थ—कौरवों को बलरामजी ने क्षमा दी जिसका कारण कौरवों में स्थित तीन हेतु हैं, (१)-देखा कि इनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है (२)—शास्त्र भी पढ़ा नहीं है और (३)-न स्वतः कोई स्वाभाविक ज्ञान इनमें है, इसलिये इन्होंने जो किया अथवा कहा वह ध्यान में लाने योग्य नहीं है, बलरामजी में दो गुण स्वतः है (१) आप प्रभु हैं तथा स्वामी हैं अतः आश्रय देने वाले तो क्षमा करना ही अपनी योग्यता समझते हैं—अतः क्षमा करते हैं—

आभास—किञ्च । अस्माभिरेवमपि न प्रार्थयितव्यम्, अतस्तवैव लीलास्थानं जगदिति तदाह **स्थित्युत्पत्ती**ति ।

आभासार्थ—विशेष यह है कि हमको इस प्रकार भी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये, कारण कि यह जगत् आपका ही लीला स्थान है कौरवों के इस लीला स्थान जगत् की पुष्टि श्री शुकदेवजी 'स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः ।**
लोकान्क्रीडनकानीश क्रीडतस्ते वदन्ति हि ।।४५।।

श्लोकार्थ—इस जगत् की स्थिति,उत्पत्ति और नाश का निराधार आप ही एक कारण हैं, हे ईश! ये लोक, आप खिलाड़ी के खिलौने हैं ।।४५।।

सुबोधिनी—एकेनैवोत्पत्त्यादिकं क्रियते, स्वस्मिन्नेव स्थितेन । तत्र तथा करणे प्रयोजनं लीला । तदाह **लोकान्क्रीडनकानिति** । ईश इति सम्बोधनमन्यथा न कुर्यादिति ज्ञापयति । क्रीडनका यन्त्रादयः । अन्यक्रीडार्थपक्षं व्यावर्तयति **क्रीडतस्त** इति । **वदन्तीति** प्रमाणं व्यासादयः । युक्तश्चायमर्थः । पूर्णास्त्वान्यथा प्रवृत्तिरयुक्ता ।४५।

व्याख्यार्थ—अपने में ही स्थित एक, इस जगत् की उत्पत्ति पालन और नाश करते हैं, यों करने का कारण वा प्रयोजन 'लीला' है, इसकी पुष्टि के लिये कहते हैं, 'लोकान् क्रीड़कान्' ये लोक खिलौनेहैं, ईश! यह सम्बोधन देकर यह समझाया है कि स्वामी हैं अतः लीला करते है यदि स्वामी नहीं होते तो लीला न करते,(खिलौने हैं तो कोई भी उनसे खेल सकता वा उनको अपना खिलौना बना सकता है, इस पर कहते हैं कि 'क्रिडतस्ते' आप ईश होने से खेलते हो,खिलाड़ी के खिलौने होते हैं दूसरे के नहीं । अतः ये खिलौने आप के हैं, इसमें प्रमाण क्या है? तो कहते हैं कि 'वदन्ति' व्यास आदि ऋषीश्वर यों कहते हैं - यह तात्पर्य उचित ही है, क्योंकि जो पूर्ण हैं उनकी लीला के सिवाय प्रवृत्ति उचित नहीं कही जाती ।।४५।।

आभास—किञ्च । समानेषु दण्डः क्रियते, न तु मशकतुल्येषु अतोऽतितुच्छत्वादस्मासु क्रोधो न युक्त इत्याशयेनाह **त्वमेव मूर्ध्नीदमिति**

आभासार्थ—किञ्च-समान हो उनको दण्ड किया जाता है, न कि मच्छर जैसे तुच्छों को, अतः हम जो अति तुच्छ हैं उन पर क्रोध करना उचित नहीं है इस आशय को 'त्वमेव मूर्ध्नी' श्लोक में व्यक्त करते हैं—

श्लोक—**त्वमेव मूर्ध्नीदमनन्त लीलया भूमण्डलं बिभर्षि सहस्र मूर्धन् ।**
अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ।।४६।।

श्लोकार्थ—हे सहस्र मस्तक वाले हे अनन्त आप ही इस भूमण्डल को लीला से अपने शिर पर धारण करते हैं और प्रलय काल में अपने में जगत् को समा लेते हैं अन्त में आप ही एक शेष रहते हो जिससे आपका नाम शेष पड़ा है ।।४६।।

सुबोधिनी—अस्य नगरस्य कियती वार्ता, पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णं भूमण्डलं हे अनन्त मूर्ध्नि लीलया बिभर्षि । तादृशसहस्रमूर्धा भवान् । भूमण्डलादधिकमात्रपरिमाणमायाति, न व्यापकत्वेत्यनन्तेति । न केवलमन्यप्रेरणया धारणम्, किन्तु स्वरुच्या । यतः अन्ते स्वात्मनि रुद्धं विश्वं यतस्तादृशो भवान् अद्वितीयः शेषे शिष्टो भवसि । यतः परिशिष्यमाणः स्वयमेव । अतः शेषनामेति भावः ।।४६।।

व्याख्यार्थ - हे अनन्त! इस नगर की क्या कहें. पञ्चाशत् कोटि जिसका विस्तार कहा जाता है वैसा भूमण्डल लीला से मस्तक पर धारण करते हो ऐसे आप सहस्र मूर्धा हैं अतः भूमण्डल से आपका अधिक परिमाण आता है न कि व्यापकपन है इसलिये आप अनन्त हैं, इस भूमण्डल को अन्य की प्रेरणा से आपने धारण नहीं किया है. किन्तु अपनी प्रसन्नता से धारण किया है, क्योंकि अन्त में अपने विश्व को समाकर आप ही एक शेष पर पोढे रहते हो जिससे आपका नाम शेष है ॥४६॥

आभास—एवमपि महतः अत्यल्पेषु क्रियाविष्कारोऽनुचित इति निरूप्य कृतस्य कोपस्यान्यथा विनियोगमाह **कोपस्ते** इति ।

आभासार्थ—इस तरह भी महान् का अति तुच्छों पर क्रिया का आविष्कार करना उचित नहीं है. यह निरूपण कर कहते हैं कि आपके किये हुए क्रोध का विनियोग अन्य प्रकार से है, जिसका वर्णन 'कोपस्ते' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ।**
गृह्णतो भगवत्सत्त्वं स्थिति पालनतत्परः ॥४७॥

श्लोकार्थ—आप द्वेष से अथवा मत्सर से क्रोध नहीं करते हो किन्तु लोक की शिक्षा के लिये कोप करते हो, सतोगुण को धारण कर अब जगत् की मर्यादा की रक्षा करने में संलग्न हैं ॥४७॥

सुबोधिनी – लोके द्वेधा कोपो भवति, द्विष्टे वा महत्युत्कर्षासहनाद्वा। तदुभयं न प्रकृते, किन्तु शिक्षार्थमेव । सर्व एव भगवतो बालका इति ज्ञापयितुमखिलपदम् । तत्र हेतुः **गृह्णतो भगवत्सत्त्वमिति** । गुणान्तरैरसंस्पृष्टसत्त्वम् । अन्यथा बाधितं स्यात् । सत्त्वस्य च महत्प्रयोजनमित्याह **स्थितिपालनतत्पर** इति । जगतो मर्यादापालनं चान्यथा न स्यात् ॥४७॥

व्याख्यार्थ – लोक में कोप दो प्रकार से होता है (१) शत्रु पर द्वेष से (२) बड़े का उत्कर्ष सहन न होने से ईर्षा से होता है, वे दोनों ही आप में इस समय नहीं हैं, किन्तु अखिल (सर्व के शिक्षार्थ कोप कर रहे हो, 'अखिल' पद देने का आशय यह है कि सब भगवान् के बालक हैं, जिसमें कारण यह है कि आपने इस समय सतोगुण को ग्रहण कर लिया है वह सतोगुण भी शुद्ध हैं अन्य रजो वा तमोगुण ने उसका स्पर्श मात्र नहीं किया है, यदि उनसे मिलित न होवे तो जा लीला जिस प्रकार आप कर रहे हैं वैसे न बनती, आप तो अब 'स्थित पालन तत्पर' मर्यादा को रक्षा में संलग्न हैं, यदि इस शुद्ध सत्व को धारण न करते तो मर्यादा का संरक्षण न हो सकता ॥४७॥

आभास—शरणागतिं प्रार्थयितुं नमस्यन्ति **नमस्त** इति

आभासार्थ—शरणागति की प्रार्थना के लिये नमेंगे, यह 'नमस्ते श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— **नमस्ते सर्वभूतात्मन्सर्वशक्तिधराव्यय ।**
विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥४८॥

श्लोकार्थ—हे सर्वभूतों की आत्मा ! हे सर्वशक्ति को धारण करने वाले ! हे अविकारी ! हे विश्वकर्मन् ! आपको नमस्कार है, हम आपकी शरण आए हैं ॥४८॥

सुबोधिनी नमनमात्रेणैव प्रसादयोगाय । **सर्वभूतात्मन्निति** । आत्मा स्वल्पेनापि तुष्यति । **सर्वशक्तिधरेत्यस्मदादितामसशक्तयोऽपि** तवैव । अस्मदीयं सर्वं धर्माधर्मश्च भवानित्युक्तम् । एवं सत्यस्मदीयदोषसम्बन्धः स्यादित्याशङ्क्याह **अव्ययेति** । किञ्च । एतत्पुरभङ्गे पुनरप्येतत्कर्तव्यं स्यादित्याशयेनाह **विश्वकर्मन्निति** । विश्वं कर्म यस्येति । अन्यदाप्यतिक्रमाभावाय नमनं प्रार्थयन्ते **नमस्तेऽस्त्विति** । एवं प्रसन्नं विधायाहुः **त्वां वयं शरणं गता** इति ॥४८॥

व्याख्यार्थ– नमन मात्र से ही कृपा होती है, केवल नमन से कृपा का कारण यह है कि आप सर्व भूतों की आत्मा हैं, आत्मा स्वल्प से भी प्रसन्न होती है, हम में जो तामस गुण है वह भी आपका ही है क्योंकि आप सर्व शक्तियों को धारण करते हैं अतः वे तामसादि शक्तियां आपकी ही हैं, हमारा सर्व धर्म तथा अधर्म आप है, यदि यों होगा तो हम में भी दोषों का सम्बन्ध हो जायेगा, इसका उत्तर देते हैं कि नहीं, क्योंकि आप अव्यय अर्थात् अविकारी हैं इस नगरी को नाश करोगे तो फिर भी आप को ही बनानी पड़ेगी, कारण कि आप ही विश्वकर्मा हैं फिर भी कोई अतिक्रम न हो इसलिये कहते हैं कि आपको प्रणाम है, इस प्रकार स्तुति पूर्वक प्रणाम करने से प्रसन्न कर, फिर कहते है कि हम आपकी शरण आये हैं । ४८॥

आभास— तैः स्वाभिप्रायो ज्ञात इति प्रसन्नो जात इत्याह **एवमिति** ।

आभासार्थ—कौरवों का अभिप्राय जानकर प्रसन्न हुए बलदेवजी ने उनको अभय दिया, जिसका वर्णन 'एवं प्रपन्नैः' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच–**एवं प्रपन्नैः संविग्नैर्वेपमानायनैर्बलः ।**
प्रसादित. प्रसन्नोऽसौ मा भैष्टेत्यभयं ददौ ॥४९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस प्रकार शरणागत, उद्वेग वाले और जिनका पुर काँप रहा था, वैसे कौरवों की प्रार्थना से प्रसन्न हुए बलरामजी ने मत डरो कहकर अभय दान दिया ॥४९॥

सुबोधिनी—प्रपत्तिः प्रतीकारः । संविग्ना मनसि पूर्वधर्मरहिताः । वेपमानमयनं स्थानं गृहं शरीरं च येषामिति भये हेतुः । शरीरे च गर्वाभाव उक्तः । अतस्त्रैधोत्तमधमंवद्भिः प्रसादितः प्रसन्नो जातः प्रसादकार्यं कृतवानित्याह **मा भैष्टेत्यभयं ददाविति** । वाचा सह कायिकमकृत्वा मानसमभयं ददौ ॥४९॥

व्याख्यार्थ—शरणागत होना प्रतीकार (उपाय) है, मन में जो अहङ्कार था वह अब नहीं रहा, इतना ही नहीं किन्तु जिनका आश्रय स्थान ग्रह तथा शरीर काम्प रहा था जिसको देख डर रहे थे अतः शरीर में गर्व न रहा, जिससे उत्तम धर्मवालों ने तीन प्रकार से बलदेवजी को प्रसन्न किया, प्रसन्न होने से जो कार्य किया वह कहते हैं कि मत डरो' यों कहने से उनको अभय दिया वाणी और कायिक कार्य न कर मानस अभय दिया ॥४९॥

आभास—भयात्कन्यासमर्पणं वारयितुं पारिबर्हदानमाह दुर्योधन इति ।

आभासार्थ—दुर्योधन ने भय से कन्या दी, जिसका निवारण करने के लिये 'दुर्योधनः' श्लोक में कहते हैं कि दहेज पूर्वक कन्या दो—

श्लोक— **दुर्योधनः पारिबर्हं कुञ्जरान्षष्टिहायनान् ।**
ददौ च द्वादशशतान्ययुतानि तुरङ्गमान् ॥५०॥

श्लोकार्थ— दुर्योधन ने कन्या-दहेज में ६० वर्ष की आयु वाले १२०० हस्ती और एक लक्ष बीस सहस्र घोड़े दिए ॥५०॥

सुबोधिनी—षष्टिहायनाः पूर्णसंवत्सराः सहस्रं शतद्वयं च गजा द्वादशैवायुतानि तुरङ्गमाः ॥५०॥

व्याख्यार्थ—साठ वर्ष की आयु अर्थात् पूर्ण आयु वाले १२०० हस्ती और १ लाख २० हजार घोड़े दुर्योधन ने पुत्री को दहेज में दिये ॥५०॥

श्लोक—**रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम् ।**
दासीनां निष्ककण्ठीनां सहस्रं दुहितृवत्सलः ॥५१॥

श्लोकार्थ—पुत्री पर वात्सल्य भाववाले दुर्योधन ने पुत्री को और भी ६हजार सूर्य जैसे प्रकाश वाले सुनहरी रथ तथा पदक पहनी हुई हजार दासियाँ भी दी ॥५१॥

सुबोधिनी—रुक्मसम्बद्धानां रथानामिति । बलप्रीतिः सूचिता । सूर्यवर्चसां सर्वलोकप्रसिद्धानाम् । मासाः संवत्सरा ऋतवश्च शतादिसङ्ख्यया प्रीणिता इति कालस्त्रेधा सन्तोषितः । साम्बश्च महादेवावतारः, बलश्च, तथा क्रोधश्च त्रयोऽपि प्रीणिताः । अम्बां प्रीणयति **दासीनामिति** सहस्रेण । **दुहितृवत्सल** इति । दाने तस्याभिप्रायः । अदाने कदाचित्ते दुहितरि कोपं कुर्युरिति ५१।

व्याख्यार्थ—सुवर्ण जड़ित ६ हजार रथ देकर बलरामजी को प्रीति का सूचन किया, वे रथ सूर्यवत् चमक रहे थे यों कह कर उनकी सर्व लोक में प्रसिद्धि प्रकट की, इनकी संख्या से मास, संवत्सर और ऋतु तीन प्रकार के काल को प्रसन्न किया, अर्थात् काल को तीन प्रकार से प्रसन्न किया, साम्ब

महादेव का अवतार है जिसको, तथा बलदेवजी और क्रोध को भी प्रसन्न किया. हजार दासियों के दान से अम्बा को प्रसन्न करते हैं, क्योंकि पुत्री पर वात्सल्य भाव है, दान करने में इस (दुर्योधन) का अभिप्राय यह है कि यदि इस प्रकार दहेज में न दूँ तो मेरी पुत्री पर ये (ससुराल वाले लोग) कोप करे अतः इतना भारी दहेज दिया ॥५१॥

आभास—तेषां प्रणिपत्तिमुक्त्वा बलभद्रस्य तदङ्गीकारमाह **प्रतिगृह्येति** ।

आभासार्थ—उनकी नम्रता आदि कह कर अब बलदेवजी ने दहेज स्वीकार किया यह वर्णन 'प्रतिग्रह्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक— **प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं भगवान्सात्वतर्षभः ।**
ससुतः सस्नुषः प्रायात्सुहृद्भिरनुमोदितः ॥५२॥

श्लोकार्थ—यादव श्रेष्ठ बलदेवजो ने वह सब दहेज लेकर, कौरवों से सन्मान प्राप्त कर बेटे और बहू के साथ द्वारका को प्रस्थान किया ॥५२॥

सुबोधिनी—दानाभिनन्दनार्थं प्रतिग्रहपदम् अभयं स्वयं दत्तवान्, स्वयं च तद्दत्तं गृहीतवान् । **तत्सर्वमिति** । असङ्कोचात् शुद्धभावः तस्य स्थापितः । तत्र हेतुर्न दानम्; किन्तु स्वपक्षे भगवान् तत्पक्षे सात्वतर्षभ इति । भक्तानां स्वामी । अन्यजीवाः सापराधा एव भवन्तीति तथाविधस्यानङ्गीकारे भक्तिमार्ग उत्सन्नः स्यात् । स्वस्य तद्ग्रहणं वारयति **ससुतः सस्नुष** इति । **सुहृद्भिरनुमोदित** इति । पराक्रमेण वैषम्याभाव उक्तः । ॥५२॥

व्याख्यार्थ—दुर्योधन ने जो दिया उसकी बलरामजी ने प्रशंसा की, इसलिये 'प्रतिग्रह' पद दिया है, आप । बलदेवजी ने तो अभय दिया है, और उनका दिया हुआ दहेज ग्रहण किया वह सब ग्रहण किया, सब शब्द कहने का आशय सङ्कोच न कर शुद्ध भाव स्थापित किया इसमें कारण दान नहीं है, किन्तु अपने पक्ष में भगवान् हैं उनके पक्ष में यादव श्रेष्ठ हैं, भक्तों के स्वामी हैं, दूसरे जीव अपराध वाले होते हैं यदि उनका दिया हुआ ग्रहण न किया जावे तो भक्ति मार्ग छिन्न भिन्न हो जाय अतः ग्रहण किया, किन्तु पुत्र तथा बहू के लिये लिया, जिसके लिये कहते हैं कि स सुतः—सस्नुष, बेटे और बहू के साथ मित्रों से सम्मान पाकर प्रस्थान किया, प्रराक्रम से विषमता का अभाव कहा ॥५२॥

आभास—बलभद्रचरित्रस्य प्रत्यापत्तिमाह **ततः प्रविष्ट** इति ।

आभासार्थ—बलभद्र चरित्र की प्रत्यापत्ति[1] 'ततः प्रविष्टः' श्लोक में कहते हैं—

१—चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने बलदेवजी में प्रविष्ट होकर निरोध रूप चरित्र किया. अनन्तर बलदेवजी स्वंय निरोध करेंगे इस समय बलदेवजी में भगवदावेश नहीं है । अब बलदेवजी में विचार का अभाव है यह कह कर सिद्ध किया है—

श्लोक—ततः प्रविष्टः स्वपुरीं हलायुधः समेत्य बन्धूननुरक्तचेतसः ।
शशंस सर्वं यदुपुङ्गवानां मध्ये सभायां कुरुषु स्वचेष्टितम् ॥५३॥

श्लोकार्थ—बलदेवजी अपनी पुरी में प्रविष्ट हुए, वहाँ प्रेमी बान्धवों से मिलकर, यादव श्रेष्ठों की सभा में सबके सामने जो कुछ वहाँ कौरवों के साथ चेष्टा की, वह सुनाई ॥५३॥

सुबोधिनी—अन्यथा 'नन्दव्रजं गत' इतिवत् भगवतः किञ्चित्कर्तव्यशङ्का स्यात् । **स्वपुरीं** द्वारकाम् । निर्विचारप्रवेशार्थमुक्तम् । **हलायुध** इति विचाराभावः । सर्वान् ज्ञपयित्वा समलङ्कृते पुरे प्रवेष्टव्यम् । विवाहे विरोधो वा न कर्तव्यः, मैत्री वेति उभयकरणाद्विचाराभावः । ततः पुरप्रवेशानन्तरं बन्धून् समेत्य । असम्मत्यभावा-**यानुरक्तचेतस** इति । स्वपौरुषं च स्वयमेवोक्तवान् । तन्निमित्तं च स्वचेष्टितं नगराकर्षणम् । ॥५३॥

व्याख्यार्थ—यदि आप ही अपनी चेष्टा न कह सुनाते तो 'नन्द व्रजं गत' की तरह भगवान् को कुछ कर्त्तव्य की शङ्का हो जाय, अतः स्वयं कहा, कारण कि अपनी पुरी में पधार गये हैं, पुरी में प्रवेश बिना विचारे ही किया क्योंकि 'हलायुधः' हैं जिससे उनमें विचार का अभाव रहता है, सर्व को जता कर समलङ्कृत नगर में प्रवेश करना चाहिये, अथवा दोनों में मैत्री होने से विचार करना आवश्यक न समझा वा अभाव ही था, नगर में प्रवेश के अनन्तर बान्धवों के पास आकर वा बान्धवों से मिल कर अपना पौरुष बिना पूछे अपने आप ही कहने लगे, सम्मति भी नहीं ली, कौरवों के अहङ्कार नाशार्थ आपने जो नगर का आकर्षण आदि किया वह सर्व कहा ॥५३॥

आभास—तस्य चरित्रस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वमाह **अद्यापीति** ।

आभासार्थ—उनका चरित्र लोक प्रसिद्ध हो गया है यह 'अद्यापि' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—अद्यापि च पुरं ह्येतत्सूचयद्रामविक्रमम् ।
समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायामनु दृश्यते ॥५४॥

श्लोकार्थ—अब भी यह हस्तिनापुर, बलदेवजी के पराक्रम की सूचना कर रहा है जैसा कि दक्षिण की ओर ऊँचा और गङ्गाजी की ओर ढालू मालूम हो रहा है ॥५४॥

सुबोधिनी एतत् हस्तिनपुरम् । **गङ्गायां** गङ्गासमीपे गङ्गामध्य इव वा । तस्य सहजरूपं तन्न भवतीत्याह **सूचयद्रामविक्रममिति** अतो दक्षिणत समुन्नतं कूलस्थानम् । कूलप्रदेश एवोन्नतो भवति, नत्वपरः । इदं तु विपरीतमिति रामपराक्रमस्य सूचकं भवति । इदानीं तु तन्नगरं पतितम्, गङ्गायां पतितमिति ज्ञातव्यम् । 'गजाह्वये हृते नद्या' द्वादशे वक्ष्यति । अतो न दर्शनविरोधः शङ्कनीयः । भागवतकथनसमये तु दृश्यत एव ॥५४॥

व्याख्यार्थ—यह हस्तिनापुर इस समय यों देखने में आता है कि गङ्गा के समीप अथवा मानों गङ्गा के मध्य में है, उसका यह रूप स्वाभाविक नहीं है, तो ऐसा क्यों दीखता है जिसका उत्तर देते हैं कि 'सूचयद्रामविक्रमम्' यों दीखने का कारण यह है कि इससे बलरामजी के पराक्रम को सूचना देकर कह रहा है कि मेरा रूप ऐसा नहीं था किन्तु बलरामजी ने ऐसा किया है, अतः दक्षिण से मेरा भाग उन्नत है, जिससे यों दीखता है कि अब नगर गङ्गाजी में गिरता है ऐसा होना तो विपरीत है कि यह रूप रामजी के पराक्रम का सूचक है, 'गजा ह्वये हृते नद्या' यह द्वादश में कहेंगे अतः देखने में विरोध की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि भागवत के कहने के समय तो यों दीखता ही था ॥५४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ६५वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का पांचवां अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

साम्ब विवाह

राग आसावरी :—

स्याम बलराम गुन सदा गाऊँ ।
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव कौं,
सपनहूँ मैं नहीं सीस नाऊँ ॥
स्याम सुत सांब गयौ हस्तिनापुर तुरत,
लछमना तहँ स्वयंबर रचायौ ।
देखतैं सबनि कैं ताहि बैठारि रथ,
आपने देस कौं पलटि धायौ ॥
करन दुरजोधनादिक लियौ घेरि तिहिं,
करन ढिग आइ बहु बान मारे ।
सांब तिहिं काटि निज बान सधान करि,
तुरँग रथ तासु के सब सँघारे ॥
हन्यौ पुनि सारथी एक ही बान करि,
परचो सो धरनि सब सुधि बिसारी ।
एक इक बान भेज्यौ सकल नृपति पं,
मनौ सब साथ कीन्ही जुहारी ॥

देखि यह फुरति धनि धन्य सबहिनि कियौ,
पुनि करन अस्व रथ के संघारे।
सांब कौं पकरि बैठारि रथ आपनैं,
सुभट सब हस्तिनापुर सिधारे॥
आइ नारद कह्यो तुरत भगवान सौं,
चले भगवान हलधर निवारे॥
कह्यौ मैं जाह कै ल्याइहौं सांब कौं,
कौरवनि सौं सदा हित हमारैं।
प्रीति की रीति समुझाइहौं प्रथम उन,
काज दोउ ओर पूरन सँवारौं॥
जौ न मानैं कह्यौ राज अभिमान करि,
एक ही मूसल सबकौं सँहारौं॥
जाइ बलराम भेंटे सकल कौरवनि,
बहुरि तिन सबनि यह कहि सुनायौ।
सांब सौं चूक जौ भई बालक हुतौ,
तुम्हैं नहिं बूझियै जौ बँधायौ॥
कह्यौ दुरजोधन अति कोप इहि दोष नहिं,
दोष सब लगै पुरषनि हमारैं।
जो इन्हैं कियौ सनमान निज सभा मैं,
बहुरि इहिं ओर हित करि निहारे॥
जाँबवंत सुता सुत कहाँ कहँ मम सुता,
बुद्धिवँत पुरुष यह सब बिचारै।
अरु सदा देत जादव सुता कौरवनि,
कहत अब बात बल बिनु सँभारै॥
कह्यौ बलराम यह सांब सुत स्याम कौ,
रुद्र विधि रेनु जाकी न पावैं।
इन्द्र सुर सकल दरबार ठाढ़े रहैं,
सिद्ध गंधर्व गुन सदा गावैं॥
बहुरि करि कोप हल अग्र पर नग्र धरि,
गंग मैं डारि चाहत डुबायौ।
कौरवनि मिलि बहुत भाँति बिनती करी,
दोष तिनकौ द्विजनि मिलि छमायौ॥
सांब कौं लछमना सहित ल्याये बहुरि,
दियौ दाइज अगन गनि न जाए।
सूर प्रभु राम बल अतुल को तुलि सकै,
करत आनन्द निज पुरी आए॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य–विरचित **सुबोधिनी टीका** (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत–स्कन्धानुसार ६९वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ६६वां अध्याय
उत्तरार्ध २०वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

"षष्ठम अध्याय"

देवर्षि नारदजी का भगवान् की गृहचर्या देखना

कारिका—सात्त्विकानां निरोधे तु मुख्यो नारद ईरितः।
अतस्तस्यापि वक्तव्यं पूर्वबुद्धेर्निवारणम् ॥१॥

भक्तिमार्गानुरोधस्य पृथक्त्वं स्याद्यतः स्फुटम्।
विशे नारददृष्टानां कृष्णानां चरितं महत् ॥२॥

अलौकिकत्वसिद्ध्यर्थं निरोधे विनिरूप्यते।
प्रकीर्णके प्रकरणे न सङ्गतिरिहोच्यते ॥३॥

तथापि साम्बकथने समायातस्तथाकरोत्।
भ्रान्त्यभावाय भगवान् बोधयामास तादृशम् ॥४॥

निरोधस्तेन संसिद्धः सात्त्विकानामतः परम्।

कारिकार्थ—सात्त्विकों का निरोध करना है, उनमें नारद मुख्य है, इसलिए पहले जो संसार में उसकी आसक्त बुद्धि थी, उस बुद्धि को मिटा और उसका वर्णन भी करना चाहिए। स्नेह ही भक्ति है, वह निरोध रूप तब हो, जब प्रपञ्च की विस्मृति होवे, अतः नारद की प्रपञ्च विस्मृति का प्रथम वर्णन करने से ही नारद के निरोध का प्रकट ज्ञान होगा. तात्पर्य यह है कि नारद में प्रथम केवल भक्ति थी, जब प्रपञ्च की विस्मृति हुई, तब निरोध सिद्ध होकर प्रकट देखने में आया। इस उत्तरार्द्ध के अध्याय में नारद ने कृष्ण के अनेक स्वरूप तथा महान् चरित्र देखे। गृहस्थ धर्म भी अलौकिक है, यह समझाने के लिए वा सिद्ध करने के वास्ते निरोध प्रकरण में भगवान् ने नारद को यह लीला दिखाई है। इस प्रकरण में यद्यपि इसकी सङ्गति नहीं कही जाती, तो भी साम्ब हस्तिनापुर में बन्धन में पड़ा है, यह समाचार सुनाने आए हुए नारद को भगवान् ने संशय ग्रस्त देखा; क्योंकि उस समय भगवान् नरकासुर को मार कर षोडश सहस्र स्त्रियाँ ले आए थे और उनसे विवाह किया था, यह जान कर नारद संशय में पड़ गया था कि कृष्ण एक ने इतनी स्त्रियों से विवाह कैसे किया और प्रत्येक को कैसे मिल सकेंगे ? उसका यह संशय भगवान् ने सर्वत्र अपने स्वरूप से लीला करते हुए दर्शन देकर मिटा दिया, जिससे उसका निरोध सिद्ध हो गया, इसके बाद सात्त्विकों का निरोध सिद्ध किया है ॥१–४½॥

आभास—पूर्वाध्याये साम्बवृत्तज्ञापनार्थं समागतो नारदः शास्त्रदृष्ट्या निर्दोषपूर्ण-गुणविग्रहो भगवानिति, लोके च पुत्रं हत्वा तदवरोधात् बह्व्यः स्त्रियः समानीता इति शास्त्रलोकविरोधमाशङ्क्य, तं विरोधं स्वदृष्ट्या साधयन् पश्चादन्यतरनिर्धारं करिष्यन् स्वयं द्रष्टुं प्रवृत्त इत्याह **नरकं निहतं श्रुत्वेति**।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में साम्ब का समाचार सुनाने के लिए नारदजी आए, शास्त्र दृष्टि से भगवान् निर्दोषपूर्ण गुण विग्रह हैं अर्थात् भगवान् में किसी प्रकार दोष नहीं है, नारद ने आकर सुना कि भगवान् नरक को मार कर १६ हजार स्त्रियाँ ले आए हैं और उनसे विवाह भी किया है, यह कार्य लोक में शास्त्र विरुद्ध देख नारद शङ्काशील होने लगा, अतः इस विरोध को अपने आँखों से जाकर देखूँ तो सही यह है क्या ? अनन्तर दूसरा निर्धार करूँगा, यह विचार कर स्वयं भगवान् को देखने को प्रवृत्त हुआ, यह 'नरकं निहतं' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—**श्रीशुक उवाच–नरकं निहतं श्रुत्वा तथोद्वाहं च योषिताम्।**
कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद्दिदृक्षुः स्म नारदः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि नरकासुर को मार, अकेले भगवान् ने बहुत स्त्रियों से विवाह किया है, यह सुनकर उसको देखने के लिए नारदजी आए ॥१॥

सुबोधिनी—केचित्तु इतःप्रभृति सात्त्विक-प्रकरणमाहुः त्रयस्त्रिंशदध्यायैः पूर्व इति च। तत्र नारदः सात्त्विकेषु मुख्य इति स निरूप्य इति। तत्रैवैकादशैकैकादशभिः तेषामवान्तरप्रकरण-व्यवस्था। सात्त्विकास्तु द्विविधा एव सकाम-निष्कामभेदेनेति। तेषां मते दशेन्द्रियाणि अन्तः-करणं च निरुध्यत इति निरोधसिद्धिः। एतन्म-तमवष्टभ्यास्माभिर्निबन्धे निरूपितं लक्ष्मणाहर-णावधीति। एतावता स्त्रियः समाप्ताः। तासु भोगो भगवत्कृतः शास्त्रविरोधान्न मन्तव्य इति प्रामाण्यार्थं नारददृष्टिरनुवर्ण्यते। नारदो हि भग-वदीयशास्त्रेषु अक्लिष्टचरित्राण्येव श्रुत्वानिति नरकवधादिकं न पूर्वं श्रुतवान्। यद्यपि नरक-वधमात्रं पूर्वसिद्धम्, तथापि तदवरोधाद्विवाहः साम्प्रतमेव श्रुत इति स विचारणीयः। इदं चरित्रं न पूर्वं ऋषिभिर्विचारितम्। अतः परं सहस्रेष्वपि चरित्रेषु मीमांसितमेव चरित्रं विचार्यते। अत एव जाता लौकिकदृष्टिर्भगवतै-वाग्रे निवारणीया। यदैव नरको हतः, तदैव तेनैव प्रक्रमेण योषितामुद्वाहश्च श्रुतः। एक-स्मिन् क्षणे नानागारेषु विद्यमानानां एकेन कृष्णेन, तत्र यद्यपि रूपभेदः स्पष्ट एव, 'उरुरूप' इति वाक्यात्। तथा सति अवतारान्तरन्यायेन भिन्नावतारत्वं स्यात्। ततः कृष्णेनैव विवाहिता न भवेयुः। न हि सर्वास्ता देवकीपुत्रवध्वो भवन्ति। तस्यैवानन्तरूपत्वं तु पूर्वावतारेषु न सिद्धमिति वैमर्शः कर्तुमुचितः। वाक्योक्तं तु युक्त्या बाधितुं शक्यते, न तु दृष्टम्। 'न हि दृष्ट अनुपपन्नं नामे'ति। बह्वीनामेकेन कृष्णेन उद्वाहो विचित्रमिति तद्दिदृक्षुर्नारदो जात इत्यर्थः ॥१॥

व्याख्यार्थ—कितनेक यहाँ से सात्विक प्रकरण कहते हैं तेतीस अध्यायों से पूर्व यों है। वहाँ नारद सात्विकों में मुख्य है, यों निरूपण कर दिया है। वहाँ ही पर ११-११ अध्यायों से अवान्तर प्रकरणों की व्यवस्था कही है, क्योंकि सात्विक दो प्रकार के हैं (१) सकाम सात्विक और दूसरे निष्काम सात्विक हैं। उनके मत में दश इन्द्रियां और एक अन्तःकरण का जब निरोध होता है तब निरोध की सिद्धि होती है, इस मत को लेकर हमने निबन्ध में लक्ष्मणा हरण की अवधि पर्यन्त निरूपण किया है, एतावता स्त्रियां समाप्त हुई। उनमें भगवत्कृत भोग शास्त्र से विरुद्ध होने से नहीं मानना चाहिये यों प्रमाण के लिये नारद की दृष्टि से वर्णन किया है, नारद ने भगवदीय शास्त्रों में भगवान् के अक्लिष्ट चरित्र ही सुने हैं। नरक वध आदि चरित्र पहले नहीं सुने हैं, यद्यपि केवल नरक वध पहले ही सिद्ध है तो भी उसके अवरोध से विवाह तो अब ही सुना है, इसलिए वह विचार करने योग्य है। इस प्रकार इस चरित्र का ऋषियों ने पहले विचार नहीं किया है इसके अनन्तर भगवान् के अनेक चरित्रों में से जो चरित्र मीमांसा करने योग्य हैं उसका विचार किया जाता है, अतएव इस चरित्र में से जो लौकिकी दृष्टि उत्पन्न हुई है, उसका निवारण भगवान् ही आगे करेंगे। जब ही नरकासुर मरा तब ही उस ही प्रक्रम से स्त्रियों का विवाह भी सुना, एक ही क्षण में अनेक गृहों में एक कृष्ण का विद्यमान होना यद्यपि वहाँ 'उरुरूप' इस वाक्य से रूप भेद स्पष्ट ही है यदि यों हैं, तो अवतारान्तर न्याय से पृथक् अवातरत्व होना चाहिये, इससे, कृष्ण से ही विवाहित हुई न होनी चाहिये, वे सर्व देवकी के पुत्र की पत्नियां नहीं हो सकती हैं, उसके ही

अनन्त रूपत्व पूर्वावतारों में सिद्ध नहीं हुआ है, इसलिये इस पर विचार करना उचित ही है, वाणी से कहे हुए को तो युक्ति से बाध किया जा सकता है किन्तु प्रत्यक्ष देखे हुए का बाध नहीं हो सकता है देखे हुए में कुछ अनुपपन्न (अनुचित) नहीं है, बहुत स्त्रियों का एक कृष्ण से विवाह होना विचित्र चरित्र है इसलिये उसको देखने की इच्छा से नारद जी वहाँ आये ।।१।।

आभास—ननु भगवच्चरित्रे किमिदमाश्चर्यम्, यतो नारदस्यापि दिदृक्षेत्याशङ्क्य, वैचित्र्यमुपपादयति **चित्रमिति** ।

आभासार्थ—भगवान् के चरित्र में यह आश्चर्य कैसे ? जिससे नारद को देखने की इच्छा हुई यह शङ्का कर इसकी विचित्रता 'चित्रं बत' श्लोक से प्रतिपादन करते हैं—

श्लोक—**चित्रं बत तदैकेन वपुषा युगपत्पृथक् ।**
गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ।।२।।

श्लोकार्थ—यह बड़ी आश्चर्य की बात है कि जो अकेले भगवान् ने एक शरीर से एक साथ अलग-२ घरों में सोलह हजार स्त्रियों का पाणिग्रहण किया ।।२।।

सुबोधिनी—**बत** इति हर्षे । **तदा** सर्वत्रैव स्थिता भक्ता भगवता अनुग्राह्या इति न क्वापि गमनक्लेश इति । **एकेन वपुषेति** । वपुषो ब्रह्मवदचिन्त्यैश्वर्य न शास्त्रसिद्धम् । वपुर्भेदे तु कृष्णपत्नीत्वं तासु न स्यात् । अतो वपुषो ब्रह्मधर्मत्वं वा अवपुष्ट्वं वा कल्पनीयं स्यात् । तत्रावपुष्ट्वे लौकिकधर्मसम्बन्धो न युक्तः । ब्रह्मधर्मत्वे तु वैलक्षण्यमावश्यकम् । ब्रह्मणोऽप्येकत्र यो धर्मः, स नान्यत्रेति । लोके तथा दर्शनात् । नारदश्च सूक्ष्मदर्शी । तत उभयमपि अनुपपन्नमिति चित्रम् । युगपदेकस्मिन् काले एकेन वपुषा करणेन पृथक् पृथक् गृहेषु स्थिताः द्व्यष्टसहस्रसङ्ख्या व्याप्ताः । कलानामिवानन्त्यपक्षेऽपि ध्रुवाया नानन्त्यमिति षोडशसहस्रे भवत्येव वैचित्र्यम् । **स्त्रिय** इति तासां योगजधर्मो निवारितः, येनैकत्र जातो दृश्येत । आकाशवत्परिच्छेदभेदेन मायावदयथात्वेन वा विवाहपक्षं व्यावर्तयति एक इति । उद्वाहश्च यावदवतारं परिपालनीय इति न प्रदर्शनमात्रपरत्वम् ।।२।।

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'बत' पद यहाँ हर्ष वाचक है, तब सब स्थान पर स्थित भक्तों पर भगवान् स्वतः स्वयं अनुग्रह करते हैं, इसलिये कहीं भी जाने का क्लेश नहीं, 'एक शरीर से' इसकी व्याख्या करते हुए विचार विमर्श करते हैं 'शरीर' है इसलिये इसमें ब्रह्म के समान अचिन्त्य ऐश्वर्य मान लेना शास्त्र से सिद्ध नहीं है, यदि शरीर में भेद माना जाय तो उन सर्व स्त्रियों में कृष्ण पत्नित्व पन सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः शरीर में ब्रह्म धर्म पन अथवा ब्रह्मत्व की कल्पना करनी चाहिये, यदि ब्रह्मत्व माना जाय तो लौकिक धर्म से सम्बन्ध उचित नहीं है । ब्रह्म धर्मत्व मानने से विलक्षणता आवश्यक है, ब्रह्म का भी जो धर्म एक स्थान पर है, वह दूसरे स्थान पर नहीं है, लोक में इस प्रकार देखने में आता है, नारद तो सूक्ष्मदर्शी हैं, इससे दोनों उचित नहीं है, इसलिये आश्चर्य

है । एक ही काल में साधन रूप एक ही शरीर से भिन्न-भिन्न गृहों में १६ हजारों में व्याप्त हैं, आनन्त्य पक्ष में भी ध्रुवा का आनन्त्य नहीं होता है इसलिये सोलह हजारों में विचित्रता होती ही है, 'स्त्रियः' शब्द देकर उनका योगज धर्म का निवारण किया जिससे एक स्थान पर प्रकट हुआ देखने में आवे, आकाश की तरह परिच्छेद भेद से माया की तरह असत् पन से विवाह पक्ष को एक पद से असिद्ध करता है और विवाह जब तक अवतार है तब तक विवाहिताओं का पूर्ण रीति से पालन करना चाहिये, इसलिये यह विवाह केवल दिखावा नहीं है ।।२।।

आभास—अतो हेतोरुत्सुको जात इत्याह **इत्युत्सुको द्वारवतीमिति** ।

आभासार्थ—इस कारण से नारदजी को इस लीला के देखने की लालसा उत्पन्न हुई, तदर्थ द्वारका आये जिसका वर्णन 'इत्युत्सुको' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—**इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् ।**
पुष्पितोपवनारामद्विजालिकुलनादिताम् ।।३।।

श्लोकार्थ—इस प्रकार उत्सुक हो नारदजी द्वारका आए, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जहाँ फुलवाड़ी और आरामों में पक्षी तथा भौंरों के झुण्ड नाद कर रहे हैं ।।३।।

सुबोधिनी—स हि देवगुह्यमपि जानाति । अतो देवर्षिः देवानामपि मन्त्रद्रष्टा । अयं हि गुप्तार्थोपदेष्टा । अतो द्रष्टुमागमत् । नारदस्य द्वारकायां लौकिकबुद्धिसिद्ध्यर्थं तां वर्णयति **पुष्पितोपवनामिति** सार्धैस्त्रिभिः । पुष्पितान्युपवनानि तेषु ये आरामाः क्रीडास्थानानि तेषु द्विजानामलीनां च यानि कुलानि अवान्तरजातिभेदाः। तैर्नादितां तच्छब्दप्रचुरामिति सहजो मधुरः शब्दस्तत्रत्यो निरूपितः ।।३।।

व्याख्यार्थ—वे नारदजी देवों की गुप्त बातें भी जानते हैं, इस कारण से देवों में भी ऋषि[1] होने से, देवर्षि कहे जाते हैं, क्योंकि ये गुप्त अर्थों का उपदेश करने वाले हैं अतः देखने के लिये आये हैं । नारदजी की द्वारका में लौकिक बुद्धि सिद्ध करने के लिये द्वारका का साढ़े तीन श्लोकों से वर्णन इस तरह करते हैं कि जहाँ फुलवाड़ियों में जो आराम अर्थात् क्रीड़ा के स्थान थे, उनमें अनेक प्रकार के पक्षी तथा भौंरे प्रचुर मधुर गुञ्जार कर रहे हैं ।।३।।

आभास—द्वारका वनजलस्थलरूपा त्रिविधा भवति, तत्र वनरूपा निरूपिता, जलरूपां निरूपयति **उत्फुल्लेति** ।

१—मन्त्र द्रष्टा को ऋषि कहते हैं

आभासार्थ—द्वारका वन, जल और स्थल रूप से तीन प्रकार की है जिसमें वनरूपा का वर्णन किया अब जल रूपा का 'उत्फुल्लेन्दु' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—**उत्फुल्लेन्दीवराम्भोजकल्हारकुमुदोत्पलैः ।**
छुरितेषु सरस्सूच्चैः कूजितां हंससारसैः ॥४॥

श्लोकार्थ—फूले हुए इन्दीवर, अम्भोज, कल्हार, कुमुद और उत्पलों से व्याप्त सरोवरों में हँस और सारस पक्षी ऊँचे स्वर से कूज रहे हैं ॥४॥

सुबोधिनी—उत्फुल्लानीन्दीवरादीनि यानि पञ्चविधानि पुष्पाणि तैश्छुरितेषु व्याप्तेषु सरस्सु | हंसैः सारसैः तत्र कूजद्भिर्जुष्टामित्यग्रेण सम्बन्धः ॥४॥

व्याख्यार्थ—इन्दीवर आदि पाञ्च प्रकार के पुष्पों से व्याप्त सरोवरों में मधुर शब्द करने वाले हंस और सारसों से (वह नगरी) शोभायमान थीं ॥४॥

आभास—भूमिरूपां वर्णयति **प्रासादलक्षैरिति** ।

आभासार्थ—'प्रासादलक्षैः श्लोक से भूमि रूपा द्वारका का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**प्रासादलक्षैर्नवभिर्जुष्टां स्फाटिकराजतैः ।**
महामरकतप्रख्यैः स्वर्णरत्नपरिच्छदैः ॥५॥

श्लोकार्थ—स्फटिक मणि और चाँदी के बने हुए घर थे, जिनमें अमूल्य मरकत मणियाँ जगमगा रही थीं और रत्नों से जड़ित अन्य वस्तुएँ रखी हुई थीं, जिनसे वे नव लक्ष गृह शोभित थे ॥५॥

सुबोधिनी—नवलक्षप्रासादाः महतां गृहाः । स्फटिकमयाः रजतमयाश्च भित्तिस्तम्भभेदेन । राजताः स्तम्भाः महामरकतनिर्मिता भूः तया प्रख्याः प्रसिद्धाः प्रासादाः । स्वर्णरत्नमयानि परिच्छदानि येषु । यथा गृहे दारुमयानि, तथा स्वर्णमयानि, यथा शिलामयानि, तथा रत्नानि । गृहोपकरणान्यपि परिच्छदानीत्युच्यन्ते । तथाप्यनवसरत्वान्न तानि ग्राह्याणि ॥५॥

व्याख्यार्थ—जिस द्वारका में महान् पुरुषों के नव लाख घर थे, जिन घरों के स्तम्भ तथा भित्तियां (भींते) स्फटिक मणि एवं चान्दी से बनी हुई थी । चान्दी के स्तम्भ थे महा मरकत मणि से पृथ्वी जड़ी हुई थी, इस प्रकार से बने हुए महल प्रसिद्ध थे जैसे साधारण गृहों में काष्ठ (लकड़ी) के छज्जे होते हैं वैसे यहां रत्नों से बनाये हुए छज्जे थे परिच्छद शब्द से गृह के पात्र आदि भी कहे हैं अर्थात् वे उपकरण भी सोने के बने हुए तथा रत्नों से जड़ित थे, तो भी अवसर ही न मिलता जो उन उपकरणों को काम में लाया जावे अर्थात् अनेक प्रकार के अनन्त उपकरण थे ॥५॥

आभास—एवं पुरीं बहिर्वर्णयित्वा अन्तस्तां वर्णयति **विभक्तेति** ।

आभासार्थ—इस प्रकार पुरी के बाहर भाग का वर्णन कर भीतर का वर्णन करते हैं—

श्लोक—**विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः ।**
संसिक्तमार्गाङ्गणवीथिदेहलीं पतत्पताकाध्वजवारितातपाम् ॥६॥

श्लोकार्थ—जिस नगरी की गलियाँ संकीर्ण (सँकड़ी) नहीं थीं, अलग-२ थीं और राज मार्ग विशाल थे, वैसे चौहट्टे, दुकानों, शालाओं और सभाओं से तथा देव मन्दिरों से शोभायमान थे एवं सर्वत्र मार्ग, मैदान, गलियाँ और दहेलियों में छिरकाव हो गया था व उड़ती हुई ध्वजाओं और पताकाओं से धूप देखने में नहीं आती थी ॥६॥

सुबोधिनी—विभक्ताः पृथक् पृथक् कृता रथ्यादयः, न तु सङ्कीर्णाः रथ्या राजमार्गाः पन्थानः । चत्वरमङ्गणम् । आपणः पण्यवीथिका । गतिस्थानान्येतानि । स्थितिस्थानान्याह । **शाला** अन्नादिभोजनस्थानानि । **सभा** उपवेशनस्थानानि । ताभिः रुचिराम् । ऐहिकार्थद्वयमेव । पारलौकिकार्थमाह **सुरालयैश्च रुचिरामिति** । नैमित्तिकातिशयमाह **संसिक्तेति** । सम्यक् सिक्ताः मार्गादिदेहल्यन्ता यस्याम् । उपरिशोभामाह । पतत्पताकाध्वजैः वारितः आतपो यस्यामिति ॥६॥

व्याख्यार्थ—द्वारका की गलियां और राज-मार्ग अलग अलग बड़े बड़े थे सङ्कीर्ण नहीं थे जिससे आने जाने में किसी प्रकार घबराहट नहीं होती थी, अतः रथ, अश्व आदि और पैदल चलने वाले सरलता से निर्भय होकर आवागमन करते थे, मैदान, बाजार ये सब आने जाने के मार्ग वैसे स्वच्छ तथा बड़े थे । ठहरने के स्थानों को बताते हैं, 'शाला' अन्न आदि भोजन के स्थान 'सभा' बैठने के स्थान वे भी सुन्दर बने हुए थे जिससे नगरी सुन्दर दीखती थी, ये दो तो ऐहिकार्थ हैं, अब पारलौकिक के लिये कहते हैं कि देव मंदिरों से मनोहर थी, निमित्त से उसकी विशेषता का वर्णन करते हैं कि जिसमें मार्गों पर देहली तथा सर्वत्र छिरकान से स्निग्धता एवं ठडंक दृष्टिगोचर होती थी, ऊपर की शोभा का वर्णन करते हैं उड़ती हुई ध्वजा तथा पताकाओं ने धूप को हटा दिया है ॥६॥

आभास—सामान्यतो नगरीं वर्णयित्वा विशेषतो भगवद्गृहं वर्णयति, नारददृष्टम् ।

आभासार्थ—नगरी का सामान्य प्रकार से वर्णन कर अब नारद ने जो भगवद्गृह की विशेषता देखी जिसका 'तस्यामन्तःपुरं' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—**तस्यामन्तःपुरं श्रीमदर्चितं सर्वधिष्ण्यपैः ।**
हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्ट्रा कार्त्स्न्येन दर्शितम् ॥७॥